श्रीसहस्रिका

(श्री ललिता सहस्रनाम का विवेचन)

डा॰ पांडुरंगराव

श्रीसहस्रिका

(श्री ललिता सहस्रनाम का विवेचन)

डा० पांडुरंगराव

श्रीसहस्रिका

(ब्रह्मांड पुराण में हयग्रीव और अगस्त्य के संवाद के रूप में प्रकीर्तित श्री ललिता सहस्रनाम का विवेचन)

प्रथम संस्करण : महानवमी, 1985
प्रतियां : 1000
मूल्य : बीस रुपये

© डा० इलपावुलूरि पांडरंग राव

प्राप्ति स्थान :

"अक्षर भारती"
D-II/B-47, मोतीबाग,
नई दिल्ली - 110021.

आभार

इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए श्री तिरुमल तिरुपति देवस्थानम् ने आध्यात्मिक रचनाओं को प्रोत्साहन देने की अपनी योजना के अन्तर्गत आंशिक रूप से आर्थिक अनुदान दिया है। इसके लिए लेखक आभारी है।

मुद्रक : ब्रह्मा प्रिंटिंग प्रेस, 1232, चौक शाह मुबारक,
बाजार सीताराम, दिल्ली - 110006.

॥ श्रीः ॥

॥ श्रीमात्रे नमः ॥

अरुणां करुणातरंगिताक्षीं धृत-पाश-कुश-पुष्पबाण-चापाम् ।
अणिमादिभिरावृतां मयूखैः अहमित्येव विभावये भवानीम् ॥

अनंत श्री विभूषित श्री मज्जयेन्द्र सरस्वती के साथ लेखक

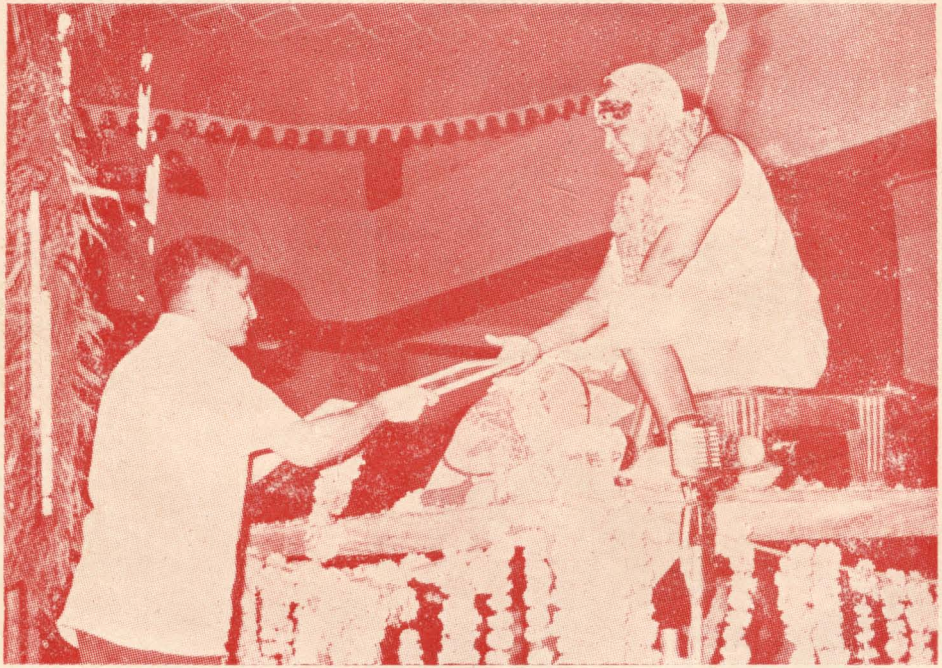

समर्पण के स्मरणीय क्षणों में

॥ श्रीः ॥

॥ श्री चन्द्रमौलीश्वर ॥

श्रीमुखम्

अनंतश्रीविभूषित

श्री कांची कामकोटि पीठाधीश श्रीमज्जयेन्द्र सरस्वती

स्वस्तिश्रीमदखिल भूमंडलालंकार त्रयस्त्रिंशत् कोटि देवता सेवित श्री कामाक्षी देवी सनाथ श्रीमदेकाम्रनाथ श्रीमहादेवी सनाथ श्री हस्तिगिरिनाथ साक्षात्कार परमाधिष्ठान सत्य व्रत नामांकित कांची दिव्य क्षेत्रे शारदामठ सुस्थितानाम् अतुलित सुधा रस माधुर्य कमलासन कामिनी धम्मिल्ल सम्फुल्ल मल्लिका मालिका निष्यंद मकरंद झरी सौवस्तिक वाङ्निगुम्भ विजृम्भणानन्द तुन्दिलित मनीषि मण्डलानाम् अनवरताद्वैत विद्या विनोद रसिकानाम् निरंतरालंकृतीकृतशांति दांति भूम्नाम् सकल भुवन चक्र प्रतिष्ठापक श्रीचक्र प्रतिष्ठा विख्यातयशोऽलंकृतानाम् निखिल पाषाण्ड षण्ड कण्डकोत्पाटनेन विशदीकृत वेद वेदांत मार्ग षण्मत प्रतिष्ठापकाचार्याणां श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य वर्य श्री जगद्गुरु श्रीमच्छंकर भगवत्पादाचार्याणाम् अधिष्ठाने सिंहासनाभिषिक्त श्रीमन्महादेवेन्द्र सरस्वती संयमीन्द्राणाम् अंतेवासि वर्य श्रीमच्चंद्रशेखरेन्द्र सरस्वती श्रीपादादेशानुसारेण श्रीमज्जयेन्द्र सरस्वती श्रीपादैः क्रियते नारायण स्मृतिः ।

सकल प्रशस्त विद्यासु शीर्ष स्थाने प्रतिष्ठिता श्री विद्या ब्रह्मांड पुराणे रहस्य नाम साहस्रकेन संप्रकीर्तिता अस्ति । "मोक्षैक हेतु विद्या तु श्रीविद्यैव न संशयः"—इत्यादिभिः सूक्तिभिः श्रीविद्यायाः प्राशस्त्यं प्रसिद्धम् । श्रीविद्याधिदेवता श्री ललितांबिका नाम सहस्रैः अस्मिन् स्तोत्रे संस्तुता । "सौभाग्य भास्करम्", "वरिवश्या रहस्यम्", "सेतु

बंधम्" इत्यादिभिः अस्य स्तोत्रस्य रहस्यं बहुधा बहुजनेभ्यः प्रकाशितम् । देशभाषास्वपि लब्ध प्रतिष्ठ विद्वद्भिः एतादृश भाष्यानि यदा कदा विरचितानि, प्रचुरितानि च । परं भारतानां उत्तरदिग्भागे अस्य स्तोत्रस्य यथेष्ट प्रसारो न दृश्यते । हिंदी भाषायां "श्री सहस्रिका" इति नाम्ना विरचितं अयं ग्रंथः हिंदी भाषावित्सु प्रचारणे इदानीं संप्रवृत्तः ।

अस्य ग्रंथस्य रचयिता श्री इलपावुलूरि पांडुरंग महाशयः इतः पूर्वं श्री कामाक्षी विलासादि काव्य प्रणयने सिद्ध हस्तः सन्निधाने "कवि-रत्नम्" इति बिरूदेन सम्मानितः । सरल पदयुक्तम् सुबोधम् इदम् भाष्यम् सुजन मनोरंजकं ज्ञानवर्द्धकं च भविष्यति इत्याशास्महे ।

एतद् ग्रंथ साहाय्येन हिंदी भाषा परिचयवंतः श्री ललितांबिका महिमानं विज्ञाय एतद् देव्यां भक्ति सक्ताः सर्वाण्यपि मंगलान्यवा प्नुरिति, एतद् ग्रंथकर्ता श्री पांडुरंग राव महोदयश्च उपर्युपरि एवंविध सद्ग्रंथान् रचयन् सर्वाभ्युदय निःश्रेयस परंपरा प्राप्नुयादितिचाऽशास्महे ।

कांचीपुरम् नारायण स्मृतिः

1.7.1984

प्रस्तुति

श्रीमाता समस्त संसार की माता है, सब की माता है, माताओं की माता है और सबसे बड़ी माता है। संसार की सृष्टि, स्थिति और लय को संचालित करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को प्रकार्यात्मक प्रेरणा प्रदान करने वाली सरस्वती, लक्ष्मी और महेश्वरी को आधारभूत मूलशक्ति आदिशक्ति श्रीमाता से ही मिलती है। यही सच्चे अर्थों में विश्वमाता या जगज्जननी हैं। इन्हीं को हम दुर्गा, काली, चंडी आदि प्रसन्न नामावली से परिभाषित कर कभी-कभी जीवन की विभीषिकाओं से अपने को सुरक्षित रखने का प्रयास करते हैं और कभी-कभी करुणा-मयी देवी की कोमल कांत कमनीयता को कामाक्षी, मीनाक्षी, विशालाक्षी आदि क्षेत्रस्वरूपिणी पवित्र मूर्तियों में प्रतिभासित पाकर अपने निमीलित नेत्रों का उन्मीलन कर लेते हैं। यही करूणांतरंगिणी कभी राजराजेश्वरी के रूप में अपनी राजत्कृपा से अगजग को अनुगृहीत करती हैं तो कभी भवानी बनकर भवबाधाओं को निवारित करती हैं। वही बाला बनकर भक्तों का मन बहलाती हैं और वही परमेश्वरी बनकर परमार्थ के पथ पर चलने वाले परम तत्त्व के जिज्ञासुओं को परमानंद के प्रासाद तक पहुंचा देती हैं। माता की इस मंगलमय महिमा को ब्रह्मांड पुराण की पद-निधि ने केवल तीन अक्षरों में 'ललिता' कहकर त्र्यक्षरी का सार बताने का प्रयास किया है और साथ ही उसी अक्षर भारती की तरुणारुण दीप्ति से अग-जग को आलोकित भी कर दिया है।

हमारे यहां के स्तोत्र साहित्य में सहस्रनाम की एक प्रशस्त परंपरा है जिसके अंतर्गत श्री ललिता सहस्रनाम का एक विशिष्ट महत्त्व है। ब्रह्मांड पुराण में श्री ललितोपाख्यान के परिशिष्ट के रूप में प्रस्तावित यह सहस्रनाम केवल स्तोत्र नहीं है, बल्कि श्रीमाता, श्रीविद्या और

श्रीचक्र का रहस्यात्मक वर्णन करने वाला शास्त्र भी है। इसकी प्रतिपाद्य विषय वस्तु जितनी सांकेतिक और रहस्यात्मक है, प्रतिपादन की शैली उतनी ही हृदयंगम और रसात्मक है। इसीलिए केवल श्रीविद्या के उपासकों में ही नहीं, बल्कि साधारण भक्त समाज में भी यह अत्यंत लोकप्रिय है। विशेषकर दक्षिण भारत में देवी के सभी मन्दिरों में मां ललिता के हज़ार नामों के सस्वर वाचन से देवी की अर्चना की जाती है। प्रत्येक आस्तिक परिवार में हर शुक्रवार को इस सहस्रनाम का पाठ किया जाता है। दक्षिण भारत की अनेक महिलाओं को यह कंठस्थ है।

किन्तु यह देख कर आश्चर्य होता है कि इतना प्रशस्त स्तोत्र उत्तर भारत में उतना लोकप्रिय नहीं हुआ, जितना दक्षिण में है। इसी कमी की पूर्ति के लिए श्री ललिता सहस्रनाम का यह विश्लेषणात्मक विवेचन "श्री सहस्रिका" क नाम से हिन्दी के सुधी पाठकों के सामने प्रस्तुत है। यह विवेचन विश्व अध्यात्म समाज की मासिक मुख पत्रिका "विश्वात्मा" के चालीस अंकों में धारावाहिक रूप मे पहले प्रकाशित हो चुका है। उसी लेख माला का यह पुस्तकाकार है। "विश्वात्मा" के विज्ञ पाठकों के अनुरोध पर इसे पुस्तकाकार में प्रकाशित करने का यह प्रयास किया गया है। इससे पहले श्री विष्णु सहस्रनाम पर भी इसी प्रकार की एक लेख माला "विश्वात्मा" में लगभग तीन वर्ष तक "सहस्रधारा" के नाम से प्रकाशित हुई थी जिसको विश्व अध्यात्म समाज ने बाद में पुस्तकाकार में छापा था। इसी शृंखला की दूसरी कडी है—यह "श्रीसहस्रिका"।

"श्रीसहस्रिका" की लेख माला जब "विश्वात्मा" में पूरी छप चुकी थी तो मैं अपनी पांडुलिपि लेकर श्री कामकोटि पीठाधीश जगद्गुरु शंकराचार्य श्री जयेन्द्र सरस्वती महाराज के आशीर्वाद लेने श्री कामाक्षी-धाम कांची पहुंचा तो बड़ी प्रसन्न मुखमुद्रा में जगद्गुरु ने अपने अमृत हस्त से पांडुलिपि के पन्ने पलटते हुए कहा कि यह प्रयास हिन्दी जगत् के लिए अमोघ वरदान सिद्ध होगा। यही बात उन्होंने अपने "श्रीमुख" में भी

अभिव्यक्त की । इससे न केवल लेखक को बल्कि विशाल पाठक समाज को भी उन्होंने अपने अमोघ आशीर्वाद से अनुगृहीत किया है । अनन्त श्री विभूषित श्री जयेन्द्र सरस्वती महाराज की इस परम कारुणिक अनुकंपा के लिए मैं उनके श्री चरणों में नतमस्तक हूं ।

मेरे इस विनम्र प्रयास के बारे में जगद्गुरु ने आशीर्वाद के रूप में अपने "श्रीमुख" में जो कुछ कहा है, उसके अलावा मुझे और कुछ नहीं कहना है । केवल इतना ही निवेदन करना चाहता हूं कि इस प्रयास में मेरी ओर से यदि कोई त्रुटि हुई हो तो उसको जगद्गुरु के आशीर्वाद और परमेश्वरी की अनुकम्पा से परिमार्जित समझकर सहृदय पाठक इस के संग्रहणीय तत्त्व को स्वीकार करें ।

बल्लारपुर इंडस्ट्रीज़ लिमिटेड का मैं आभारी हूं जिन्होंने इस प्रकाशन के लिए आवश्यक कागज़ निःशुल्क देकर प्रकाशन को सुकर बनाया है । मैं अपने मित्र श्री जी. के. राजगोपालन तथा श्री नरसिंह-राव का भी आभारी हूं जिनका मुझे इस काम में वाक्सारथ्य मिला है।

पांडुलिपि के टंकण तथा मुद्रित प्रति के संशोधन में बेटी "कुसुम" ने जो निष्ठापूर्वक सहयोग दिया है, उसके लिए वह परम प्रेमरूपा परमेश्वरी की कृपा की सहज अधिकारिणी बन गई है ।

अंत में भगवत्पाद की भावुक भावलहरी को ही दुहराते हुए अपनी मां श्री ललिता परमेश्वरी से केवल इतना कहना मैं पर्याप्त समझता हूं कि तुम्हारी ही दी हुई यह वाणी अब तुम्हारी ही आराधना में समर्पित है ।

"त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिरियम्"

नई दिल्ली
महानवमी
1985

"पांडुरंग"

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ		पृष्ठ
1. प्रस्तावना	1	21. अप्रमेया स्वप्रकाशा	195
2. श्रीमाता श्रीमहाराज्ञी	13	22. तत्त्वासना तत्त्वमयी	206
3. महालावण्य शेवधिः	20	23. नंदिनी विघ्ननाशिनी	215
4. कामाक्षी कामदायिनी	32	24. सिद्धमाता यशस्विनी	223
5. शक्ति विक्रमहर्षिता	40	25. समस्त भक्त सुखदा	232
6. शस्त्र प्रत्यस्त्र वर्षिणी	48	26. पुण्यकीर्तिः पुण्यलभ्या	243
7. कौलिनी कुलयोगिनी	57	27. कात्यायनी कालहंत्री	252
8. बिस तंतु तनीयसी	68	28. पराशक्तिः परानिष्ठा	262
9. भवानी भावना गम्या	79	29. आत्मविद्या महाविद्या	272
10. नित्यशुद्धा नित्य बुद्धा	90	30. कलात्मिका कलानाथा	283
11. दुर्लभा दुर्गमा दुर्गा	99	31. त्रिपुरा त्रिजगद्वंद्या	292
12. सर्वेश्वरी सर्वमयी	108	32. योगिनी योगदा योग्या	303
13. पार्वती पद्मनयना	119	33. लोकयात्राविधायिनी	311
14. सहस्राक्षी सहस्रपात्	130	34. स्वतंत्रा सर्वतंत्रेशी	320
15. नारायणी नादरूपा	139	35. प्रेमरूपा प्रियंकरी	330
16. कल्याणी जगती कंदा	149	36. प्राणदा प्राणरूपिणी	340
17. क्षेत्रस्वरूपा क्षेत्रेशी	157	37. गंभीरा गगनांतस्था	350
18. भक्त मानस हंसिका	167	38. स्वात्मारामा सुधासृतिः	360
19. रहस्तर्पण तर्पिता	176	39. पंचमी पंचभूतेशी	371
20. श्रीकंठार्द्ध शरीरिणी	186	40. श्री शिवा शिव शक्त्यैक्य रूपिणी ललितांबिका	381

श्री : ॐ : श्री

श्री ललिता सहस्रनाम का विवेचन

प्रस्तावना

उपासना के चार अंग होते हैं — अर्चना, स्तुति, जप और ध्यान। प्रत्येक प्राणी के नश्वर शरीर के भीतर अविनश्वर रूप में प्रतिष्ठित परम तत्त्व के पास पहुंचना, बैठना और उस सान्निध्य की भावना में तल्लीन होना ही उपासना है। "उप" समीप का बोधक है जिससे स्पष्ट होता है कि जिस परमार्थ या परम सत्य की हम खोज करते हैं, वह हमसे कहीं दूर नहीं है, हमारे पास है, हमारे शरीर के अंदर ही बसा हुआ है। पर असत्य के आवरण से वह सत्य छिपा हुआ है, इसलिए वह सब को स्पष्ट नहीं दिखाई देता। बाहर का आवरण भीतर की वस्तु से अधिक आकर्षक होने के कारण अधिकांश प्राणी बाहर की चमक से ही चमत्कृत हो जाते हैं, भीतर के वास्तविक सौंदर्य, रहस्य और आनंद तक पहुंच नहीं पाते। साधक को वहां तक पहुंचाने में उपासना के ये चार अंग सहायक होते हैं।

इन में सब से पहला अंग—अर्चना - शारीरिक क्रिया से संबंधित है। परम रमणीय चैतन्य की साकार मूर्ति बनाकर उस की पूजा करना अर्चना है,। अर्चना के अंतर्गत आवाहन, आसन, अर्घ्य, पाद्य पत्र-पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, तांबूल, आरती आदि सोलह क्रियाएं होती हैं जिन को 'षोडशोपचार" कहा जाता है। उपासना का दूसरा अंग स्तुति है जिसमें परमात्मा की दिव्य विभूति का गुणगान किया जाता है। अर्चना कायिक उपासना है जब कि स्तुति वाचिक है। इसकेलिए मूर्ति, पूजा सामग्री, आसन, मंदिर आदि

बाहरी साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती है। केवल वाणी के माध्यम से इसे संपन्न किया जा सकता है। कहीं भी हों, कैसे भी हों, परमात्मा की स्तुति करने में कोई कठिनाई नहीं होती। परमात्मा का नाम लेने से अपवित्र भी पवित्र बन जाता है जीवन का प्रत्येक क्षण इसके लिए उपयुक्त है और प्रत्येक जीवधारी इस का अधिकारी है।

उपासना का तीसरा अंग जप-मानसिक है और चौथा अंग-ध्यान-मन से भी परे बुद्धि से संबंधित है। ये दोनों स्थूल दृष्टि से देखने पर आसान मालूम पडते हैं, पर व्यवहार में ये केवल उन्हीं लोगों के लिए साध्य हैं जिन्होंने काफी साधना के बल पर मन को काबू में रखा है और जिन का मन उन की बुद्धि के अनुसार चलता है, न कि इंद्रियों के इशारे पर। जो इस अवस्था तक नहीं पहुंचे हैं और जिनको काफी रास्ता तय करना है, उन के लिए अर्चना और स्तुति के सरल और सुगम मार्ग बताए गए हैं और इन दोनों में स्तुति का रास्ता बहुत ही आसान और सीधा है। मन, वाणी और कर्म मानव के तीन प्रमुख साधन हैं जिनको "त्रिकरण" कहा जाता है। इन तीनों में वाणी कर्म और मन के बीच की कडी है जो सत्कर्म की साधना से मन को पावन बना देती है। इसलिए उपासना के कायिक अंग-'अर्चना' ओर मानसिक अंग-'जप' ओर बौद्धिक अंग-'ध्यान' की अपेक्षा यह वाचिक अंग-'स्तुति' सब के लिए सुलभ और सुसाध्य है।

परमात्मा की स्तुति कई रूपों में की जा सकती है। इसके लिए सारा वैदिक साहित्य वाङ्मय आधार प्रदान करता है। लेकिन वैदिक मंत्रों का उच्चारण सब के लिए संभव नहीं हैं। इसलिए पुराणों में और इतिहासों में अनेक प्रकार के स्तोत्र मिलते हैं जिनका पाठ सभी लोग कर सकते हैं। वैदिक मंत्रों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित के जो नियम हैं, उन से ये स्तोत्र स्वतंत्र हैं। केवल अर्थ समझकर आसानी से इन स्तोत्रों का पाठ किया

जा सकता है। आदित्य हृदय, गजेंद्र-मोक्ष, नारायण कवच, आपदुद्धारक स्तोत्र आदि अनेक स्तोत्र रामायण, महाभारत, श्रीमद् भागवत तथा अन्य पुराणों में पाए जाते हैं। इन स्तोत्रों की एक और विशेषता यह है कि इन में साकार और निराकार दोनों रूपों में परमात्मा का गुणगान किया जाता है। इसलिए सगुणोपासक और निर्गुणोपासक दोनों के लिए ये स्वीकार्य और आराध्य हो जाते हैं।

इसी स्तोत्र-साहित्य के अंतर्गत सहस्रनाम की एक विशिष्ट परपरा भी चल पड़ी है। अद्वैत मत के प्रवर्तक आदि शंकराचार्य सहस्रनाम की महिमा का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं 'गेयं गीता नाम सहस्रम्''। उन की दृष्टि में गीता का अध्ययन और सहस्रनाम का पाठ संसार में प्रत्येक साधक का परम कर्तव्य है। गीता से उन का आशय श्रीमद्भगवद्गीता से है और सहस्रनाम से श्री विष्णु सहस्रनाम का ही बोध होता है क्योंकि इन दोनों पर आचार्य जी ने भाष्य लिखे थे। यह भी ध्यान देने की बात है कि ये दोनों पंचम वेद के रूप में प्रसिद्ध महाभारत के अंग हैं। गीता का प्रसंग महाभारत के युद्ध से पहले आता है और सहस्रनाम का युद्ध के बाद। गीता प्रेरणादायक है जब कि सहस्रनाम शांति संधायक है। महाभारत में विष्णु सहस्रनाम के साथ-साथ शिवसहस्रनाम भी मिलता है। सहस्रनाम के नाम से प्रसिद्ध इन स्तोत्रों का साधक समाज में इतना प्रचार हो गया कि इन के सादृश्य पर प्रत्येक देवी देवता के अलग अलग सहस्रनाम लिखे गए। सूर्य सहस्रनाम, गणेश सहस्रनाम, गायत्री सहस्रनाम, गोपाल सहस्रनाम, लक्ष्मी सहस्रनाम, दुर्गा सहस्रनाम आदि कई स्तोत्र बन गए। प्रत्येक आराधक को अपने आराध्य की आराधना करने में इससे सुविधा मिल गई। जैन धर्म में भी सहस्रनाम की यह परंपरा खूब चल पडी। जैन मुनियों ने अनेक सहस्रनामों की रचना की जो साधकों को काफी वाचिक प्रेरणा प्रदान करते हैं। सहस्रनाम की यह परंपरा परवर्ती पौराणिक साहित्य में भी व्याप्त है। इसी परंपरा के अंतर्गत ब्रह्मांड पुराण में माँ ललिता के लालित्य, लावण्य और लीला विलास का वर्णन करनेवाला

एक सहस्रनाम मिलता है जो'श्री ललिता सहस्रनाम'के रूप में साधक समाज में, विशेषकर दक्षिण भारत में, अत्यंत प्रसिद्ध और लोकप्रिय है। श्री विष्णु सहस्रनाम का पाठ शनिवार या रविवार को किया जाता है और श्रीललिता का पाठ हर शुक्रवार को किया जाता है। दक्षिण के मंदिरों में इन्हीं सहस्र-नामों के आधार पर नियमित रूप से अर्चना भी की जाती है। प्रत्येक नाम के आरंभ में प्रणव वाचक ओंकार और अंत में प्रणाम सूचक "नमः" शब्द जोडकर भगवान् विष्णु और भगवती माँ की अर्चना की जाती है। इसलिए सहस्रनाम की परंपरा से लोगों को दुहरा लाभ मिलने लगा है। प्रत्येक नाम को लेकर अर्चना भी की जाती है और सारे नामों को संग्रथित रूप से प्रस्तुत करने वाले स्तोत्र का अपनी अपनी सुविधा से पाठ भी किया जाता है। लेकिन अर्चना की अपेक्षा पाठ में अधिक सुविधा होती है क्योंकि इसमें बाहरी साधन और साज सज्जा की आवश्यकता नहीं पडती है। इसलिए शिक्षित समाज में सहस्रनाम के पाठ की प्रथा विशेष रूप से प्रचलित है।

श्री विष्णु सहस्रनाम और श्री ललिता सहस्रनाम दोनों को आचार्य शंकर ने उच्चकोटि की मान्यता दी है। श्री विष्णु सहस्रनाम पर उन्होंने परंपरागत ढंग से बहुत ही सारगर्भित भाष्य लिखा और श्री ललिता सहस्र-नाम से प्रेरित होकर उन्होंने 'सौन्दर्य लहरी" की रचना की है जो देवी के उपासकों के लिए अमूल्य ज्ञान का अक्षय भंडार है। यही नहीं, शंकराचार्य ने जितने मठों की स्थापना की, वहां पर श्रीचक्र की स्थापना भी की और श्रीचक्र की पूजा श्रीविद्या के विधान से श्री ललिता सहस्रनाम के माध्यम से की जाती है। श्री ललिता सहस्रनाम केवल स्तोत्र नहीं है, वह देवी के रहस्य का प्रतिपादन करनेवाला शास्त्र भी है। अन्यान्य सहस्रनामों में केवल आराध्य देवी या देवता का गुणगान होता है और प्रत्येक नाम उपास्य की अनंत विभूति का प्रशस्तिपाठ होता है। श्री विष्णु सहस्रनाम भी इसी प्रकार स्मरण मात्र से पवित्र बनाने वाली पावन नाम मालिका है। लेकिन श्री

ललिता सहस्रनाम में देवी के अनंत सौंदर्य, प्रभाव और प्रसार का रागात्मक वर्णन तो है ही, पर साथ ही आत्म विद्या के आंतरंगिक रहस्य का भी उस में शास्त्रीय प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इसको "रहस्य नाम साहस्र" कहा गया है।

श्री विष्णु सहस्रनाम प्रणव तत्त्व का प्रफुल्ल हास प्रस्तुत करता है तो श्री ललिता सहस्रनाम श्री तत्त्व का चिन्मय मंदहास प्रदर्शित करता है। संसार की समस्त वाणी की संधात्री-प्रणव ध्वनि-से श्री विष्णु सहस्रनाम का विश्वरूप आरंभ होता है जब कि सचराचर जगत् को सश्रीक बनाने वाली श्री माता के नामोच्चारण से श्री ललिता का सहस्रनाम आरंभ होता है। श्री तत्त्व, श्रीविद्या और श्रीचक्र का रहस्य श्रीमाता के इन्हीं हज़ार नामों में धीरे-धीरे खुलता जाता है। ऐसा लगता है कि श्रीदेवी अपने चिन्मय मंदहास के माध्यम से अपनी "आत्मकथा" अधिकारी साधकों को सुन्दर शब्दों में सुना रही है।

श्री ललिता देवी की नाम सहस्रिका में तात्त्विक विवेचन का एक निश्चित क्रम दिखाई देता है जो कि अन्य सहस्रनामों में स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता। श्री विष्णु सहस्रनाम में विभिन्न नामों का जो पूर्वापर संबंध है और आत्मानुशासन की जो अखंड धारा है, वह सबकी समझ में आनेवाला चीज़ नहीं है। गहरी भावना और पैनी दृष्टि से देखने पर ही भगवान् विष्णु के हज़ार नामों के भीतर छिपी हुई दार्शनिक विचारधारा प्रकट होती है। लेकिन श्री सहस्रिका में यह पूर्वापर संबंध, दार्शनिक चिंतन और आत्मा की अमर कहानी साधारण पाठक या उपासक भी समझ पाता है। यह माता की ममतामयी वाणी है जो "बालानां सुख बोधाय" और "बहुजन हिताय" श्रीदेवी की अनुकंपा से प्रकट हो गई है।

कहा जाता है कि श्रीमाता ने स्वयं वशिनी आदि वाग्देवताओं से कहा कि श्रीतत्त्व की व्याख्या करनेवाली एक नाम सहस्रिका प्रस्तुत करें। जगदम्बा के इस आदेश को शिरोधार्य मानकर वाग्देवताओं ने इस स्तोत्र को प्रस्तुत किया है और इस पर माता बहुत प्रसन्न हो गई। तभी तो इस स्तोत्र की भाषा, शैली और रचना-शिल्प में इतने संतुलन, सौष्ठव और सौन्दर्य का दर्शन होता है कि इस के आध्यात्मिक महत्त्व के अलावा साहित्यिक गरिमा भी उच्च कोटि की है। प्रारंभिक बीस श्लोकों में देवी के दिव्य सौंदर्य का इतना रोमांचक वर्णन मिलता है जो संसार की किसी भी भाषा के उत्कृष्ट साहित्य में अपनी समता नहीं पा सकता। यही भावलहरी शंकराचार्य की 'सौंदर्य लहरी' बन गई थी।

श्रीललिता सहस्रनाम के वक्ता हयग्रीव हैं और श्रोता अगस्त्य। ब्रह्मांड पुराण में माँ ललिता की महिमामयी लीलाओं का रोचक वर्णन हयग्रीव के मुँह से सुनकर अगस्त्य पुलकित हो जाते हैं। मां ललिता के रहस्यमय नामों को जानने की उन के मन में इच्छा पैदा होती है। उन के अनुरोध पर हयग्रीव अगस्त्य को "रहस्य नाम साहस्र" का उपदेश देते हैं। बार बार यह बात कही जाती है कि ये नाम सब के सब रहस्यमय हैं और इन सब में देवी का निवास है। इससे स्पष्ट होता है कि इन नामों के माध्यम से जिस श्रीतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, वह तत्त्व भी इन्हीं नामों में समाया हुआ है। इसलिये प्रत्येक नाम को मां ललिता का ही मंगलमय रूप समझना चाहिए। इसके अलावा मां की महिमा का वर्णन करने वाली जो विभिन्न कहानियां कही गई हैं, उनके पीछे भी कोई तात्त्विक रहस्य छिपा हुआ है। उदाहरण के लिए ब्रह्माण्ड पुराण में ललितोपाख्यान के अन्तर्गत एक कहानी में कहा जाता है कि श्री महाशंभु ने श्रीयाग में श्रीमाता को चित्-कुण्ड में प्रत्यक्ष कर लिया है। चित्-कुण्ड और

श्रीयाग श्रीमाता को प्राप्त करने के साधन हैं। प्रत्येक प्राणी के ललाट में यह चित्-कुण्ड निरन्तर उज्ज्वल प्रदीप के रूप में प्रकाशित होता रहता है जिसको देखने के लिए महाशंभु को भी श्रीयाग करना पड़ा था। जो भी श्रीयाग करता है, उसे यह चित् कुण्ड दिखाई पड़ेगा और उसमें मां ललिता का प्रादुर्भाव होगा। श्रीतत्त्व का चिंतन, श्रीविद्या का मनन; श्रीचक्र की आराधना और श्री सहस्रिका का पाठ—यही श्रीयाग है।

ये सभी साधन हमारे पास ही हैं। इनके लिए कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। श्री तत्त्व संसार के कण-कण में छाया हुआ है। विशेषकर वह प्रत्येक प्राणी के ललाट या माथे पर देखा जा सकता है। "लोकानतीत्य लालते, ललिता तेन सोच्यते।" देवी का नाम ललिता इस-लिए हुआ क्योंकि वह लोकातीत बनकर लोकलीला का लालन करती हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक का ललाट-स्थल मां ललिता का लीलाधाम है। आवश्यकता केवल ध्यान, मनन ओर अवगाहन की है। इसके लिए यह रहस्य-नाम-सहस्रिका अमोघ साधन का काम देती है। श्री सहस्रिका का पाठ करते-करते श्री तत्त्व का बोध हो जाता है और प्रत्येक नाम का मनन करते-करते श्री माता का स्वरूप अन्दर ही अन्दर उभरने लगता है। आम तौर पर श्रीमाता के उपासक श्रीचक्र की पूजा करते हैं। श्रीचक्र एक विशिष्ट प्रकार का यंत्र है जिसमें बिंदु, त्रिकोण, वलय, रेखा, और दल जैसे चिह्नों के द्वारा ब्रह्मांड की सृष्टि, स्थिति और लय का प्रतीकात्मक चित्रण किया जाता है। ध्यान से देखा जाए तो समस्त ब्रह्मांड का चित्रण करने वाले इस श्रीचक्र के सारे लक्षण मानव शरीर में पाए जाते हैं। इसलिए मानव शरीर को ही श्रीचक्र का प्रतिरुप माना जा सकता है। श्री चक्र में जो नौ आवरण होते हैं, वही मानव शरीर के नौ द्वार हैं। श्रीचक्र के भीतर जो आनन्दमय बिन्दु है, वही शरीर के भीतर ललाट के ऊपर विराजमान सहस्रार चक्र का केन्द्र है जो परमेश्वरी का पावन निवास-स्थान है। इस

प्रकार श्री चक्र प्रत्येक प्राणी को जन्म से ही मिला परमात्मा का प्रसाद है जिसका सही-सही प्रयोग करने से श्री तत्त्व का रहस्य मालूम हो सकता है ।

अब रही श्रीविद्या की बात । श्रीविद्या श्रीमाता को प्रसन्न और प्रत्यक्ष करानेवाला एक मंत्र है जो गुरुमुख से प्राप्त किया जाता है । लेकिन श्री सहस्रिका का पाठ करने से इस मंत्र के जाप का ही फल मिल जाता है । सहस्रनाम में स्पष्ट बताया गया है कि देवी की कृपा अंतर्मुख होने से ही संभव है (अंतर्मुखसमाराध्या) और बहिर्मुख व्यक्तित्व के लिए दुर्लभ है (बहिर्मुख सुदुर्लभा) । यह भी कहा गया है कि भवानी के सान्निध्य का अनुभव करने के लिए भावना बहुत जरूरी है (भवानी भावना गम्या) । जो कुछ प्राप्त करना है, वह सब अंदर ही अंदर बसा हुआ है । इसीलिए आम तौर पर बहिर्मुख होने वाली शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियों को अंतर्मुख करके पिंडांड में प्रतिबिंबित ब्रह्मांड का दर्शन करना ही श्रीमाता की आराधना का परम लक्ष्य है और श्री सहस्रिका इसके लिए अमोघ साधन बनती है ।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी, आधुनिक सापेक्षता सिद्धांत यह सिद्ध करता है कि देश और काल के परिप्रेक्ष्य में द्रव्य और ऊर्जा की पारस्परिक प्रतिक्रिया से ही संसार का संसरण चलता है । द्रव्य और ऊर्जा में तत्त्वतः कोई अंतर नहीं है । द्रव्य ही ऊर्जा का रूप धारण करता है और ऊर्जा का स्थूल रूप ही द्रव्य है । यही द्रव्य परमशिव है और उसकी ऊर्जा या शक्ति ही परमेश्वरी है । जैसे द्रव्य और शक्ति में अंतर नहीं है वैसे ही शिव और शक्ति एक ही तत्त्व के दो रूप हैं । पांच भौतिक जगत् के प्रत्येक पदार्थ में जो शक्ति निहित है, वही ललिता परमेश्वरी है जो देश-काल की परिकल्पना के अनुसार विभिन्न रूप धारण करती है :

यस्य यस्य पदार्थस्य या या शक्तिरुदाहृता ।
सा सा सर्वेश्वरी देवी शक्तिमंतो महेश्वरः ॥

श्रीमाता को भंडासुर की संहारिणी बताया गया है। यह भंडासुर और कोई नहीं है, जीव जगत् में प्रत्येक प्राणी के अंदर जडता भरनेंवाले आलस्य का प्रतीक है। प्राणी स्वभाव से आराम पसंद और आलसी होता है। जब तक कुछ काम करने की बाध्यता या अनिवार्यता न हो, वह पत्थर की तरह पडा रहता है या हवा की तरह स्वेच्छा से घूमता फिरता है। न्यूटन का जड़ता सिद्धांत इसी तथ्य की पुष्टि करता है। लेकिन जब तक यह जडता मिट न जाए, व्यक्ति अपने भीतर की शक्ति को पहचान नहीं पाता। यही शक्ति श्रीमाता ललिता है जो जडता के प्रतीक भंडासुर के वध से संतुष्ट हो जाती हैं। इसलिए श्रीमाता की अनुकंपा प्राप्त करने के लिए सब से पहली आवश्यकता है-जडता को दूर भगाना और सक्रिय, सचेष्ट और सचेत साधना के पथ पर अग्रसर होना। एक बार भीतर की चेतना जागरित हो जाए, उसके बाद साधना का मार्ग सीधा बन जाता है और मां ललिता साधक का हाथ पकड़कर उसे आगे ले जाती है और अंत में अखंड आनंद की आंतरिक भाव भूमिका तक पहुंचा देती है। श्रीललिता सहस्रनाम के पद-पद में जीवात्मा की इस चेतन यात्रा के पग-पग का वर्णन मिलता है। एक एक पद या नाम का उच्चारण करते समय ऐसा लगता है कि इस रास्ते में हम एक एक पग आगे बढ़ रहे हैं। "सहस्रनाम की सबसे पहली पंक्ति है - "श्रीमाता श्रीमहाराज्ञी श्रीमत्सिंहासनेश्वरी" और अंतिम पंक्ति है - "श्री शिवा शिव शक्त्यैक्य रूपिणी ललितांबिका।" इन दोनों पंक्तियों में माता के तीन तीन नाम हैं। प्रारंभ में माता, राणी और ईश्वरी के रूप में प्रकट परमेश्वरी अंत में शिव के साथ अभिन्न रूप से तादात्म्य स्थापित करनेवाली जगदंबिका ललिता के रूप में दर्शन देती हैं। इस बीच में आत्मा की आनंद यात्रा के कई पड़ाव दिखाई पड़ते हैं। हर नाम एक पड़ाव है। एक एक कदम आगे बढ़कर एक एक पड़ाव में विश्राम करते हुए चलते चलते हमें आत्म तत्त्व की अनंत विभूति का पता चलता है। कहीं माता का मंगलमय

स्वरूप महालावण्य की शेवधि या निधि के रूप में दिखाई देता है तो कहीं परमेश्वरी का प्रताप, प्रभाव और पराक्रम शिथिल प्राणियों को सबल प्रेरणा प्रदान करता है। कहीं आनंदमयी देवी की चिन्मय भावना में ब्रह्मानन्द को भी अकिंचन सिद्ध करनेवाला आत्मानंद मिलता है तो कहीं मूलाधार से लेकर सहस्रार तक के विभिन्न चक्रों को पार कर सुधा बरसाने वाली सर्वतोमुखी 'या देवी' के दर्शन हो जाते हैं। कहीं परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी के रूप में प्रकट होने वाली परम रमणीय वाणी के भव्य दर्शन होते हैं तो कहीं ब्रह्मा, बिष्णु और रुद्र की ग्रथियों को भेद कर शिव और शक्ति का अभेद सिद्ध करने वाली महा शक्ति का मोहक रूप दिखाई देता है। अंत में पता चलता है कि अपरिमेय को परिमेय और प्रमेय बनानेवाली विश्वमाता, विश्वात्मा से युक्त होकर-जीवधानी के कण कण में प्रतिष्ठित है। संसार की समस्त सत्ता की वही कर्त्री, धात्री और संहर्त्री माता हमारी आँखों के अंदर समाकर हमारी रखवाली कर रही है, वही शिव है और वही शक्ति है, वही पुरुष है और वही प्रकृति है, वही जीव है और वही ब्रह्म है। वही द्रव्य और शक्ति का सम्मिलित रूप है। वही हम है और हम वही हैं। इस परम सत्य का बोध श्रीललिता सहस्रनाम के अध्ययन, मनन ओर पाठ से संभव होता है।

नाम मात्र के लिए यह सहस्रनाम श्रीमाता ललिता का है, पर वास्तव में यह देवी मात्र की दिव्य विभूति का विश्वकोश है। इसका पहला नाम श्रीमाता है और अंतिम नाम ललितांबिका है। इन दोनों के बीच में कामाक्षी, बाला, भवानी, शांकरी, श्रीकरी, दुर्गा, महादेवी, महालक्ष्मी, महात्रिपुर सुन्दरी, पार्वती, नारायणी, कल्याणी, कात्यायनी, रमा, उमा, गौरी ब्राह्मी, राजराजेश्वरी, गायत्री, सरस्वती, महाकाली, चंडिका, अपर्णा, त्र्यंबका, ब्रह्माणी, वैष्णवी, शिवा आदि अनेक नाम मिलते हैं जो माँ ललिता के ही विभिन्न नाम हैं। वास्तव में ललितांबिका का नाम सारे स्तोत्र में केवल एक ही बार और वह भी सभी नामों के अंत में आता है। इससे यह

बात स्पष्ट होती है कि यह स्तोत्र श्री ललिता परमेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध होने पर भी इसे देवी मात्र का स्तोत्र माना जा सकता है । देवी का जो रूप जिस को इष्ट है. वही इस श्रीसहस्त्रिका में प्रत्यक्ष की जा सकती है । वास्तव में 'सहस्त्रपरमा देवी शतमूला शतांकुरा' का सहस्त्रमुख वर्णन इस श्री सहस्त्रिका में मिलता है ।

श्री ललिता सहस्त्रनाम में कोई भी नाम दुहराया नहीं जाता जबकि श्री विष्णु सहस्त्रनाम में कुछ नाम दो तीन और कभी कभी चार बार दुहराये गये हैं । इस का कारण श्री सहस्त्रिका की शास्त्रीय पद्धति है । इसे 'रहस्य नाम साहस्त्र' ठीक ही कहा गया है क्योंकि इसमें मंत्र शास्त्र, तंत्र शास्त्र, योगशास्त्र और दर्शन शास्त्र की रहस्यमयी बातों की ओर मार्मिक सकेत मिलता है । शरीर के अंदर मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा चक्रों की स्थिति और उन के महत्त्व की सुन्दर और सारगर्भित व्याख्या देवी की नामावली के माध्यम से इसमें मिलती है । ये विभिन्न चक्र स्थूल दृष्टि से देखने पर दिखाई नहीं देते । आंतरिक और सूक्ष्म दृष्टि से आत्म निरीक्षण करने से ही इनका आध्यात्मिक स्वरूप समझ में आ सकता है । इस रहस्य को समझने में ललिता परमेश्वरी की श्रीसहस्त्रिका बहुत सहायक होती है ।

कुछ लोग श्रीचक्र, श्रीविद्या, श्री तत्त्व आदि का नाम सुनते ही उन से दूर हट जाते हैं । डाकिनी राकिनी, लाकिनी, काकिनी, साकिनी, हाकिनी, साकिनी आदि नाम सुनकर वे और भी घबरा जाते हैं । लेकिन निर्मल मन, निश्छल हृदय और निश्चल भावना से श्रीमाता का नाम लेने से ये सभी रहस्य पलभर में समझ में आ जाते हैं । शब्द आकाश का गुण है और मानव जीवन को मुखरित करने वाली स्वर लहरी का उद्‌गम मानव शरीर ही है । इसी शरीर के भीतर विभिन्न अक्षरों के अलग अलग केंद्र हैं । मूलाधार,

स्वाधिष्ठान आदि चक्र इन्हीं केन्द्रों के द्योतक हैं और प्रत्येक चक्र में एक विशिष्ट अक्षर की अधिष्ठात्री के रूप में परमेश्वरी विराजमान होती है। कहीं 'ड' कार, कहीं 'र' कार, कहीं 'ल' कार कहीं 'क' कार और कहीं 'स' कार के रूप में श्रीमाता हमारे अक्षरमय व्यक्तित्व का पालन पोषण करती रहती है। इन्हीं विभिन्न केंद्रों पर माताजी के साथ संपर्क स्थापित कर उनकी अपार अनुकंपा प्राप्त करने के लिए श्रीसहस्रिका का प्रणयन किया गया है। मां का नाम लेने से मां प्रसन्न हो जाती है और अपनी संतान की पुकार सुनकर उन की हर तरह से देखभाल करती है। हमारे अंदर की आत्मा हीं हमारी देवता है और वह संसार में सर्वत्र सब के अंदर विराजमान है जिस को यहां पर ललिता की संज्ञा दी गई है। आत्मा का दूसरा नाम ही ललिता है।

"स्वात्मैव देवता प्रोक्ता ललिता विश्व विग्रहा"

—o—

२. श्रीमाता श्री महाराज्ञी

श्रीमाता ललिता की नाम-सहस्रिका माता के मंगलमय सौंदर्य और महिमामय वैभव के साथ प्रारंभ होती है। सहस्रनाम स्तोत्र का पहला श्लोक है :

श्रीमाता श्रीमहाराज्ञी श्रीमत्सिंहासनेश्वरी ।
चिदग्निकुंडसंभूता देवकार्यसमुद्यता ॥

पहला नाम है-श्रीमाता। संसार को सभी प्रकार की सश्रीकता प्रदान करने वाली श्री देवी केवल जीव (भू) जगत् की ही नहीं, बल्कि श्री-जगत् की भी माता है। भू-जगत् पार्थिव संपन्नता का प्रतीक है जबकि श्री-जगत् अपार्थिव और दिव्य वैभव का द्योतक है। दोनों की प्रसवित्री ललिता माता अपनी संतान को संसार में भव्यता और स्वर्ग या अपवर्ग में दिव्यता प्रदान करती है। 'माता' शब्द से 'मापन' का भी बोध होता है। मापने वाले किसी भी अभिकर्ता को माता कहा जा सकता है और इस दृष्टि से माता शब्द पुल्लिग बन जाता है। इसलिए चराचर जगत् को जन्म देनेवाली श्रीमाता संसार की सत्ता को मापने में पौरुष, पराक्रम और प्रभुता का भी परिचय देती हैं। ममता और प्रभुता का मंगलमय संगम अगले दो नामों में स्पष्ट होता है।

अगला नाम है—श्री महाराज्ञी। माता की ममता राज्ञी में राजस तेज का रूप धारण करती है। श्रीमाता की शोभा केवल लालन पालन और पोषण तक सीमित नहीं है, अखंड भूमंडल का शासन करना भी उनका दायित्व-पूर्ण अधिकार है। उनके राज्य की कोई सीमा नहीं है। जहां तक चराचर जीव जगत् का संचार और विस्तार है, वहाँ तक उनका अधिकार-क्षेत्र है।

इसलिए वह साधारण राणी नहीं है, महाराणी या महाराज्ञी है । अधिकार और आधिपत्य के साथ शालीनता और शोभा का सुन्दर समन्वय होने के कारण उनको "श्रीमहाराज्ञी" कहा गया है ।

इसी सुन्दर शासन की सुमधुर, किंतु गंभीर भावना अगले नाम "श्रीमत्सिंहासनेश्वरी" में प्रकट होती है। महाराज्ञी गद्दी पर बैठकर शासन करती है, पर यह गद्दी श्रीयुक्त है हालांकि वह देखने में सिंह की आकृति में दिखाई देती है। श्रीभावना परमेश्वरी को सुखद, सुलभ और सुमुख बनाती है और सिंहासन उनको दुर्लभ और गंभीर और कुछ हद तक भय वह भी बना देता है। शिष्ट जनों के लिए वह अभीष्ट वस्तु प्रदान करनेवाली ममतामयी माता भी है और दुष्ट समाज के लिए वह आतंक पैदा करने वाली राज राजेश्वरी भी है। पिछली पंक्ति के तीन नाम श्रीदेवी को माता, राज्ञी और ईश्वरी के रूप में प्रस्तुत करते हैं। सृष्टि, स्थिति और लय की भावना भी इन तीनों नामों से प्रकट होती है।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में केवल दो ही नाम हैं—पहला नाम देवी के प्रादुर्भाव का वर्णन करता है और दूसरा नाम उस प्रादुर्भाव के प्रयोजन का। अनन्त चैतन्य की चिरंतन ज्वाला से अखंड लावण्य से युक्त श्रीदेवी प्रकट होती है। यही ज्वाला चित् की लीला है जो प्रत्येक प्राणी को निरंतर चेतना प्रदान करती रहती है। यह अग्निकुन्ड कहीं बाहर नहीं है, चैतन्य-शील जीवी के चिदाकाश में रहता है और यही देवी का उद्गम स्थान है। यह चित्कुण्ड सत्स्वरूप सत्ता का अनुपूरक है । सद्रूपी शिव और चिद्रूपी शक्ति के सामरस्य से सकल कलामय जीव जगत् आनन्दमय बन जाता है। सत्, चित् और आनन्द की यही समरस साधना देवी के प्रादुर्भाव का परम प्रयोजन है। यही इस श्लोक के अन्तिम नाम में प्रकट होता है।

देवताओं का कार्य सिद्ध करने के लिए देवी का प्रादुर्भाव होता है। देवता प्रकाश के प्रतीक हैं और प्रकाश का प्रसार ही उनका काम है।

प्राणियों को बाहरी और भीतरी प्रकाश से आलोकित करना ही देवताओं का नियत कार्य है। इस कार्य के निष्पादन में श्रीदेवी, देवताओं को साथ देती है।

इस प्रकार श्रीललितासहस्रनाम के पहले श्लोक के पांच नाम देवी के स्वरूप, स्वभाव, उद्गम ओर उद्देश्य की सरल किन्तु सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। माता की इस नाम पंचमी के बाद श्रीललिता के लोकोत्तर लावण्य का रमणीय चित्र अगले दो श्लोकों में प्रस्तुत किया जाता है :

उद्यद्भानुसहस्राभा चतुर्बाहुसमन्विता ।
रागस्वरूपाशाढ्या क्रोधाकारांकुशोज्ज्वला ॥२॥
मनोरूपेक्षुकोदंडा पंचतन्मात्रसायका ।
निजारूणप्रभापूरमज्जद्ब्रह्मांडमंडला ॥३ ॥

इन दोनों श्लोकों में कुल मिलाकर सात नाम हैं। पहले और अंतिम नाम में देवी के दिव्य रूप की उज्ज्वलता और उर्मिलता का उदात्त चित्र अंकित है और बीच के पांच नामों में देवी की चार भुजाओं की साज-सज्जा का वर्णन है। प्रभात के समय सूर्योदय के पहले पूरब की दिशा में मन मोहने वाली लालिमा छायी रहती है। ऐसा लगता है, प्राची का मुंह लाल-लाल हो उठा है—या तो लज्जा के कारण या किसी पर सात्विक क्रोध के कारण। अगर एक सूर्य के कारण आकाश में इतनी लालिमा छा जाती है तो हजार सूर्यों का एक साथ उदय हो तो आसमान का चेहरा कितना लाल हो उठेगा, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। लगभग इसी प्रकार की अरुणारूण कांति-किरणों की अनिर्वचनीय शोभा श्रीमाता ललिता की शारीरिक आभा है। माता का उदय चिन्मय अग्निकुण्ड से हुआ है, तभीं तो यह लालिमा कुछ आकस्मिक या आश्चर्यजनक नहीं होनी चाहिए। वास्तव में देवी की यह दिव्य शोभा जितनी बाहर की है, उतनी ही भीतर

की है। इस अनन्त लालिमा में देवी का दिव्य रूप देखने को मिल जाए तो अहोभाग्य समझना चाहिए। जैसाकि द्रष्टा कवि अपनी दृष्टि की विशिष्टता का वर्णन करते हुए कहते हैं :

लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल ।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ।।

वैसे ही देवी की दिव्य लालिमा का भव्य दर्शन तभी संभव है जब द्रष्टा स्वयं दृष्टि में लीन हो जाए। "उद्यद्भानुसहस्राभा" देवी की सौन्दर्य लहरी की पहली तरंग है।

अगले पाँच नामों में देवी की चार भुजाओं का ध्वन्यात्मक वर्णन है। ये चार भुजाएं चार अन्तःकरण हैं। चिदग्निकुण्ड से संभूत देवी के अंग अंग से तेज प्रकट होता है और यही तेज उनकी चार भुजाओं में कुछ प्रयोजन लेकर प्रसारित होता है। किसी से अनुराग प्रगट होता है तो किसी से क्रोध। किसी में मन के अरमान भरे हुए होते हैं तो किसी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध की मात्राओं को प्रेरणा मिल जाती है। अंतःकरण की इन्हीं प्रवृत्तियों के प्रतीक के रूप में देवी की एक भुजा में पाश होता है तो दूसरी में अंकुश, तीसरी में धनुष और चौथी में तीर। पहली भुजा में जो पाश है, वह अनुराग या प्रेम का है। यह अनुराग प्राणि-जगत् को प्रणय के बंधन में प्रसन्न रखने वाली प्राकृतिक रागात्मिका प्रवृत्ति है। जो प्रेम एक प्राणी को दूसरे प्राणी का प्रणयी बनाता है, वही प्रेम उदात्त धरातल पर जीव कोटि को परमात्मा की ओर प्रेरित करता है। यही प्रेम-पाश देवी की दाहिनी और ऊपरी भुजा है।

दूसरी तरफ बाईं ओर ऊपर की भुजा में अंकुश है। यह क्रोध का अंकुश है। देवी ममता, स्नेह और अनुराग की मूर्ति है। फिर भी कभी-कभी उनको क्रोध का सहारा लेना पड़ता है। स्थूल दृष्टि से प्रेम और क्रोध एक दूसरे

के विपरीत मनोविकार मालूम पड़ते हैं। लेकिन वास्तव में क्रोध प्रायः उसी व्यक्ति पर होता है जिसके प्रति प्रेम हो और जिसकी हम भलाई चाहते हों। अगर कोई व्यक्ति गलत रास्ते पर चल रहा है तो उसको डांट-डपट कर ठीक करने की कोशिश हम तभी करते हैं जब वह हमारा अपना आदमी हो। इसलिए जहां अनुराग या प्रेम है, वहां कभी-कभी क्रोध का होना भी स्वाभाविक है। इस दृष्टि से देवी की एक भुजा में अनुराग का पाश और दूसरी भुजा में क्रोध का अंकुश चित्रित किया गया है। प्रेम का मधुर बंधन देवी को संपन्न बनाता है तो क्रोध का अंकुश उनको "उज्ज्वल" बनाता है। वह राग स्वरूप पाशाढ्या भी है और क्रोधाकारांकुशोज्ज्वला भी।

नीचे की दाहिनी भुजा में धनुष है और बाईं भुजा में तीर है। यह धनुष गन्ने का बना हुआ है और मन की मीठी-मीठी अभिलाषाओं का प्रतीक है। मन को गन्ने का डंडा कहने में मन की सहज माधुरी की ओर संकेत है। मन हमेशा अपने में मीठा और सादा होता है। लेकिन वह धनुष की तरह टेढ़ा बन जाता है तो उसमें से अनेक प्रकार के विकार पैदा हो जाते हैं। मन रूपी कोदंड भी अपने आप कुछ नहीं कर सकता, जब तक तीखे-तीखे बाण उसका साथ न दें। ऐसे ही अनूठे तीर शब्द स्पर्श, रूप, रस, और गंध हैं जो देवी की चौथी भुजा में सजे हुए हैं। "मनोरूपेक्षुकोदंडा" और "पंचतन्मात्रसायका" ये दोनों नाम देवी के सक्रिय वैभव का वर्णन करते हैं। चिदाग्निकुंड से निकली श्रीदेवी के हाथ में मन का धनुष है और मनोविकार या विषय रूपी तीर भी हैं। सभी प्राणियों की इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रवृत्त करनेवाला मन मनोन्मनी के हाथ में है। वही हमारे मन के भीतर बैठकर मन का मनोरंजन करती हैं। उनके मन के कोदंड से निकलनेवाले तीर बहुत अजीब होते हैं क्योंकि जब वे हमें लगते हैं तो बहुत मीठे लगते हैं। ऐसा नहीं लगता कि कोई हमारे ऊपर प्रहार कर रहा है।

जब धक्का लगता है तो अच्छा लगता है और जी चाहता है कि बार-बार ऐसा धक्का लगा करे। पर तीर तो तीर है, वेदना या चोट पहुंचाना उसका काम है। चोट लगती तो ज़रूर है और शरीर में छिद्र भी बन जाते हैं। पर प्राणी तभी होश में आता है जब जीर्ण-शीर्ण शरीर को देखकर मन घबरा जाता है और वह आत्मा की तरफ दौड़ पड़ता है। तब जाकर पता चलता है कि यह सारा खेल देवी की धनुर्विद्या का कौशल है जो अपने शिकार को आखिर अपनी ओर खींच लेती है। मीठी मीठी आवाज़ सुनने को मिले या दिल बहलानेवाली सुहावनी और खुशबूदार हवा मन को कहीं बहा ले चले या लगातार देखते रहने पर भी फिर एक बार देखने की इच्छा पैदा करनेवाला सौंदर्य देखने को मिले या जीभ को ललचानेवाली रसीली चीजें खाने को मिलें या कोने-कोने को महकानेवाली मादक सुगंध सूँघने को मिले तो समझना चाहिए कि यह देवी की अनुकंपा है और आत्म परीक्षा है। यह बात जितनी जल्दी मालूम हो जाए, उतनी जल्दी और आसानी से इस परीक्षा में सफलता मिल सकती है।

इतनी साजसज्जा के साथ सौंदर्य की सीमा बनकर संसार में प्रकट होने वाली देबी के लावण्य और वैभव से सारी सृष्टि पुलक उठती है। ब्रह्मांड और पिंडांड का कण-कण उसी लावण्य राशि की अनंत लालिमा में अपने को नहलाता है। वह प्रकाश की कोई एकांत किरण नहीं है या किरणों की माला भी नहीं है। वह तो प्रकाश का प्रवाह है जो अखिल सृष्टि के प्रत्येक अणु को अपने में समेट लेता है।

"निजारूणप्रभापूरमज्जद्ब्रह्मांडमंडला"—यह सारी पंक्ति देवी का एक ही नाम बताती है। इस पंक्ति से आगे ऐसी अनेक पंक्तियां आती हैं जिनमें देवी का एक एक नाम सुनाई देता है। अनुष्टुप् छंद में बंधे हुए इन श्लोकों की प्रत्येक पंक्ति में सोलह अक्षर होते हैं। ये सभी अक्षर देवी के

सर्वांग सौंदर्य का वर्णन करने वाले प्रशस्त नाम हैं। ऐसा लगता है ये नाम षोडशी की षोडशाक्षरी विद्या के मूर्त रूप हैं। अगले तीस-पैंतीस नाम इसी प्रकार के मिलते हैं। इनमें देवी के स्थूल सौंदर्य का वर्णन है जो मंत्र की तरह मननीय, स्तोत्र की तरह स्तवनीय और आत्मा की तरह अनुसरणीय है।

:———:

३. महालावण्य शेवधिः

संसार में सबसे बड़ा आकर्षण है—सौंदर्य। चराचर जगत् को समता, सरसता और समरसता के सूत्र में समेकित करनेवाली सशक्त भावना सौंदर्य ही है। सुन्दर वस्तु को देखकर मां की गोद में खेलनेवाला बच्चा भी आकृष्ट होता है। नर का सौंदर्य नारी को और नारी का सौंदर्य नर को आकृष्ट करता है। सौंदर्य प्रेम को जन्म देता है और प्रेम से आनन्द उत्पन्न होता है। इसलिए आनन्द का आधार सौंदर्य है। लेकिन व्यक्तिगत या पार्थिव सौंदर्य सीमित और क्षणभंगुर होता है जबकि दैवी या लोकोत्तर सौंदर्य असीम और अक्षय होता है। प्रभात की प्रशांत निर्मलता और संध्या की सुनहली छाया में अनंत आकाश अक्षय सौंदर्य को आत्मसात् कर अखंड आनन्द का अनुभव करता है। सागर की लहरें आकाश को आमंत्रित करती हैं और आकाश से प्रकाश की किरणें जाकर लहरों का मन बहलाती हैं। पत्तों का हिलना, फूलों का खिलना, बादल का बरसना, बिजली का चमकना, तारों का हंसना और नदियों का बहना इसी विराट् सौंदर्य के विभिन्न रूप हैं जो समय की गति के साथ सुन्दर से सुन्दर बनते जाते हैं। वास्तव में यह सारा सौंदर्य किसी सुन्दरतम की सूक्ष्म सुषमा का स्थूल रूप है। सौंदर्य के इसी अक्षय स्रोत का आभास हमें श्री ललिता परमेश्वरी की लावण्य धारा में मिल जाता है जिसका परिचय देवी के नख शिख वर्णन में दिया गया है।

विश्व के कण-कण को अपनी अरुणारूण कांति-किरणों से आलोकित करनेवाली विश्वविग्रहा परमेश्वरी के पावन सौंदर्य का वर्णन उनकी वेणी से आरम्भ होता है :

चम्पकाशोक पुन्नाग सौगंधिक लसत्कचा ।
कुरूविंद मणिश्रेणी कनत्कोटीर मंडिता ।।

चंपा, अशोक, पुन्नाग, नील कमल आदि तरह-तरह के रंगीन, मुलायम और खुशबूदार फूलों से मां की वेणी सजी हुई है और उनके सिर पर नाना प्रकार के मणियों और माणिक्यों की श्रेणीबद्ध सजावट से जडा हुआ मुकुट देवी की दिव्य शोभा को भव्यता प्रदान कर रहा है। वेणी में परिमल और किरीट में प्राभव देवी की मानसिक निर्मलता और उर्मिलता के परिचायक हैं। नर नारी की केश राशि से उनकी आंतरिक पवित्रता और उदात्तता का पता चलता है। देवी के सिर के बालों से जो खुशबू निकलती है, वह केवल चंपा, अशोक आदि फूलों की खुशबू नहीं है, बल्कि भीतर की मेधा का सहज परिमल है। शायद यह कहना समीचीन होगा कि उनके मस्तिष्क की स्वाभाविक सुगंध से ही बालों में गुँथे हुए फूल महक रहे हैं। इसी प्रकार रत्न जटित मुकुट पहनने से देवी की गरिमा किरीट को गौरव प्रदान करती है। बाहरी साज सज्जा और अलंकारिता देवी के सान्निध्य और साहचर्य से स्वयं कृतकृत्य और अलंकृत होती है। परिमल को परिमल प्रदान करनेवाली परमेश्वरी की जटा में स्थान पाकर फूल फूले नहीं समाते और हीरे जवाहरात अनमोल बन जाते हैं।

इसके बाद श्रीमाता के सुन्दर मुखारविंद का वर्णन आता है :

अष्टमी चंद्र विभ्राजदलिकस्थल शोभिता ।
मुखचंद्र कलंकाभ मृगनाभि विशेषका ।।

माताजी के माथे को देखने पर अष्टमी के चन्द्रमा की याद आती है। चाहे शुक्ल पक्ष हो या कृष्ण पक्ष, अष्टमी के दिन चांद एक जैसा दिखाई देता है क्योंकि यह पखवाडे के बीच पड़ता है। अष्टमी के चांद को देखकर

यह कहना कठिन है कि चांद घट रहा है या बढ़ रहा है। देवी की मुख-मुद्रा देखकर भी यह अनुमान लगाना आसान नहीं है कि वह प्रसन्न हैं या खिन्न, हमारी जैसी भावना होगी, वैसा ही हमें उनका श्रीमुख दिखाई देगा। सुख दुःख में एक जैसी मुख - वैखरी का प्रदर्शन करना स्थित प्रज्ञ के लिए ही संभव होता है और यही आदर्श देवी के मुखचंद्र के दर्शन से प्राप्त होता है।

ललाट की शोभा तिलक या बिंदी से बढ़ती है। यही ललाट की विशेषता है। इसलिए तिलक को विशेषक कहा जाता है। देवी के ललाट पर कस्तूरी का तिलक लगा हुआ है। देवी के दिव्य ललाट पर कस्तूरी का तिलक देखने पर चन्द्रमा के बीच दिखाई देनेवाले काले धब्बे की याद आती है। शायद इस काले धब्बे के बिना चन्द्रमा की भी ठीक-ठीक पहचान नहीं हो पाती है। ललाट मानव शरीर का सबसे लालित्यपूर्ण अंग है जिसकी शोभा बिंदी लगाने से दस गुनी बढ़ जाती है—लगभग उसी प्रकार जैसे किसी भी संख्या के बाद शून्य लगाने या बिंदु जोड़ने से उसका मूल्य दस गुना बन जाता है।

देवी के ललाट की शोभा के बाद उनकी आंखों और भौंहों का प्रसंग आता है :

वदन स्मर मांगल्य गृहतोरण चिल्लिका।
वक्त्र लक्ष्मी परीवाह चलन्मीनाभ लोचना॥

देवी का मुख या वदन देखने में इतना आकर्षक लगता है कि वह कामदेव का सदन जैसा दिखाई देता है। यह मामूली सदन या घर नहीं है, बल्कि उनका मंगल भवन या प्रेम मंदिर है। काम देव के प्रेम मंदिर की तरह सुशोभित देवी के मुखमंडल (या मुख-मंडप) पर उनकी टेढ़ी-मेढ़ी और कजरारी भौंहें उस मंडप के बंदनवार जैसी हैं। बंदनवार मांगल्य के

सूचक होते हैं और सर्व मंगला माता की भ्र रेखा में संसार के समस्त मांगल्य का सार समा हुआ होता है।

उनकी आंखें मछलियों की तरह उनके मुख-सौंदर्य की रसधारा में इधर उधर संचार कर रही हैं। बिचारी ये मछलियां समझ नहीं पा रही हैं कि इस अलौकिक सौंदर्य की धारा में किस जलकण में सबसे अधिक सरसता मिलती है। इसलिए वे सारे मुखमंडल को छाए हुए हैं। देवी के नेत्र एकत्रित होते हुए भी सार्वत्रिक हैं। उनकी दृष्टि सब तरफ है। संसार का कोई भी कण देवी की दिव्य दृष्टि से अलग नहीं हो सकता।

अब नासिका (नाक) की बात आती है।

नवचम्पक पुष्पाभ नासादंड विराजिता।
ताराकांति तिरस्कारि नासाभरण भासुरा॥

मुखमंडल की शोभा बढ़ाने या घटाने में नाक का योगदान बहुत महत्व-पूर्ण होता है। नाक नर-नारी की सामाजिक प्रतिष्ठा का भी द्योतक है। जीव जगत् को उच्छ्वास और निश्वास की सुविधा प्रदान करना भी नासिका का काम है। देवी के इशारे पर ही सभी प्राणियों की साँस चलती है और बात बनती है। इसलिए देवी की नासिका की हड्डी काफी मजबूत, फिर भी कोमल, कुछ लम्बी और नई खिली चंपा की तरह चारों तरफ खुशबू फैलानेवाली है। नासिका की हड्डी जितनी सधी और सजी हुई होती है, नाक की नोक उतनी पैनी और सुहावनी होती है ताकि वह अपने लक्ष्य को सूक्ष्मता से ग्रहण कर सके। वैसे नाक की नोक पर दृष्टि जमाए रखने से ललाट के भीतर की जीवन लीला का सारा रहस्य खुल जाता है। इसलिए नासिका का विशेष महत्व है।

देवी ने नाक पर एक गहना भी पहन रखा है जिसकी चमक के सामने

तारे भी फीके दिखाई देते हैं। हो सकता है कि सभी तारों ने इसी से अपनी कांति प्राप्त कर ली हो।

नाक के बाद कानों की बात होती है :

कदम्ब मंजरी कलुप्त कर्णापूर मनोहरा।
ताटंक युगलीभूत तपनोडप मंडला॥

जगदम्बा के करनफूल कदम्ब के गोल-गोल और पीले-पीले गुच्छों से बनते हैं। न मालूम क्यों कदम्ब के फूल जगदम्बा को अच्छे लगते हैं और कदम्ब के फूलों वाली जगदम्बा भी सारे जगत् को अच्छी लगती हैं। इसीलिए देवी को 'कदम्ब वन वासिनी' कहा जाता है। कहा जाता है कि बिजली की आवाज़ से कदम्ब के फूल खिल उठते हैं। धरती और आकाश को मिलानेवाली कोई सम्पर्क भाषा कदम्ब को आती होगी। कई तरह के फूलों के समूह को भी कदंब कहा जाता है। तरह-तरह की आवाज ग्रहण करने की क्षमता से युक्त कदम्ब की मंजरी माता के लिए करनफूल का काम दे रही है तो इसमें कोई श्रुति सम्मत औचित्य अवश्य होगा।

देवी के दोनों कानों में दो-दो ताटंक (कान के आभूषण) चमक रहे हैं। उनकी शोभा सूर्य और चन्द्र की आभा का स्मरण कराती है। एक तरफ की शोभा तपाकर स्वच्छ बनाने वाली है और दूसरी तरफ की शोभा डूबे हुए को ऊपर उठानेवाली है। सूर्य और चन्द्र के लिए प्रयुक्त "तपन" और "उडुप" शब्द इसी भावना को व्यक्त करते हैं। वैसे ताटंक पहनना पति के लिए आयुर्वर्द्धक माना जाता है। परमेश्वरी के ताटंक परमेश्वर को परमायु प्रदान करते हैं और सारे संसार के लिए कल्याणकारक सिद्ध होते हैं।

इसके बाद कपोल और अधरों की बारी आती है :

पद्मराग शिलादर्श परिभावि कपोल भूः ।
नव विद्रुम बिम्ब श्री न्यक्कारि रदनच्छदा ।।

श्रीदेवी के कपोल आदर्श या आइने की तरह स्वच्छ, निर्मल और पारदर्शी हैं। मानिक या लाल जवाहिरों से बनी हुई शिला जितनी चमकीली, गीली और रसीली होती है, उससे भी अधिक कमनीय देवी का कपोल देश है। कपोल प्रायः कल्पना के प्रतीक माने जाते हैं। इस दृष्टि से देवी के आदर्श कपोल आदर्श कल्पना के द्योतक हैं जो कि यथार्थ से भी अधिक विश्वसनीय और स्पृहणीय होती है। कल्पना हो तो ऐसी हो जैसे देवी के दिव्य कपोल।

अब अधरों की शोभा देखें। अधर या ओष्ठ (ओंठ) को "रदनच्छद" कहा जाता है क्योंकि ये दांतों का आच्छादन करते हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि अधर दांतों की रक्षा करते हैं क्योंकि कोमल वस्तु कठोर पदार्थ की रखवाली नहीं कर पाती। लेकिन मानव शरीर की रचना ही कुछ अजीब है। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इसमें कुछ ऐसा विधान भी हो। जो भी हो, परमेश्वरी के अधर तो इनके दांतों का आच्छादन अवश्य करते हैं, रक्षा करें या नहीं। अधरों का रंग विद्रुम या मूंगे से कुछ-कुछ मिलता-सा नज़र आता है। आकार में वे बिंबाफल या पके हुए कुंदरू के समान हैं। विद्रुम और बिंब में कोमलता और कमनीयता का भाव है। देवी के अधरों को साधारण विद्रुम नहीं कहा गया है, वह नव विद्रुम या नई कोंपल के समान है। विद्रुम का मतलब कोंपल भी होता है। जो चीज़ अभी-अभी उगी हुई हो उसकी जैसी नवीनता या ताजगी देवी के अधरों में दिखाई देती है।

अब दांतों की उज्ज्वलता भी देखें :

शुद्ध विद्यांकुराकार द्विज पंक्ति द्वयोज्ज्वला।
कर्पूर वीटिकामोद समाकर्षि दिगंतरा॥

देवी के अधरों के भीतर स्वच्छ और चमकीले दांतों की दो पंक्तियाँ सजी हुई हैं। हर पंक्ति में सोलह-सोलह के हिसाब से कुल मिलाकर बत्तीस दांत देवी के मुखमंडल की शोभा बढ़ा रहे हैं। शुद्ध विद्या से निकले हुए अंकुरों की तरह सभी दांत अपनी धवल छटा बिखेर रहे हैं। यहां विद्या शब्द का प्रयोग मंत्र के अर्थ में किया गया है। मंत्रों के शुद्ध उच्चारण से दांतों की कांति बढ़ जाती है। इसलिए बिना दांत का व्यक्ति मंत्रोच्चारण के लिए अयोग्य माना जाता है और उनके द्वारा किया गया मंत्रोच्चारण अभीष्ट फल नहीं दे सकता। देवी के दांतों का वर्णन करते समय दांतों के लिए 'द्विज' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह ध्यान देने की बात है। जो दो बार जन्म लेता है, उसे द्विज कहा जाता है। ब्राह्मण, पक्षी और दांत दो बार पैदा होते हैं, इसलिए उनको द्विज कहा जाता है। मंत्रोच्चारण के लिए द्विजत्व (उपदेश) और शुद्धि दोनों आवश्यक हैं। इसलिए इस पंक्ति में शुद्ध विद्या और द्विज दोनों का प्रयोग सार्थक है। सोलह दांतों की एक पंक्ति षोडशाक्षरी (श्री राज राजेश्वरी) मंत्र का प्रतीक है। मानव शरीर की रचना कितनी अनोखी है, यह केवल दंत-रचना के आधार पर सिद्ध होता है। षोडशाक्षरी मंत्र को एक तरफ शिव के रूप में और दूसरी तरफ शक्ति के रूप में मुख विवर के भीतर ऊपर नीचे सजाकर स्रष्टा ने मानव मात्र को मननीय मंत्र का सहज साधन प्रदान किया है और यही रहस्य देवी की दंत कथा के माध्यम से प्रकट होता है। स्मरणीय है कि अनुष्ठुप् छंद की भी दो पंक्तियां होती हैं और हर पंक्ति में सोलह अक्षर होते हैं।

जिनके दांत मजबूत होते हैं, वे प्रायः पान खाने के शौकीन होते हैं। देवी भी पान खाती हैं। कर्पूर से मिश्रित तांबूल (बीडा) देवी को पसन्द है और उसकी खुशबू संसार के कोने-कोने तक फैल जाती है। सारी दिशाएं और विदिशाएं उस परिमल से महक उठती हैं। क्या यह प्रणवनाद का पान तो नहीं है !

अब देवी के मंदहास और मधुर भाषण की निराली शोभा देखें :

निज संलाप माधुर्य विनिर्भर्त्सित कच्छपी।
मंदस्मित प्रभापूर मज्जत्कामेशमानसा ॥

देवी की बातों में इतनी मिठास मिलती है कि वाणी की वीणा भी उस माधुर्य की तुलना में साधारण-सी लगती है। जब उनकी बातें इतनी मीठी लगती हैं तो उनके मंदहास या मुस्कान का फिर कहना ही क्या है। मुस्कान सबकी अच्छी लगती है और देवी की मुस्कान तो प्रकाश का प्रवाह है, उमंग की दरिया है जिसमें कामेश्वर का मन गोते लगाते-लगाते अघा नहीं पाता। महादेवी मुस्कुराती हैं तो महादेव का मन उमड पड़ता है।

अब देवी के मुखमंडल के निचले भाग में सुशोभित चुबुक (ठुड्डी) का सौंदर्य देखिए :

अनाकलित सादृश्य चुबुक श्री विराजिता।
कामेश बद्ध मांगल्य सूत्र शोभित कंधरा ॥

चुबुक या ठुड्डी की शोभा लासान है। संसार की कोई भी सुन्दर वस्तु उसकी बराबरी नहीं कर सकती। वह केवल "श्री" का साकार रूप है। उसका लावण्य केवल कामेश जानते हैं जिन्होंने देवी के गले में मंगल-सूत्र

पहिनाया है। मंगल-सूत्र दांपत्य की कल्याणकारिणी भावना का प्रतीक होता है और पाणिग्रहण के संस्कार में वर के द्वारा वधू के गले में बांधा जाता है। दोनों का यह बंधन मधुर और मंगलमय हो, यही कामना की जाती है। देवी के गले में जो मंगल सूत्र है वह सारे संसार के मंगल का साधक है।

अब देवी के वाग्भव कूट (सिर से कंठ तक) का विशद वर्णन करने के बाद मध्यकूट (कंठ से कमर तक) का वर्णन आरम्भ होता है :

कनकांगद केयूर कमनीय भुजान्विता।
रत्नग्रैवेय चिंताक लोल मुक्ता फलान्विता ॥

देवी की भुजाएं वैसे ही सुन्दर और कमनीय हैं और उन पर पहने हुए बाजूबन्द उस शोभा को और बढ़ा रहे हैं। गले में रत्नों का हार है और उसके बीच में नीचे की तरफ लटकनेवाला मुक्ताफल देखनेवालों का मन लुभा रहा है। देवी का रत्नहार वाणी की रमणीयता और मुक्ताफल परमपद की प्राप्ति का सूचक है। बांहों में सुशोभित होनेवाले भुजबंध भौतिक समृद्धि के द्योतक हैं। इसलिए उनको अंगद (अंग सौष्ठव प्रदान करनेवाले) कहा गया है।

अब माता के वक्षस्थल का वर्णन आता है :

कामेश्वर प्रेम रत्न मणि प्रतिपणस्तनी।
नाभ्यालवाल रोमालि लताफल कुचद्वयी ॥

कामनयनी देवी की काम कला का केन्द्र उनका वक्षस्थल है जो उन्नत, उदात्त और उत्तम है। उसका महत्त्व केवल कामेश्वर ही जानते और पहचानते हैं। उनको भी अपने प्रेम रूपी अमूल्य रत्न को देकर देवी के

वक्षस्थल या स्तन रूपी मणि को मोल लेना पड़ता है। परम पुरुष के प्रेम को परा प्रकृति के यौवन के समतुल्य बताकर यहाँ प्रकृति और पुरुष के चिरंतन सामरस्य की ओर संकेत किया गया है। सौंदर्य, यौवन और प्रेम प्रेमी और प्रेयसी की सौभाग्य सहभागिता में ही चरितार्थ होते हैं। बिना प्रेम का सौंदर्य निरर्थक है और बिना सौंदर्य का प्रेम नीरस है। शिव शक्ति के सामरस्य में दोनों का अद्भुत समावेश है।

देवी के दोनों उभरे हुए वक्षोजों को देखने पर लगता है कि ये दोनों फल किसी लता पर लगे हुंए हैं और वह लता नीचे नाभि में से ऊपर की तरफ फैली हुई है। इस बीच में दिखाई देनेवाली रोमाली इस मनोहर कल्पना की पुष्टि करती है।

इसके बाद देवी के कटिभाग (कमर) का वर्णन आता है।

लक्ष्य रोम लताधारता समुन्नेय मध्यमा।
स्तनभार दलन्मध्य पट्ट बंधवलित्रया॥

कमर इतनी पतली है कि अगर रोमाली लता की तरह फैली हुई नजर नहीं आती तो उसका अनुमान लगाना भी कठिन है। इतनी पतली कमर दो-दो स्तनों का भार वहन नहीं कर पा रही है। इसीलिए शायद पेट में तीन जगह बल पड़े नजर आ रहे हैं। ये तीन झुर्रियां पेट पर बंधी हुई पट्टियों की तरह दिखाई देती हैं।

अब कमर को सजानेवाली रेशमी साड़ी और करधनी की भी एक झलक प्रस्तुत है :

अरूणारूण कौसुंभ वस्त्र भास्वत्कटी तटी।
रत्न किंकिणिका रम्य रशनादाम भूषिता॥

लाल रंग की रेशमी साड़ी में देवी के शरीर का मध्य भाग (कटि तट) बहुत ही सुन्दर दिखाई देता है और साड़ी पर बंधी हुई करधनी रत्नों से जड़ी हुई है और परमेश्वरी को परम रमणीय बना रही है।

वाग्भव कूट और मध्यकूट के बाद देवी के शक्तिकूट (कमर से नीचे) का संक्षिप्त और ध्वन्यात्मक वर्णन प्रस्तुत है :

कामेश ज्ञात सौभाग्य मार्दवोरूद्वयान्विता।
माणिक्य मुकुटाकार जानुद्वयविराजिता॥

देवी की दोनों जांघें बहुत ही मुलायम और सुखद हैं। लेकिन यह बात केवल कामेश्वर को मालूम है। देवी के घुटने माणिक्य जैसे कीमती पत्थरों से जड़े हुए किरीट जैसे हैं।

इसके बाद पैरों का वर्णन है :

इंद्रगोप परिक्षिप्त स्मरतूणाभ जंघिका।
गूढ गुल्फा कूर्मपृष्ठ जयिष्णु प्रपदान्विता॥

परमेश्वरी के घुटनों से नीचे की पिंडलियां कामदेव के तरकस के समान हैं जो इंद्रगोप नामक मणियों से सजे हुए हैं। पैरों के टखने ढके हुए हैं और पैरों का अगला भाग कछुए की पीठ को भी पराजित करनेवाली शोभा से ओत प्रोत है।

अंत में परमेश्वरी के पाद-मूल और पद-गति का दो श्लोकों में वर्णन किया जाता है।

नख दीधिति संछन्न नमज्जन तमोगुणा।
पद द्वय प्रभा जाल पराकृत सरोरूहा॥
शिंजान मणि मंजीर मंडित श्री पदाम्बुजा।
मराली मंद गमना महा लावण्य शेवधिः॥

देवी के पैरों के नाखून इतने चमकीले और कांतिपूर्ण हैं कि उन चरणों में प्रणाम करनेवाले भाग्यशाली साधकों का अज्ञान रूपी सारा अंधकार पल भर में दूर हो जाता है। परमेश्वरी का पद - युग प्रकाश के सरोवर की तरह लहराता दिखाई देता है। उनके चरण कमल में बंधे हुए नूपुर मणियों से जड़े हुए हैं और उनसे जो मंजुल ध्वनि निकलती है, वह श्रीचरण के गतिशील लावण्य को मुखरित करती है।

अब देवी चल पड़ी है और उनकी चाल मराल या हंस की मंद गति की याद कराती है। देवी का लावण्य साधारण या लौकिक नहीं है। वह असाधारण और अलौकिक है। वास्तव में वह लावण्य की सीमा है, सौंदर्य की पराकाष्ठा है। इसी सुन्दरतम की सुन्दरता संसार में सर्वत्र छाई हुई है। श्रीमाता की इस सौंदर्य लहरी में समस्त संसार के सौंदर्य का सार है।

---

४. कामाक्षी कामदायिनी

श्री ललिता परमेश्वरी के लोकोत्तर लावण्य का सांगोपांग और सारगर्भित वर्णन करने के पश्चात् अब देवी के सूक्ष्म रूप का विश्लेषण आरम्भ होता है। स्थूल रूप से देखने पर और सूक्ष्म तत्व पर मनन करने पर देवी सर्वांग सुन्दरी दिखाई देती हैं। लावण्य लहरी के इस लीलामय लास्य में लालिमा ही लालिमा का लालित्यपूर्ण उल्लास लहर उठता है जिसमें परमेश्वरी के साथ-साथ परमेश्वर भी अरूणारूण और तरूणोज्ज्वल दिखाई देते हैं। इसी अरूणिमा का सार्वभोम सौंदर्य श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

सर्वारूणानवद्यांगी सर्वाभरण भूषिता।
शिव कामेश्वरांकस्था शिवा स्वाधीन वल्लभा ॥

सर्वारूणा देवी के अंग-अंग से, बाहर से, भीतर से, तन से, मन से, और अंतस्तल से सिंदूर की लाली टपक पड़ती है। संसार की सश्रीकता परमेश्वरी के सात्विक सौंदर्य में समाविष्ट है। उनके अंग-अंग की मंगलमय भंगिमा से यह महती मही महिमान्वित हो रही है।

देवी का सौंदर्य वासना से मुक्त और उपासना से युक्त है। उनके अंग-लावण्य को देखकर संसार सांसारिक भावना से उन्मत्त नहीं होता, बल्कि अनन्त सौंदर्य की अमलिन आराधना की ओर प्रवृत्त होता है। इसलिए देवी को अनवद्यांगी (निर्मल और निर्दोष अंग वाली) कहा गया हैं।

परमेश्वरी का आंगिक सौंदर्य केवल दूषण रहित ही नहीं है, बल्कि भूषण सहित भी है। शारीरिक शोभा बढ़ाने वाले जितने अलंकारों या आभूषणों की कल्पना की जा सकती है, वे सब परमेश्वरी को सहज रूप से प्राप्त है। सभी प्रकार के आभूषणों से भूषित होने के कारण उनको "सर्वाभरण भूषिता" कहा गया है। प्राकृतिक सौंदर्य और आलंकारिक साज सज्जा से देवी का लोकोत्तर रूप लावण्य विश्व के कण-कण को पुलकित कर देता है।

परमेश्वरी का सारा सौंदर्य और सारा वैभव परमार्थ साधक बन जाता है। वह तो पति की गोद में प्राण प्रिया बन बैठी हैं। उनके पति देव भी शिव कामना या मंगल कामना के ईश्वर हैं, "शिव कामेश्वर" हैं। शिव और काम एक दूसरे के विरोधी तत्त्व के प्रतिपादक शब्द हैं। शिव के कठोर संयम के सामने कामदेव ने अपनी हार मान ली और इस संघर्ष में अपनी काया ही खो दी। लेकिन श्रीमाता के हृदयेश्वर ने शिव और काम दोनों को अपने अधीन रखा है, शिव साधना को कमनीय रूप दिया है और काम वासना को शिवात्मक बनाया है। वास्तव में धर्म सम्मत काम शिव साधक ही बन जाता है, भव बाधक नहीं। धर्म और प्रेम, शिव और काम, श्रेय और प्रेय के इसी सामंजस्य को शिव कामेश्वर साकार रूप देते हैं और इसीलिए धर्म संवर्द्धिनी परमेश्वरी शिव कामेश्वर की गोद में बैठकर अपनी शोभा और पति की प्रतिष्ठा बढ़ाती है।

श्री ललिता परमेश्वरी का अगला नाम "शिवा" शिव के साथ उनके तादात्म्य और सायुज्य का बोधक है। शिव की गोद में बैठकर शिव भावना में वह इतनी एकाकार हो जाती हैं कि दोनों अलग-अलग नहीं रह जाते हैं। जैसे रूप, वैसे नाम से भी दोनों में साम्य स्थापित हो जाता है। शिव को भी वह अपने रंग में समा लेती हैं। आचार्य शंकर के शब्दों में शिव अपनी धवलता से शिवा को आच्छादित करने का प्रयास करते हैं तो शिवा शिव

पर अपनी लालिमा को फैलाने में सफल बन जाती हैं। परिणाम यह होता है कि शिवानी का रंग ही शिव पर छा जाता है, शिव का शिवानी पर नहीं।

इसीलिए शिवा रानी को "स्वाधीन वल्लभा" कहा गया है। परमेश्वर परमेश्वरी की बात मानते हैं और उन्हीं की इच्छा के अनुसार संसार का शासन चलाते हैं। परमेश्वरी भी परमेश्वर के पर्यवेक्षण में उन्हीं के संकल्प के अनुसार चराचर प्रकृति को प्रसूत करती हैं। दोनों तुल्यानुराग का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। आराधकों के लिए भी इसमें सुविधा है क्योंकि शिव की कृपा से ही शक्ति का संग्रह होता है और शक्ति की सुमुखता से ही साधना शिवात्मक बन जाती है। वास्तव में शिव और शिवा रूप-राग दोनों में अभिन्न हैं।

परमेश्वरी के स्वरूप और स्वभाव को विस्तार से समझाने के बाद उनकी आराधना को सुगम बनाने के लिए उनकी अवस्थिति का दार्शनिक विवेचन अगले श्लोक में प्रस्तुत किया जाता है :

सुमेरू श्रृंग मध्यस्था श्रीमन्नगर नायिका।
चिंतामणि गृहांतस्था पंच ब्रह्मासनस्थिता॥

मेरू पर्वत सबसे ऊंचा पर्वत माना जाता है। यह पर्वत मांगलिक दृष्टि से मानव शरीर के भीतर भी परिकाल्पित और प्रत्यक्ष कर लिया जा सकता है। बाहर के मेरू पर्वत से भीतर का पर्वत अधिक सूक्ष्म और सुन्दर है। बाहर का पर्वत कमनीय है तो भीतर का पर्वत मननीय है। इसीलिए भीतर के आध्यात्मिक मेरू पर्वत को यहां पर "सुमेरू" कहा गया है जिसके उत्तुंग श्रृंग या शिखर के बीच में परमेश्वरी का परम रमणीय निवास है। आंतरिक मेरू पर्वत के इसी शिखर सौंदर्य का प्रतिरूप श्रीचक्र नामक यंत्र

विशेष में देखा जा सकता है। श्रीचक्र श्रीमाता की रूप माधुरी का रेखा-चित्र है और साथ-साथ पिंडांड और ब्रह्मांड का भी प्रतिरूप है। जो आत्म तत्व जीवात्मा में है, वही परमात्मा में भी है, जो अणु में है, वही अनन्त आकाश में है और वही श्रीमाता का श्री शरीर है जो श्रीचक्र की रेखाओं, परिरेखाओं, कोणों, वलयों, दलों और मंडलों में प्रतिनिहित होता है। इसी श्र चक्र में परमानन्द बिन्दु के रूप में परमेश्वरी का अवस्थान दिखाया जाता है और यही वह मेरू शृंग (मेरू पर्वत का शिखर) है जिसके बीच में श्रीमाता निवास करती हैं। मानव शरीर के भीतर भी ललाट के ऊपर सहस्रार कमल के बीच में सहस्र परमा देवी का निवास स्थान है जिसकी ओर परमेश्वरी का यह रहस्यमय नाम संकेत करता है।

इसी रहस्य की आगे चलकर अगला नाम और विशद व्याख्या करता है। श्रीमन्नगर नायिका—यह नाम परमेश्वरी के द्वारा आवासित दिव्य नगर की शोभा का उद्घाटन करता है। श्रीमाता इस नगर की नागरिका ही नहीं, बल्कि नायिका भी है, वह सर्वथा श्रीयुक्त नगरी है, सभी दृष्टियों में वह श्रीमती नगरी है। लौकिक भाषा में प्रायः महिलाओं को श्रीमती कहा जाता है। लेकिन आर्ष भाषा में और आध्यात्मिक परिभाषा में कभी-कभी नगरी भी श्रीमती बन जाती हैं। अयोध्या का वर्णन करते समय आदि कवि वाल्मीकि भी इसी प्रकार की अलौकिक बात कह देते हैं : —

आयता दशच द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्त महापथा ॥

वाल्मीकि का यह नगर वर्णन साधारण नगर को सश्रीक बनाता है। इसी प्रकार का एक विलक्षण श्रीनगर श्रीमाता के नेतृत्व में बसा हुआ श्रीमन्नगर है जिसकी ओर परमेश्वरी के इस सारगर्भित नाम में संकेत है। वास्तव में मानव शरीर के जिस रहस्यमय कोण में श्रीमाता रहती हैं, वह केवल कैवल्य की सश्रीकता से ओतप्रोत है। अंडांड को ब्रह्मांड से मिलाने

वाली चिदानन्द लहरी इस रमणीय काया-खंड को अलौकिक शोभा प्रदान करती है। यह नगर अपने आप में स्वतन्त्र, निराला और निरूपम है। तंत्रज्ञों के अनुसार यह श्रीनगर श्रीचक्र का ही द्योतक है जो कि श्रीमाता का प्रतिरूप है।

श्रीमाता जिस घर में रहती हैं, वह चिंतामणि के अमूल्य प्रस्तरों से बना हुआ है। मन में जो संकल्प उठे, उसे तत्काल पूरा करना चिंतामणि का काम है। मन में कोई संकल्प ही न उठे, इस विचार को भी साकार और सफल बना देना चिंतामणि की विशेषता है। ऐसी अमूल्य मणियों से जड़ी हुई दीवारों से श्री देवी का घर बना हुआ है। ये मणियां वास्तव में वे दिव्य मंत्र हैं जिनके उच्चारण मात्र से श्री देवी की कृपा प्राप्त हो जाती है। वाणी और मन की निर्मलता और निश्चलता से ही देवी प्रसन्न हो जाती हैं। जहां वाणी और मन के बीच पूरा सामंजस्य हो और दोनों अपने उद्‌गम स्थान की उपासना में अपने को उपकृत समझें, वहीं पर तत्काल इन दोनों की अधिष्ठात्री देवी का साक्षात्कार हो जाता है।

श्रीमाता का यह प्रतिष्ठान संसार की सभी अवस्थितियों से ऊपर है संसार का सृजन, पालन-पोषण और संहार करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के प्रतिष्ठित पीठों से भी यह ऊपर है। सृष्टि के आरम्भ में जो सत्ता विद्यमान थी, वही देवी का यह सर्वोच्च और सर्वोत्कृष्ट स्थान है। मानव शरीर में यह ब्रह्म ग्रंथि, विष्णु ग्रंथि और रूद्र ग्रंथि के ऊपर स्थित होता है। मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के ऊपर नाभि के आसपास ब्रह्म ग्रंथि है। इसके ऊपर मणिपूरक और अनाहत चक्रों को पार कर हृदय के कहीं आसपास विष्णु ग्रंथि है। इससे भी ऊपर विशुद्धि चक्र और आज्ञा चक्र को भी पार कर ललाट के आसपास रूद्र ग्रंथि है। इससे ऊपर ईशान या प्रधान प्राण का स्थान है और इससे भी ऊपर सदाशिव या सनातन सत्ता

का स्थान है। सबसे ऊपर परमेश्वरी का चिरन्तन शुभ निवास है। यहां चित्कला के रूप में चिन्मयी माता चिर निवास करती हैं। यह पांच प्रकार के द्रष्टाओं से ऊपर का स्थान है। इसलिए यहां पर श्री ललिता परमेश्वरी को "पंचब्रह्मासनस्थिता" कहा गया है।

परमेश्वरी के स्थान को ओर भी सुन्दर शब्दों में स्पष्ट करते हुए अगला श्लोक कहता है :

महापद्माटवी संस्था कंदब वन वासिनी।
सुधा सागर मध्यस्था कामाक्षी काम दायिनी॥

श्रीमाता जहां रहती हैं, वहां लोकोत्तर लावण्य से सुशोभित होनेवाले सुन्दर कमलों का वन लगा हुआ है। एक नहीं अनेक कमल, हजारों कमल इस महावन की शोभा बढ़ाते हैं। कदंब के फूल भी इस वन को रंग-बिरंगी सुषमा प्रदान करते हैं। बिजली की चमक से और वज्रपात के आघात से चौंक कर खिल उठने वाले कदम्ब के कुसुम कदम्ब-वन-वासिनी जगदम्बा को बहुत अच्छे लगते हैं। ये ही उनके कर्णफूल भी हैं। ये फूल उनको धरती और आकाश का मंगलमय संगम गीत सुनाते हैं। रंग-बिरंगी छटा, कोमल पंखुड़ियां, शीतल मंद समीर और नासाभरण को भासुर बनाने वाली हल्की सी सुगन्ध कदम्ब कानन की कमनीयता को कामेश्वरी के कानों तक पहुंचाती हैं।

यह कदम्ब वन कहां हैं और वह स्थल कैसा है, इसका हृदयंगम वर्णन अगला नाम प्रस्तुत करता है। सुधा सागर के बीच में परमेश्वरी का यह मधुवन बसा हुआ है। अमृत की एक बूँद से ही मर्त्य अमर बन जाता है और यह अमृत समुद्र बनकर लहराता है—देवी के निवास में। इसी सुधा सागर की ओर संकेत करते हुए पूज्यपाद आचार्य शंकर अपनी सौंदर्य लहरी

में कहते हैं :

सुधा सिंधोर्मध्ये सुर विटपि वाटी परिवृतं,
मणि द्वीपे नीपोपवनवति चिन्तामणि गृहे ।
शिवाकारे मंचे परम शिव पर्यंक निलयां,
भजंति त्वां धन्याः कतिचन चिदानन्द लहरीम् ।।

सुधा सागर के बीच में पारिजात के सुन्दर वनों से घिरा हुआ एक माणिमय द्वीप है जहां पर कदम्ब के पेड़ जगह जगह पर लगे हुए हैं । इस द्वीप के बीच में चिंतामणियों से निर्मित चिदानन्द-सदन में श्रीमाता शिवाकार शय्या पर परमशिव के साथ परमानन्द का अनुभव करती रहती हैं । इने गिने वे लोग धन्य हैं जो परदेवता को इस आनन्द लहरी से आत्म विभोर होते हुए देख पाते हैं । सुधा सागर मध्यस्था देवी का यह सौंदर्य वास्तव में चर्म चक्षुओं से देखा नहीं जा सकता । यह आत्मिक सौंदर्य है जो तन मन से कहीं ऊपर और वाणी और चिंतन से परे है । इसका साक्षात्कार वही लोग कर सकते हैं जिन पर कामाक्षी की कृपा-दृष्टि हो ।

अगला नाम ''कामाक्षी'' इसी रहस्य की ओर संकेत करता है । परदेवी की कृपा-दृष्टि कैसे प्राप्त होती है, यह कोई नहीं जानता । जिधर उनकी इच्छा हो, उधर वह दृष्टि प्रसारित होती है । इसीलिए उनको ''कामाक्षी'' (अपनी इच्छा से देखनेवाली) कहा गया है । उनके नेत्र कमनीय अथवा सुन्दर हैं, इसलिए भी वह कामाक्षी हैं । असल में कामाक्षी में केवल कमनीयता या काम्यता ही नहीं, बल्कि कुछ बीजाक्षरों का मांत्रिक महत्व है । इसीलिए उनकी दृष्टि उनको देखने या दिखनेवालों पर जादू का सा असर कर डालती है । ''क'' कार ब्रह्मा का, ''अ'' कार विष्णु का तथा ''म'' कार महेश्वर का वाचक है । इस प्रकार कामाक्षी के तीन नेत्र ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के प्रतिरूप हैं । सूर्य और चन्द्र उनके दो प्रधान नेत्र हैं

और अग्नि उनके भाले पर चिन्मय ज्योति से चमकनेवाला तीसरा नेत्र है। कामाक्षी शब्द का एक और अर्थ है। "का" (क्या है ? कौन वह देवी है ?) जिज्ञासा का प्रतीक है और "मा" (मत पूछो, अधिकार का आत्म निरीक्षण करो) निषेध और सतर्कता का प्रतीक है। इस प्रक र जिज्ञासा और सतर्कता का मंगलमय सामंजस्य कामाक्षी प्रस्तुत करती हैं। "कामाक्षी" में एक और सामंजस्य है। "क" कार ब्रह्मवाचक है तो "का" सरस्वती का प्रतीक बनता है और 'मा' तो मंगल देवता लक्ष्मी का द्योतक तो है ही। इस प्रकार "कामाक्षी" के नाम में सरस्वती और लक्ष्मी की युगल भावना समाविष्ट है।

इतना रस निर्भर नाम देवी का और नहीं हो सकता। तभी तो वह कामदायिनी है। जो हम चाहें, वह उनसे प्राप्त होता है। केवल उनकी कृपा दृष्टि चाहिए। उपनिषद् की घोषणा भी इसी सत्य की ओर संकेत करती है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।
तस्यैष आत्माविवृणुते तनूं स्वाम् ॥

(जिनको आत्मा वरण कर लेती है, उनको सब कुछ मिल जाता है। आत्मा अपना तन मन खोलकर उनको सब कुछ समझा देती है।)

यही देवी की आत्मानन्द लहरी का रहस्य है।

५. शक्ति विक्रम हर्षिता

आत्मस्वरूपिणी ललिता परमेश्वरी की लावण्य लहरी के स्थूल और सूक्ष्म स्वरूप का सांगोपांग वर्णन करने के पश्चात् देवी का आत्म वैभव अगली पंक्तियों में उदाहृत नामों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है :

देवर्षिगण संघात स्तूयमानात्म वैभवा ।
भंडासुर वधोद्युक्त शक्ति सेना समन्विता ।।

आराध्य देवता और आराधक तपस्वी परमाराध्या देवी की सम्मिलित रूप से स्तुति करते हैं। श्रीमाता का आत्मवैभव देवगण और ऋषिगण दोनों को अनुगृहीत करनेवाला है। वास्तव में देवी का प्रादुर्भाव देव कार्य को संपन्न करने के लिए चिदग्निकुंड से हुआ था। चिच्छक्तिविलास के रूप में जब ज्योतिर्मयी देवी प्रकट होती है तो ब्रह्मा, उपेंद्र, महेंद्र आदि देवता आत्मविभोर होकर आत्मस्वरूपिणी के आत्म वैभव का गुणगान करते हैं। देवताओं को ऋषि मुनियों के साथ मिलानेवाला चेतन-सूत्र शब्द है जो आत्मा की अलौकिक भावभूमिका में पहुंचकर मंत्र का रूप धारण करता है। यह सारा संसार देवी देवताओं के दैवी विधान के अनुसार चलता है और देवी देवता मंत्र की रहस्यमयी भाषा को पहचानते हैं और उसी माध्यम से मंत्र द्रष्टा ऋषि मुनियों को दर्शन देते हैं। इस प्रकार देवताओं और ऋषी-मुनियों के बीच में संधान स्थापित करनेवाली विशिष्ट-पद संपदा परमेश्वरी के परम पद को परिभाषित करती है। प्रत्येक मंत्र का कोई विशिष्ट ऋषि और अभीष्ट देवता होते हैं। श्रीमाता के आत्मिक वैभव की अन्नत सश्रीकता को प्रस्तुत और संस्तुत करनेवाले मंत्रराज

'श्री विद्या' की ओर इस प्रशस्त नाम में मार्मिक संकेत पाया जा सकता है। आत्म साक्षात्कार ही परमेश्वरी का प्रादुर्भाव है जिसको पाकर ब्रह्मादि देवता और ब्रह्मनिष्ठ तपस्वी उस आत्म वैभव की आत्म विभोर होकर प्रशंसा करते हैं।

प्रकाश देनेवाले देवता हैं और पानेवाले तपस्वी हैं और यह प्रकाश चिरंतन और अविनश्वर है जिसको अक्षर भारती के आराधक अपनी अक्षय वाणी के माध्यम से प्रत्यक्ष कर लेते हैं। मनुष्य की वाणी में जितनी ध्वनियाँ हैं, वे सब दो प्रकार की हैं—स्वर और व्यंजन। स्वर स्वतन्त्र और स्वयं प्रकाशशील हैं और व्यंजन स्वरों को आत्मसात् कर भास्वर बन जाते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो स्वर ही देवता हैं और व्यंजन ही तपस्या में लीन ऋषि मुनि हैं। जिस प्रकार देवता और ऋषि सम्मिलित होकर जगदम्बा की स्तुति करते हैं, उसी प्रकार स्वर और व्यंजन मिलकर प्राणियों को वाणी का वरदान देनेवाली शारदा का शत सहस्र कंठो से प्रतिक्षण गुणगान करते हैं। मानव जीवन को रसमय और मधुमय बनानेवाली वस्तु वाणी है और यह कल्याणी शीतल वाणी श्रीमाता का ही अमोघ वरदान है। उन्हीं की दी हुई वाणी से उनकी स्तुति की जाती है और यही श्रीमाता के आत्मवैभव की अलौकिक विशेषता है। श्रीमाता की यह स्तुति संसार में निरन्तर चलती रहती है, युग-युग से चली आ रही है और युग-युग तक चलती रहेगी। इसलिए प्रस्तुत श्लोक का पहला नाम है—देवर्षिगण संधात स्तूयमानात्म वैभवा। यह पूरे सोलह अक्षरों का नाम है जो देवी की आत्म-कथा का आरम्भ कर देता है। इससे लेकर चौबीस नाम इसी प्रकार सोलह-सोलह अक्षरों के बनकर चलते हैं जो जड़ता और पाशविकता के मूर्तरूप भंडासुर का भंडा फोडकर सांस लेते हैं।

श्रीमाता के प्रादुर्भाव का परम प्रयोजन भंडासुर का वध है। भंडासुर

पत्थर की तरह निष्क्रिय, निश्चेष्ट और निश्चेतन है। जहाँ पड़ा रहा सो पड़ा रहा। न हिलने का नाम लेता है और न चलने की बात सोचता है। अगर चलता भी है तो गलत रास्ते पर चलता है और गलत काम करता है, पर समझता है कि वह जो कुछ कर रहा है, वह सही कर रहा है। वह अन्न पर जीता है। अन्न से आनन्द की ओर ले जानेवाले प्राण, मन और विज्ञान का उसकी दृष्टि में कोई महत्व नहीं है। अपने को सब कुछ और अन्यों को नाचीज समझने में वह अपनी शान समझता है। पार्थिव सुख की लालसा में वह पशुतुल्य बन जाता है। ब्रह्मांड को केवल पिंडांड तक सीमित समझकर अपनी ही घमंड का प्रतीक भंडासुर देवी का शिकार बन जाता है। भंडासुर की भी अपनी सेना है जो देवी के परिवार और परिजनों का डटकर सामना कर देती है। पर अन्त में भंडासुर को हार माननी पड़ती है और श्री ललिता परमेश्वरी का आत्म वैभव विजयी बनता है। इसी संघर्ष और विजय का सूत्रपात करता है, देवी का अगला नाम— 'भंडासुर वधोद्युक्त शक्ति सेना समन्विता" देवी के पास अमोघ शक्ति है और अपार सेना है जिसका प्रयोग वह भडासुर को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। इसी संग्राम की साज-सज्जा का अगले श्लोकों में विस्तार से वर्णन किया जाता है। अगला श्लोक है :

संपत्करी समारूढ सिंधुर व्रज सेविता।
अश्वारूढाधिष्ठिताश्व कोटि-कोटि भिरावृता॥

संपत्करी नाम की शक्ति देवी को इस संग्राम में साथ देती है। यह शक्ति हाथियों पर सवार होकर चलती है। यह देवी की गज सेना है जिसका नेतृत्व संपत्करी करती हैं। संपत् या संपदा का सूत्रपात करनेवाली यह शक्ति हाथी की तरह आवाज़ करती है और घोर निद्रा में सोये पड़े सांसारिक जीवियों को मोह निद्रा से जगाती है। इसी जागरणशील निनाद

का वर्णन श्रीसूक्त में "हस्तिनाद प्रबोधिनी" कह कर किया गया है। हाथी की आवाज़ में गंभीरता, परिपूर्णता और सतर्कता का सुन्दर सम्मिश्रण पाया जा सकता है और यही अद्भुत सामंजस्य संपत्करी नाम की शक्ति की हस्ति सेना या गजदल में देखा जा सकता है। "संपत्" शब्द का मतलब है—सम्यक् रूप से पाना। जो चीज़ सम्यक् (सही) रूप से पाई जाती है, वहीं 'संपत्" है और जो उस रूप में नहीं मिलती है, वही "विपत्" है। संसार में कोई भी चीज़ अपने आप में संपत् या विपत् नहीं होती हैं, किन्तु वह जिस रूप में देखी और अपनाई जाती है, उसी में सपन्नता या विपन्नता का भाव समाविष्ट होता है। संपत्करी नाम की दैवी शक्ति संसार की प्रत्येक वस्तु को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करती है और जीवन को हाथी की चाल की तरह गतिशील और शालीन बना देती है। जब यह संपत्करी अपनी हस्ति सेना के साथ समर भूमि में आगे बढ़ती है तब भंडासुर और उसके परिजनों के पैर थर-थर कांप उठते हैं।

इस श्लोक का पहला नाम देवी की गज सेना का वर्णन करता है तो दूसरा नाम परमेश्वरी की अश्व सेना को प्रस्तुत कर देता है। अश्वारूढ़ा नाम की दैवी शक्ति करोड़ों घोड़ों को साथ लेकर चलती है। संपत्करी के हाथी की चाल में गंभीरता और शालीनता है तो अश्वारूढा के करोड़ों घोड़ों की दौड़ में गतिशीलता और अदम्यता का भाव है। "अश्वपूर्वा और रथमध्या" कहकर वेदों में जिस श्रीदेवी का ऊर्जस्वल वर्णन किया गया है, उसी परमेश्वरी की अश्व शक्ति की ओर यह दूसरा नाम बहुत ही स्पष्ट और पटिष्ठ संकेत करता है। गज सेना में देवी की संपन्नता और अश्व सेना में उनकी सश्रीकता की ओर भी मार्मिक संकेत है। पर-देवता माता इन दोनों सेनाओं के पीछे सब को प्रेरणा प्रदान करते हुए बैठी रहती हैं। गज सेना में ज्ञान और अश्व सेना में कर्म की भावना भी झलकती है। पहले ज्ञान का बोध और उसके बाद उस बोध के अनुसार उपयुक्त कर्म का युक्त

आचरण हो तो अभीष्ट लक्ष्य की अपने आप प्राप्ति हो जाती है। यही माता ललिता के इन दोनों नामों का आशय है।

देवी और उनकी अनुचरियां अपनी-अपनी तेजस्विता और ओजस्विता के अनूरूप अलग-अलग रथों पर सवार होकर समर भूमि में आगे बढती हैं। माता जी स्वयं जिस रथ पर आसीन हैं, वह चक्रराज (श्रीचक्र) से सुसज्जित है और उस रथ में बिजय को निश्चित रूप से संपन्न करनेवाले अमोघ अस्त्र-शस्त्र और आयुध भरे पड़े हैं। जितने साधन हो सकते हैं, वे सब के सब श्रीचक्र वाले रथ में मौजूद हैं और देवी उस रथ पर बैठकर आगे बढ़ रही हैं और साथ में उनकी अनुचरी मंत्रिणी गेयचक्र नामक पहिये से बने रथ पर सवार है। इस मनोहर दृश्य का वर्णन अगले श्लोक के दोनों नाम प्रस्तुत करते हैं :—

चक्रराज रथारूढ़ सर्वायुध परिष्कृता।
गेयचक्र रथारूढ़ मंत्रिणी परिसेविता॥

श्रीमाता के रथ का पहिया सबसे बढ़िया पहिया है जिसकी शालीनता का गुणगान करते हुए उनकी अनुचरी मंत्रिणी के रथ का गेरु चक्र चल रहा है। देवी का चक्र श्रीचक्र है तो मंत्रिणी का चक्र श्रीरागिनी के स्वर मुखरित करनेवाला गेय चक्र या संगीतचक्र है। श्रीचक्र की शोभा बढ़ानेवाला गेय चक्र वाणी की रमणीयता, मानस की मधुरिमा का प्रतीक है देवी की परिचारिका मंत्रिणी इसी चक्र से बने रथ पर सवार होकर चलती है। यह देवी का तैजस रूप है। ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता का विवेक इस भावभूमिका की विशेषता है। सत् और असत् के बीच का अन्तर मंत्रिणी माता स्पष्ट कर देती है। इसलिए मंत्रिणी के गेयचक्र के सहारे श्रीमाता के श्रीचक्र या चक्रराज का साक्षात्कार संभव हो जाता है। लेकिन यह गेयचक्र भी सब की पहुंच में नहीं होता है और सब की समझ में नहीं आता है। निर्मल

वाणी और निश्चल मन के धनी ही इस भूमिका में प्रवेश पा सकते हैं। इस योग्यता को प्राप्त करने के लिए दंडनाथा या वाराही के द्वारा संचालित किरिचक्र का आश्रय लेना पड़ता है जिसका वर्णन अगले श्लोक में प्रस्तुत है:—

किरिचक्र रथारूढ़ दंडनाथा पुरस्कृता।
ज्वालामालिनिकाक्षिप्त वहिन प्राकार मध्यगा॥

जन्म मरण के चक्र में जकड़े हुए जीवन को अजरामर आलोक प्रदान करनेवाला आचरण-चक्र ही परमेश्वरी की सहायिका दंडनाथा का किरिचक्र है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्-शतं समाः—ईशोपनिषद् के इस आदेश वाक्य के अनुसार आदमी अपने नियत कार्यों का आचरण करते हुए सौ वर्ष तक अपनी भौतिक काया के साथ और उससे भी आगे सैकड़ों वर्षों तक अपने आचरण की छाया में आराम से और आनन्द से जी सकता है। मर्त्य की अमरता का रहस्य यही है जिसके आधार पर देवी दंडनाथा का किरिचक्र कर्म का गीत सुनाता है—धर्म की रागिनी में। किरिचक्र कर्म का चक्र है, गेय चक्र ज्ञान का चक्र है और श्रीचक्र या चक्रराज परमेश्वरी की परम पावन भक्ति भावना का प्रतिनिधित्व करनेवाला कैवल्य चक्र है। गेय चक्र पर आसीन मंत्रिणी श्रीमाता की चारों तरफ पहरा देती हैं तो किरिचक्र पर आरूढ दंडनाथा श्रीदेवी के भक्तों की रक्षा करते हुए देवी के आगे-आगे रास्ता साफ करते हुए चलती है।

श्रीमाता स्वयं अग्नि वलय के बीच में प्रतिष्टित हैं। फिर भी आग उनको लगती नहीं क्योंकि वह स्वयं अग्नि के समान पवित्र और उज्ज्वल है। प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाली आंखों के अलावा प्रत्येक प्राणी के ललाट पर जहां बिंदी या टीका का प्रायः धारण किया जाता है, एक तीसरी आंख मौजूद है जो ज्ञान, तेज और ज्वाला का प्रतीक बनकर अन्दर ही अन्दर

जलती रहती है। यह ज्वाला जिसमें जितनी उद्दीप्त रहती है, उतनी परमेश्वरी की कृपा उस पर होती है। दैवी कृपा ओर अन्तर्ज्योति एक दूसरे पर अन्योन्याश्रित हैं। देवी की अनुकंपा से ज्ञान की ज्वाला जलती है और ज्ञान के प्रकाश से देवी का साक्षात्कार होता है। किससे क्या होता है और कैसे होता है, यह निश्चित रूप से विश्लेषणात्मक ढंग से कहा नहीं जा सकता। यही दैवी संयोग है जो केवल देवी की इच्छा पर निर्भर है। देवी के पास किसी की पहुंच ही नहीं है क्योंकि वह ज्वालाओं की माला से बनी हुई प्राचीर के बीच में विराजमान है। इसलिए उस परंज्योति का साक्षात्कार ही उस प्राचीर के भीतर प्रवेश की पात्रता प्रदान कर सकता है।

इतनी विराट् साज सज्जा के साथ श्रीमाता रणक्षेत्र में पहुंच जाती है। भंडासुर का वध करने के लिए उन को स्वयं कुछ नहीं करना पड़ता है। उनकी शक्ति सेना यह काम बड़ी आसानी से कर डालती है। भंड की सेना का भंडा फोड़ने के लिए ब्रह्मांड भर की सेना परमात्मस्वरूपिणी परमेश्वरी का साथ देती है। इसी सहकारिता का वर्णन अगले श्लोक में प्रस्तुत है।

भंड सैन्य वधोद्युक्त शक्ति विक्रम हर्षिता।
नित्या पराक्रमाटोप निरीक्षण समुत्सुका॥

देश और काल के अनंत विस्तार से देश काल से अतीत परमेश्वरी अपनी शक्ति का संग्रह करती हैं। स्वयं अग्निवलय के बीच में रहकर वह सूर्य और चंद्र के प्रकाश से अपने पराक्रम को प्राप्त करती हैं। सूर्य और चंद्र की गति से विभिन्न कलाओं का आविर्भाव होता है। जब सूर्य चंद्रमा के साथ समरेखा में होता है तब चंद्रमा सूर्य के प्रकाश में छिप जाता है। इसी को हम अमावास्या कहते हैं। इसके बाद

धीरे धीरे चंद्रमा सूर्य से अलग होकर अपनी कलाएं प्रदर्शित करने लगता है। प्रतिपदा (पड़वा) द्वितीया (दूज), तृतीया (तीज, चौथ, पंचमी षष्ठी आदि तिथियों में ये कलाएं प्रकट होती हैं। धीरे-धीरे इनका विकास होते.होते चंद्रमा बिलकुल सूर्य के सामने पहुंच कर अपनी सोलह कलाओं को प्रकट करता है। इसी को पूर्णिमा (या पूरणमासी) कहा जाता है। चंद्रमा की इन कलाओं का मानव के मस्तिष्क पर और सागर की तरंगों पर प्रत्यक्ष प्रभाव देखा जा सकता है। इन्हीं कलाओं को नित्य कलाएं या नित्या की संज्ञा दी जाती है क्योंकि ये निरंतर चलती रहती हैं। प्रतिमास पूर्णिमा और अमावस्या की आवृत्ति होती है और इन दोनों घटनाओं के बीच ये नित्या देवताएं अपने मंजुल और मंगलमय रूप से मानव मन को मधुमय आनन्द प्रदान करती हैं। मधु-विधु की इस गतिविधि से माता अपनी नित्याओं को आवश्यक शक्ति, सामर्थ्य और प्रेरणा प्रदान करती है।

जब परमेश्वरी की सारी सेना रण भूमि में अपना पराक्रम प्रदर्शित करती है तो देवी बड़ी उत्सुकता से उनके रण-कौशल का निरीक्षण करती है। इस सामरिक साज सज्जा को देखकर परमेश्वरी की लाडली बेटी बाला भी रणक्षेत्र में आ पहुंचती हैं और भंडासुर के तीस पुत्रों का वध कर डालती हैं। भंडासुर की सारी संतान पलभर में नष्ट हो जाती है। श्री बाला के इस अद्भुत कार्य पर श्रीमाता फूली नहीं समाती और इतने में मंत्रिणी और वाराही भंडासुर के मित्र विषंग और विशुक्र के प्राणों का हरण कर लेती हैं। इस भीषण कांड में जो विघ्न बाधाएं उपस्थित होती हैं, उनको पार करने के लिए परमेश्वरी कामेश्वर के मुख मंडल से प्रेरणा पाकर गणेश्वर था विघ्नेश्वर की सृष्टि करती हैं। इस प्रकार भंडासुर के संहार का उपक्रम होता है और परमेश्वरी की पावन गाथा का श्रीगणेश।

६. शस्त्र प्रत्यस्त्र वर्षिणी

श्री ललिता माता की विजय आत्म वैभव की विजय गाथा है और भंडासुर का प्राणहरण अज्ञान, अहंकार और अत्याचार के उन्मूलन का प्रतीक है। जब तक नश्वर नष्ट नहीं होता तब तक अविनश्वर का आविर्भाव संभव नहीं है, श्रीमाता की शक्ति आत्म शक्ति है, इसलिए अविनश्वर है। भंडासुर का पराक्रम पार्थिव और सारहीन है जिसकी मादकता में वह मत्त रहता है। उसके तीसों पुत्रों को परमेश्वरी की बेटी श्री बाला पल भर में राख बना देती है तो देवी बहुत प्रसन्न होती है। इससे आत्म सेना का हौसला बढ़ जाता है। भंडासुर की संतान जब नष्ट हो जाती है तो उसके मित्र विषंग और विशुक्र अपना पराक्रम दिखाने लगते हैं। इन दोनों को मंत्रिणी और वाराही नाम की देवताएं समाप्त कर देता हैं। इसी के साथ भंडासुर की पराजय और परमेश्वरी की विजय का प्रारम्भ होता है। इसका वर्णन श्रीमाता के अगले नाम प्रस्तुत करते हैं :

भंडपुत्र वधोद्युक्त बाला विक्रम नंदिता।
मंत्रियंबाविरचित विषंगवध तोषिता॥
विशुक्र प्राण हरण वाराही वीर्य नंदिता।
कामेश्वर मुखालोक कल्पित श्री गणेश्वरा॥

परमात्मस्वरूपिणी परमेश्वरी के आत्म वैभव से अनभिज्ञ विषंग और विशुक्र निरीहता और निर्वीर्यता के प्रतीक हैं। विषंग अपने को सब कुछ समझकर अपने आप में मस्त रहनेवाला निरीह प्राणी है जो आत्मा नाम की चीज को पहचान नहीं पाता। सत्संग की वह कल्पना तक नहीं कर पाता। इसलिए उसका नाम विषंग है। यहां पर एक बात ध्यान देने योग्य है।

सांसारिक जीवन के प्रति रागात्मक संबंध का अभाव दो कारणों से हो सकता है—घोर स्वार्थ और विशुद्ध परमार्थ। इन्द्रियसेवी और विषयलंपट व्यक्ति को केवल अपने ही शरीर की चिन्ता रहती है और अपने लौकिक सुख के लिए जो आर्थिक संपन्नता आवश्यक होती है, उसी को बटोरने में वह दिन रात लगा रहता है। यह एकांत स्वार्थ मनुष्य को विषंग अवश्य बनाता है, पर वह सर्व संग परित्यागी योगी नहीं है। योगी भी सांसारिक वासना से दूर रहता है—केवल आत्मिक आनन्द के लिए। आत्मानन्द और अपने आनन्द में काफ़ी अन्तर है। आत्मानन्द व्यक्ति की विराट् भावना से उत्पन्न होता है। उसमें सारा संसार आनन्दमय दिखाई देता है जबकि स्वार्थ और पार्थिव भावना से प्रेरित भोगी का आनन्द एक ही व्यक्ति तक सीमित रहता है और वह भी प्रायः अधूरा और आतंककारी रहता है। यही विषंग का आनन्द है जिसको परमेश्वरी पसन्द नहीं करती है। इसी क्षुद्र आनन्द का निराकरण विषंग के वध में सिद्ध होता है।

विषंग का भाई है—विशुक्र। शुक्र मानव शरीर के तेज, ओज और परम प्रकाश का प्रतीक है। "शुक्रमसि" तेजोऽसि" आदि संबुद्धियों में परमेश्वरी की इसी परंज्योति की ओर संकेत मिलता है। परम प्रकाश का यह वरदान प्रत्येक प्राणी को सहज रूप में मिलता है। अन्तर केवल यही है कि कोई इसका सदुपयोग करता है तो कोई दुरुपयोग। केवल विषय वासना के उपभोग में अपनी इस शुक्रमत्ता का विनियोजन करनेवाले इसके पारलौकिक प्रयोजन से वंचित हो जाते हैं। विशुक्र इसी प्रकार का विषयी है जिसके प्राणों का हरण करनेवाली शक्ति का नाम है—वाराही। वराह श्रेष्ठता का प्रतीक है। "अहम्" का मतलब है—जिसका हनन नहीं हो सकता। इस प्रकार के अक्षय तत्वों में सर्वश्रेष्ठ है—वराह। वराह की विशिष्टता से युक्त देवी शक्ति का नाम है वाराही। विशुक्र नश्वर सुखों में मग्न रहता है जबकि वाराही अविनश्वर, अक्षय और अलौकिक आनन्द

प्रदान करनेवाली देवी है। वाराही के इस वीर्य और पराक्रम पर परमेश्वरी प्रसन्न होती है।

जिस प्रकार वाराही (उदात्त भावनाओं से ओत-प्रोत अक्षय सुख प्रदान करनेवाली देवी) विशुक्र की विनाशोन्मुख विषय लालसा को समाप्त कर देती है, उसी प्रकार दुष्टों के साहचर्य में पड़कर सत्संग के लाभ से वंचित विषंग को मननशील व्यक्तित्व वाली मंत्रिणी नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। इस प्रकार मंत्रिणी और वाराही के द्वारा विषंग और विशुक्र का संहार असत् तत्वों के खंडन और सत् प्रेरणा के मंडन का प्रतीक है।

जब सारी विघ्न बाधाएं समाप्त होती हैं तो परमेश्वरी परमशिव को देखकर श्रीगणेश की सृष्टि करती है। भंडासुर और उसके दोनों भाई विषंग और विशुक्र बाला मंत्रिणी और वाराही के द्वारा नष्ट हो जाते हैं तो देवी का मार्ग प्रशस्त बन जाता है। आनन्द के इन क्षणों में आनन्दमयी देवी परमानन्दमय पति के प्रसन्न और प्रफुल्ल मुख मंडल को एक बार देख भर लेती है तो सामने श्रीगणेश का आविर्भाव होता है। गणेश की यह रूप कल्पना बहुत ही विचित्र और रहस्यमयी है। गणेश और कुमार शिव-पार्वती की विशिष्ट सन्तान हैं और दोनों का आविर्भाव अत्यन्त रहस्यात्मक है। शंकर के अमोघ वीर्य से उत्पन्न शिव कुमार (सुब्रह्मण्य) परम शिव का लाडला बेटा है तो परमेश्वरी की परम शिव भावना से प्रकट गणेश भवानी का प्रिय नन्दन है। इन्हीं दो विशिष्ट विभूतियों का स्मरण करते हुए गोस्वामी तुलसीदास "शंकर सुवन", "भवानी नन्दन" कहकर बड़े मार्मिक तत्व का उद्घाटन करते हैं। श्रीगणेश श्रीमाता का अपना बेटा है जिसमें परमेश्वर के मुखमंडल की आभा प्रतिबिम्बित है। शिव कुमार (स्वामी सुब्रह्मण्य) के आविर्भाव के लिए कम से कम परमेश्वर के वीर्य की आवश्यकता पड़ी, लेकिन महागणेश के प्रकट होने के लिए महेश्वरी का

महासंकल्प ही काफी था और महेश्वर की रूप कल्पना ने इस महासंकल्प को साकार बनाया था।

महेश्वरी के महासंकल्प की महिमा का ही फल है कि इस महान् संकल्प से अभिकल्पित महागणेश सारी विघ्नबाधाओं को अनायास दूर करने में सक्षम हुए हैं। अपने सुपुत्र की इस विघ्नहारिणी विशेषता देखकर परमेश्वरी फूली नहीं समाती। इसी प्रसन्नता और पराक्रम का वर्णन अगले श्लोक में मिलता है :

महागणेश निर्भिन्न विघ्न यंत्र प्रहर्षिता।
भंडासुरेन्द्र निर्मुक्त शस्त्र प्रत्यस्त्रवर्षिणी ॥

परमेश्वरी के प्रशस्त मार्ग में भंडासुर नाना प्रकार की विघ्न बाधाएं उपस्थित करने का प्रयास करता है। पर परमेश्वरी सभी बाधाओं के लिए निवारक साधन प्रस्तुत करती हैं और उनका प्रिय नन्दन विघ्नेश्वर इस महान् कार्य में उनका साथ देता है। गणेश यंत्रवत् यातनाओं को नियंत्रित करने में समर्थ होते हैं तो उनकी माता परमेश्वरी अपने प्रतियोद्धा भंडासुर के प्रत्येक शस्त्र का जवाब अपने अमोध अस्त्रों से देती हैं। शस्त्र भौतिक होता है और अस्त्र मानसिक। शारीरिक बाधाओं का निवारण मनोबल से किया जाता है और शारीरिक यातनाओं से मुक्त मानस-मराल आत्मा की ओर अभियान आरंभ करता है।

परमेश्वरी सृष्टि बहुत ही विलक्षण है। उनके की हाथ की उंगलियों से नारायण के दस रूप प्रकट होते हैं। मत्स्य, कूर्म, वराह आदि दस अवतार देवी की दस उंगलियों के नाखूनों से प्रकट होते हैं। मानव शरीर देवी का मन्दिर है तो इस शरीर का प्रत्येक अंग दैवी आभा से ओतप्रोत है। आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य के हाथ सबसे पवित्र माने जाते हैं। इन्हीं

हाथों से परमात्मा की पूजा संपन्न होती है। खाना, पीना, काम करना, देना, लेना, डराना, धमकाना आशीर्वाद और अभय देना आदि सभी कार्य हाथों से ही सम्पन्न होते हैं। कहा जाता है कि हमारे हाथ के अग्र भाग में लक्ष्मी निवास करती है, मध्य भाग में सरस्वती रहती है और मूल भाग में महेश्वरी विराजमान रहती है। इसीलिए प्रभात में सोकर उठते ही अपना हाथ देखने की सलाह दी जाती है। 'कराग्रे वर्तते लक्ष्मी, कर मध्ये सरस्वती करमूले तो शर्वाणी, प्रभाते कर दर्शनम्'' वाली स्मृति इसका प्रमाण है। ऐसी करांगुलियों के नाखूनों से परमात्मा के दस अवतारों के प्रकट होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसी रहस्य का उद्घाटन अगले श्लोक में किया जाता है।

करांगुलि नखोत्पन्न नारायण दशाकृतिः।
महापाशुपतास्त्राग्नि निर्दग्धासुर सैनिका ॥

हाथ सभी जानवरों के होते हैं, पर मनुष्य के हाथ कुछ विशिष्टता से युक्त होते हैं। इनमें कर्मण्यता के अलावा मनस्विता भी होती है। आदमी सोच समझकर काम करता है जबकि दूसरे जानवर स्वभाव से प्रेरित होकर विवश बनकर काम करते हैं। अक्सर लोग कहते हैं कि हमारे हाथ में क्या है? लेकिन हाथ में सचमुच सब कुछ है। हाथ और हथेली के संचालन में आदमी का व्यक्तित्व बोल उठता है। जिस व्यक्ति के हाथ में जितनी पवित्रता, मनस्विता और मधुरिमा होती है उसका व्यक्तित्व उतना ही दिव्य माना जाएगा। परमेश्वरी का वरद हस्त इसी प्रकार की लोकोत्तर भव्यता और दिव्यता से ओतप्रोत होता है। इसीलिए उनके हाथ की उंगलियों के नाखूनों से सारी चराचर सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। इस दैवी शक्ति के सामने आसुरी शक्ति कितनी भी बलवती हो, टिक नहीं सकती। संसार के सभी प्राणी पार्थिव दृष्टि से पशुओं के समान हैं लेकिन

अपार्थिव और अध्यात्मिक दृष्टि से उन्हीं के अन्दर पशुपतिनाथ विराजमान हैं। उन्हीं की प्रेरणा से पशुतुल्य मानव सोचने विचारने लगता है अपने को पहचान पाता है और अपने भीतर की पाशुपत भावना का साक्षात्कार कर लेता है। जब मृण्मय मानव को अपनी हिरण्मय चेतना का अनुभव होने लगता है तब सारा अज्ञान दूर हो जाता है और सच्चे ज्ञान का उदय होता है।

जब भंडासुर की सारी सेना इसी पाशुपत अस्त्र के प्रयोग से नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है तब परमेश्वरी उसकी चमकीली पर सारहीन नगरी को भी जला देती है। भंडासुर जिस महानगर में रहता है, उसका नाम ही शून्यक है। तात्विक दृष्टि से देखा जाए तो उस नगर का सारा वैभव शून्य के बराबर है, उसमें कोई तत्व की बात नहीं है। ऊंचे-ऊंचे मकान, रंग-बिरंगे महल, आसमान को चूमनेवाली अट्टालिकाएं, सोने-जवाहिरात से भरी पड़ी साज सज्जा—ये सबके सब क्षणभंगुर हैं। इनमें से कोई भी चीज़ आदमी को अमर नहीं बना सकती है। आदमी को अमरत्व प्रदान करनेवाली वस्तु उसका आत्म ज्ञान है, उसकी ब्रह्म भावना है और उसके अन्दर का आनन्द है जो बाहरी तड़क-भड़क और सुख समृद्धि से अलग है। संसार की सारी सम्पत्ति वास्तव में शून्य है और सर्वात्मा की सर्वव्यापक सत्ता ही संसार का वास्तविक सार है जो हमेशा अपने में पूर्ण रहती है और उसके लिए बाहर के किसी लौकिक साधन की अपेक्षा नहीं रहती है। शून्य से पूर्ण की ओर इस आध्यात्मिक अभियान का वर्णन अगले श्लोक में किया जाता है :

कामेश्वरास्त्र निर्दग्ध सभण्डासुर शून्यका।
ब्रह्मोपेंद्र महेंद्रादि देव संस्तुत वैभवा॥

संसार की सारहीनता और शून्यता को समझने के लिए कामेश्वर की कृपा आवश्यक है। काम वासना और कामनाओं पर जब तक विजय नहीं होगी तब तक सांसारिक वासनओं का खोखलापन समझ में नहीं आता। काम वासना के माया जाल में जकड़े हुए जीव को नश्वर सुख नवनीत सा दिखाई देता है, शून्य ही पूर्ण सा प्रतीत होता है, मिथ्या पर यथार्थ का रंग चढ़ा नजर आता है। इस आवरण को हटाने में कामेश्वर का अमोघ अस्त्र सक्षम होता है। कामदेव को पलभर में नष्ट करनेवाला अस्त्र कामेश्वर के पास मौजूद है और यही अस्त्र भंडासुर को उसके महानगर शून्यक के साथ भस्मसात् कर देता है। जब मन में किसी चीज की कामना नहीं रहती है तब दुनियादारी का खोखलापन अपने आप खुल जाता है और सारी माया, ममता और मोह का मधुर जाल पल भर में कट जाता है।

कामेश्वर की इस विजय पर प्रसन्न होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेन्द्र उन की प्रशंसा करते हैं। आत्म वैभव की महत्ता को पहचान कर सभी देवता परमेश्वरी और परमेश्वर—परम पुरुष और परा प्रकृति की मुक्त कंठ से स्तुति करते हैं।

कामेश्वर काम के कमनीय रूप को एक ही क्षण में नष्ट कर देते हैं। पर कामेश्वरी करूणामयी हैं, कामदेव के इस तिरोधान को वह सह नहीं सकती, रति का विलाप वह सुन नहीं सकती, मानवता को ममता के मंगलमय बंधन में आबद्ध करनेवाले मंगल काम को, जो परमेश्वर के क्रोधानल में जल चुका है, वह फिर से जिला देती है। कामवासना धर्म सम्मत होने पर मंगलमय बन जाती है। इसलिए धर्म संवर्द्धिनी कामेश्वरी कठोर हृदय कामेश्वर की भूल को सुधार लेती है और विशुद्ध धार्मिक धरातल पर मंगलमय काम की ममतामयी प्रतिष्ठा बनाए रखती है। वास्तव में काम परमात्मा की ही सृष्टि है। इसलिए स्रष्टा को अपनी सृष्टि के प्रति अनुराग

सहज रूप से होता है। कभी कभी पिता अपने बेटे को डांटता है, पर माता उसे पास बुलाकर समझा बुझाती है, सांत्वना देती है और सही रास्ते पर ले जाती है। बिलकुल यही बात कामदेव के संबंध में भी समझनी चाहिए। क्षणिक आवेश में आकर परमेश्वर ने कामदेव की भौतिक काया को भस्म-सात् कर दिया था। लेकिन करूणामयी कामेश्वरी ने अशरीरी रूप में ही सही कामदेव की कमनीय छाया को सब के हृदय में बसा दिया। इसलिए प्रत्येक प्राणी के भीतर "मधुर प्राकृतिक भूख" के समान जो सात्विक काम वासना जगी रहती है, उसे परमेश्वरी का प्रसाद समझकर उसका धर्म सम्मत सेवन करना दैवी आराधना का ही रूप होगा। इसी विचार को पल्लवित करनेवाला नाम अगली पंक्ति में सुनाई देता है :

हरनेत्राग्नि संदग्ध काम संजीवनौषधिः—परमेश्वरी के नाम का प्रत्येक अक्षर प्राणशक्ति से परिपूर्ण है। कामदेव को राख बनानेवाले कामेश्वर के लिए यहाँ पर "हर" शब्द का प्रयोग किया गया है। सब का हरण करने-वाला हर है। प्रजापति की सृष्टि में जो अहितकर है, अनावश्यक है और अशोभनीय है, उसको समाप्त करना शंकर का काम है। इसीलिए उन को "हर" कहा गया है। इसी हर की तीसरी आँख से निकलनेवाली आग ने काम को जला दिया था। यह तीसरी आंख प्रत्येक प्राणी में मौजूद है। बाहर से दिखाई देनेवाली दो आँखें बाहर की तरफ खुली रहती हैं और भीतर ही भीतर प्रकाशित होने वाली तीसरी आँख ललाट के भीतर आभ्यंतर आलोक का आनंद लेती रहती है। यह आँख जब खुल जाती है तब सारा अंधकार प्रकाश का रूप धारण कर लेता है, अज्ञान का स्थान ज्ञान ग्रहण कर लेता है और आत्म तत्व का बोध हो जाता है। अज्ञान का आवरण हट जाने के बाद भी ज्ञानी जीवन्मुक्त बन कर जीवन यापन करता है। इसी जीवन्मुक्त दशा की ओर इस नाम में मार्मिक संकेत है। परमेश्वर मुक्ति प्रदान करता है और परमेश्वरी उस मुक्ति का लाभ समस्त संसार

को पहुंचा देती हैं। विनाश में ही विकास का बीज है। काम वासना कामी को विनाश की ओर ले जाती है और कामेश्वर को विकास की ओर। यही परमेश्वरी के इस नाम में निहित परमार्थ है।

—:o:—

७. कौलिनी कुलयोगिनी

श्रीमाता की शिव कामना ही संसार की शृंगार भावना का मूल है। संसार के कण कण में सौंदर्य की सृष्टि करनेवाली त्रिपुर सुन्दरी ही प्रत्येक प्राणी में प्रेम भावना का प्राकृतिक बीज बोती है और इसी प्रेम के पावन सेवन के माध्यम से पांचभौतिक जीव पहले शुद्ध पार्थिव आनंद का अनुभव करता है जो धीरे-धीरे परिवर्तित और परिमार्जित होकर आत्मा के अनिर्वचनीय आनंद का रूप धारण करता है। आम तौर पर काम के नाम से प्रचलित प्रेम भावना लौकिक स्तर पर शारीरिक सुख प्रदान करती है और अलौकिक स्तर पर शाश्वत सुख या परमानन्द का प्रणयन करती है। इसीलिए धर्म सम्मत काम को मंगलमय माना गया है। काम वासना मनुष्य को पशुतुल्य भी बना सकती है और देवता के समान भी। काम का आराधक मानव जब लौकिक प्रेम को आलौकिक प्रेम के आभास और अवलंबन के रूप में स्वीकार करता है तब प्रेम सार्थक बन जाता है और वह व्यक्ति की सीमा को पार कर विराट् की शक्तिमत्ता का साक्षात्कार कर पाता है। प्रेम की इन्हीं विभिन्न भूमिकाओं को देवी अपने विभिन्न रूपों में प्रकट करती है।

स्थूल रूप से देखने पर शारीरिक सौंदर्य ही आनंद का अविलंब आधार प्रतीत होता है। पर सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसी अस्थि चर्ममय देह के रक्त मांस के पंकिल आवरण के पीछे एक ऐसी परम रमणीयता का भंडार दिखाई देता है जिस के सामने समस्त संसार का सौंदर्य भी सारहीन और क्षण भंगुर प्रतीत होता है। इसीलिए श्रीमाता की श्री सहस्रिका के प्रारंभ में देवी को महालावण्य शेवधि या महत्तम सौंदर्य की सीमा के रूप में प्रस्तुत

किया गया है। रूप के साथ पाप का सनातन संबंध है। पाप का परिहार होने पर रूप निखर उठता है और दिव्यत्व को प्राप्त करता है। भंडासुर और उसकी सेना का वध इसी पाप परिहार का परिचायक है। दुष्ट शक्तियों के दमन के पश्चात् देवी का दिव्य रूप सामने आता है जिसका प्रतीकात्मक वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम के अगले तीन नामों में मिलता है।

श्रीमद् वाग्भव कूटैक स्वरूप मुख पंकजा ।।
कण्ठाधः कटिपर्यंत मध्य कूट स्वरूपिणी।
शक्ति,कूटैकतापन्न कट्यधो भागधारिणी ।।

इनमें से पहला नाम है - श्रीमद् वाग्भव कूटैक स्वरूप मुख पंकजा। यह पूरे सोलह अक्षरों का नाम है जो श्रीमाता के मुख मंडल की मार्मिक महत्ता का मधुर शब्दों में वर्णन करता है। देवी का मुख कमल के समान है। यह कमल पंक या कीचड में से पैदा हुआ है । लौकिक दृष्टि से देखने पर भी किसी स्त्री या पुरुष का चेहरा देखने में बहुत आकर्षक लगता है। लेकिन वास्तव में देखा जाए तो वह हड्डियों का मांसल और रक्तिम आकार ही तो है। जिस आधारभूत सामग्री से मुख का निर्माण हुआ है, वह अपने में कोई आकर्षक नहीं है। विश्लेषण करके देखने से मुख में त्वचा है, हड्डियाँ हैं, मांस है और खून है । लेकिन संश्लिष्ट रूप से वह कुल मिलाकर कितना अच्छा लगता है ! कानों के बीच में नाक के ऊपर बरौनियों से सजी हुई कजरारी आँखें देखने में कितनी लुभावनी लगती हैं ! देखकर संसार पागल हो जाता है। नाक के नीचे सरसता के अक्षय स्रोत के रूप में विद्यमान अधर सुधा के सुंदर कलशों के समान संसार को प्यासा बनाते हैं। सबसे अधिक आकर्षक लगने वाली इन ओठों से जब मीठी-मीठी बातें निकलती हैं और बातों के बीच बीच में जब हल्की मुसकान अपनी कोमल छाया में समस्त वायुमंडल को आश्रय प्रदान करती है तो मानव मात्र

का यह मुखमंडल कितना मधुर, कितना मादक और कितना मोहक दिखाई देता है इसका आभास देवी के मुख कमल के इस वर्णन में मिलता है। जैसे समस्त जीव-जगत् का, वैसे देवी का मुख-मंडल भी वाणी का उद्गम स्थान है। इसलिए उसको वाग्भव कूट कहा गया है। वाणी के माध्यम से ही मुख मुखरित होता है। मुख की सारी शोभा चाहे कितनी भी आकर्षक हो, वाणी के बिना उसका सौंदर्य पूरा नहीं होता। जिस मुँह से मीठी आवाज़ नहीं निकलती है, उसकी सारी शोभा गूँगे की रूप माधुरी के समान आस्वाद्य नहीं बनती है। इसलिए वाणी ही मुख का अंलकार है जो देवी के मुख की प्रमुख विशेषता है। कमल के समान कोमल मुख मंडल से अक्षर अक्षर में अमृत बरसाने वाली आकर्षक वाणी निकलती हो तो उस मुख सौंदर्य का कहना ही क्या? श्रीमाता का मुख मंडल ऐसी ही दिव्य शोभा से अनुप्राणित है।

माता ललिता का अगला नाम है—"कंठाधः कटि पर्यंत मध्य कूट स्वरूपिणी" कंठ से लेकर कमर तक देवी के शरीर का मध्य कूट फैला हुआ है। वाग्भवकूट की तरह मध्यकूट खुला हुआ नहीं रहता, अधिकांश भाग आच्छन्न (ढका हुआ) रहता है। यह भी ध्यान देने की बात है कि वाग्भव कूट या मुख मंडल में शरीर के नौ द्वारों में से सात द्वार बाहर की तरफ खुले हुए मिलते हैं जब कि मध्य कूट में कोई भी द्वार खुला नहीं होता। पर यह मध्यकूट वाग्भव कूट के परिचालन में सहायक होता है। उदाहरण के लिए ओठों से निकलने वाली बातें नाभि से ही निकलती हैं और चेहरे पर दिखाई देने वाली मुद्रा, चाहे वह प्रसन्नता की हो या उस के विपरीत, दिल की चाल से ही संचालित होती है। इस प्रकार मध्यकूट वाग्भव कूट को संचालित करने में सहायक होता है। इसलिए मुखमंडल की शोभा बढ़ाने में इसका भी हाथ है। इसके अलावा मध्य कूट का भी अपना सौंदर्य होता है। चंचल और चमकीली आंखों में जितना सौंदर्य होता है, उभरे हुए वक्षस्थल से उस

से कम सौंदर्य निष्पन्न नहीं होता । उठने, बैठने और चलने फिरने में शरीर के मध्यभाग का सहयोग काफी मात्रा में आवश्यक होता है और शारीरिक स्वास्थ्य और सौष्ठव का सबसे अधिक श्रेय इसी मध्यभाग को मिलता है । इसलिए देवी का मध्यकूट भी दिव्यता का उतना ही महत्वपूर्ण केंद्र है जितना उनका मुख मंडल या वाग्भव कूट ।

कमर के नीचे का भाग शक्तिकूट कहा जाता है । सामर्थ्य, सौभाग्य और शालीनता के संवर्द्धन में इस शक्तिकूट का बहुत बड़ा हाथ होता है । प्राणि मात्र की शक्ति का प्रमुख केंद्र यही है और इसीलिए इसको मूलाधार कहा जाता है । शक्तिस्वरूपिणी देवी का प्रमुख निवास स्थान यही है । परमेश्वरी का यह शक्ति-रूप किसी में जागृत और किसी में सुप्त रहता है। शक्तिकूट का यह शाक्त रूप जब जाग उठता है तब व्यक्ति की चेतना विकास की ओर उन्मुख हो जाती है । कमर से नाभि, नाभि से हृदय, हृदय से कंठ, कंठ से ललाट और ललाट से कपाल तक यह शक्ति-चेतना संचरित होकर सहस्रार चक्र में विराजमान आनंदमयी देवी के चरणामृत से स्वयं आप्लावित होकर शरीर के अंग अंग को उससे रसाप्लावित कर देती है । इसलिए शक्तिकूट ही पराशक्ति का प्रधान स्रोत है । इसी शक्तिकूट में प्रतिष्ठित परमेश्वरी का स्वरूप इस सहस्रनाम का अगला नाम प्रस्तुत करता है **"शक्तिकूटैकतापन्न कट्यधोभागधारिणी"** ।

इस प्रकार देवी के अवस्थान के तीन केन्द्र या कूट स्पष्ट दिखाई देते हैं वाग्भव कूट, मध्य कूट और शक्ति कूट । ये तीनों अलग होते हुए भी एक दूसरे से जुडे हुए हैं । प्रत्येक प्राणी की शारीरिक संरचना में भी ये तीनों कूट अलग अलग दिखाई देते हैं जिनका समेकित स्वरूप ही शरीर या देह कहलाता है । यही शरीर अशरीरी आत्मा का आनंद निलय है । बाहर से देखने पर हाड मांस, खून-पसीना आदि का सजा धजा आकार सा दिखाई

देता है। पर इसी वसा-पंकिल आवास में सर्वभूतनिवासिनी देवी विराजमान है। वह कहां है, किस रूप में है और उनका साक्षात्कार कैसे हो सकता है, यही इस सहस्रनाम के अगले नाम बताते हैं। यह शरीर ही परमेश्वरी की रमणीय रूप रेखा को अंकित करने वाला यंत्र है। इस शरीर के वाग्भव कूट से निकलनेवाली वाणी ही परमेश्वरी के वाग्विलास को चित्रित करनेवाला मंत्र है। शरीर की चाल चलन ही उस देवी की गतिविधि का प्रतिनिधित्व करने वाला स्वतंत्र तंत्र है। इस प्रकार परमेश्वरी का स्थूल सौंदर्य, सूक्ष्म सौंदर्य, यांत्रिक स्वरूप, मांत्रिक महत्व और तांत्रिक विधान इसी मनुष्य शरीर पर आधारित है। इसीलिए उपनिषदों में बार बार यह उपदेश दिया जाता है कि जब तक यह शरीर हमारे साथ है उसी बीच जल्दी से जल्दी इसी शरीर के भीतर की अशरीरी, अविनश्वर और अनिर्वचनीय आनंदमयी लीला को हृदयगमं करना आवश्यक है। इसी समन्वय की ओर संकेत करते हुए श्रीसहस्रिका का स्तोत्र आगे बढता है :

मूल मंत्रात्मिका मूल कूटत्रय कलेबरा।
कुलामृतैक रसिका कुल संकेत पालिनी॥

प्रत्येक देवता की आत्मा किसी विशिष्ट मंत्र में निहित होती है। जैसे प्रणवनाद परमात्मा का पर्यायवाची पद है, वैसे ही प्रत्येक देवी-देवता का अपना एक मांत्रिक और मार्मिक संकेत होता है। लौकिक दृष्टि से देखने पर भी प्रत्येक व्यक्ति की अपनी वाग्वैखरी होती है। प्रत्येक का बोलने का ढंग अलग अलग होता है। बोली से आदमी पहचाना जाता है। इसी प्रकार मंत्र से माननीय देवता को आत्मसात् कर लिया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक देवता किसी न किसी मंत्र से निमंत्रित होता है और प्रत्येक मंत्र किसी न किसी देवता की आत्मा का प्रतीक होता है। श्री माता सभी देवी देवताओं की जननी है, इसलिए उनको निमंत्रित करने वाला मंत्र मूल मंत्र होता है

जिसमें उन की आत्मा का आवास होता है। इसीलिए उनको "मूल मंत्रात्मिका" कहा गया है।

अगला नाम है—"मूल कूटत्रय कलेवरा"। कूटत्रय से आशय है—वे तीन प्रधान कूट जिन का विस्तार से ऊपर वर्णन किया गया है। वैसे ये तीनों कूट प्रत्येक प्राणी के शरीर में होते हैं। पर देवी के दिव्य शरीर के जो प्रधान कूट हैं, वे समस्त प्राणियों के कूटत्रय के मूल आधार हैं। इसीलिए उनको मूलकूटत्रय कहा गया है। देवी का दिव्य शरीर वह मूल बिंदु है जिस का बिंब या प्रतिबिंब प्रत्येक प्राणी के भीतर दिखाई देता है। हमारी दृष्टि देखने में सक्षम तभी होती है जब देवी की दृष्टि उसके पीछे हो। हमारे कान सुनने में तभी समर्थ होते हैं जब देवी की श्रुति उनका साथ दे। इसी प्रकार हमारे शरीर के समस्त अंगों की सार्थकता और सक्षमता के बारे मे समझना चाहिए। कूटत्रय का यह मूल-शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक—तीन प्रकार का हो सकता है। स्थूल सौंदर्य में वह शारीरिक होता है, मांत्रिक महत्व में वह मानसिक बन जाता है और अखंड आनंद की अक्षय निधि के रूप में वह आध्यात्मिक रूप धारण करता है। तीनों रूपों में देवी का यह कूटत्रय सकल चराचर सृष्टि का मूल आधार बनता है। जैसे देवी के दिव्य रूप में, वैसे किसी मंत्र के अक्षर कलेवर में भी तीन कूट होते हैं—शिरोभाग मध्यभाग और पाद-भाग। प्रसिद्ध मंत्र-राज गायत्री में भी इसी प्रकार के तीन भाग देखे जा सकते हैं। "तत्सवितुरर्वरेण्यम्", "भर्गो देवस्य धीमहि" और "धियो यो नः प्रचोदयात्—गायत्री मंत्र के तीन भाग, पाद या कूट हैं। इसी प्रकार का कूटत्रय बाला त्रिपुर सुंदरी, पंचदशी, श्रीविद्या आदि मंत्रों में भी परिकल्पित हैं। इसलिए मंत्र की अभिकल्पना उस मंत्र के द्वारा मननीय देवता की रूप-कल्पना को साक्षर रूप प्रदान करती है। मंत्र ही देवी का शरीर है। इसीलिए यहां पर देवी को "मूल कूटत्रय कलेवरा" कहा गया है।

शरीर के इन तीन कूटों को सम्मिलित रूप से "कुल" की संज्ञा दी जाती है। कुल मिलाकर किसी प्राणी के शरीर तत्व का सार इन्हीं तीन कूटों में समाविष्ट रहता है। पैरों से लेकर सिर तक का सारा शरीर 'कुल' कहलाता है जिस में कंठ से ऊपर का भाग सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। कहा जाता है कि ललाट के ऊपर कपाल के नीचे श्रीललिता परमेश्वरी सहस्रदल कमल में निवास करती हैं जहां अखंड आनंद का अमृत हमेशा लहराता रहता है। इसी आनंदामृत को कुलामृत कहा जाता है। यही अमृत नश्वर शरीर को अमरत्व प्रदान करता है। इसी को रस की संज्ञा दी जाती है। रस ही परमात्मा का स्वरूप है। देवी रसमयी है और साधक रसयिता है। रसमयी और रसयिता के बीच संधान का काम करने वाला यह पांच भौतिक शरीर, जिसको यहां "कुल" कहा गया है, देखने में क्षणभंगुर है, पर परखकर निरखने से अमृत का भंडार सिद्ध हो सकेगा। शरीर के भस्मसात् होने पर भी शरीर के भीतर का यह अमृतत्व अनंत आलोक में अपना चिरंतन प्रकाश अथवा चित्प्रकाश फैलाता रहता है। इस अमरत्व और आनंदतत्व का आस्वादन परमेश्वरी की कृपा से ही संभव होता है। वह कुलामृत का स्वयं आस्वादन करती हैं और दूसरों को कराती भी हैं। रस वही हैं, रसमयी भी वहीं हैं और रसयिता भी वही हैं। वही ध्यान हैं, वही ध्यातव्य हैं और वही ध्याता हैं। माता, मेय और मान-तीनों का वह सम्मिलित रूप है। संसार का मापन करने वाली माता या मात्री वही हैं, सारा संसार उन्हीं के वैभव का मापन करने का प्रयास करता है और संसार के समस्त मानों का वही माप-दंड है।

यह सारा कुल उन्हीं की रचना है। इसलिए अपनी रचना की देखरेख करने का दायित्व भी उन्हीं के ऊपर है। इसी दायित्व की ओर संकेत करता है देवी का अगला नाम—कुल संकेत पालिनी। प्राणि जगत् ही कुल है जिसका पालन पोषण प्राणदात्री परमेश्वरी प्रेम से करती हैं। प्राणी के शरीर में प्राण

शक्ति के रूप में परमेश्वरी ही विचरण करती हैं। मूलाधार से लेकर सहस्रार तक मानव शरीर के विभिन्न केन्द्रों पर देवी के विभिन्न रूप दिखाई देते हैं। कहीं साकिनी के रूप में, कहीं काकनी के रूप में, कहीं लाकिनी के रूप में, कहीं राकिनी के रूप में, कहीं डाकिनी के रूप में कहीं हाकिनी के रूप में और कहीं सर्वांतर्यामिणी याकिनी के रूप में वह मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा आदि चक्रों में विराजमान होती हैं। कान, नाक, आंख की तरह ये स्थान सब को दिखाई नही देते। ये संकेत स्थल हैं जहां पर सर्व मंगला का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार वह कुल का ही नहीं, बल्कि कुल के संकेतों का भी पालन करती है। अपने द्वारा बनाए गए नियमों, संकेतों व आदेशों का वह स्वयं पालन करती हैं और दूसरों से कराती हैं। यह एक विशिष्ट कूट भाषा (कोड लैंग्वेज) है जो परमेश्वरी के कूटत्रय भाषा-कलेवर का रहस्य जानने वाला ही समझ सकता है। इस कूटभाषा की कुँजी उन्हीं के पास है।

इस कूट भाषा के माध्यम से कलभाषिणी कल्याणी के पास पहुंचने के लिए दो प्रशस्त और परम्परागत मार्ग हैं- कौल मार्ग और समय मार्ग। कौल मार्ग कुल में रहते हुए कुलांगना के सहयोग से कैवल्य पद को प्राप्त करने का कर्मयोग है जबकि समय माग या समयाचार ज्ञान और ध्यान के माध्यम से संयम के सहारे सहस्रदल कमल में निवास करने वाली सरसिज निलया देवी का साक्षात्कार करने का संयत और संतुलित साधुमार्ग है। कौल मार्ग को वामाचार भी कहा जाता है और समयाचार को दक्षिणाचार। कौल मार्ग में कामवासना का सेवन वर्जित नहीं है, बल्कि कामिनी के अतिरिक्त मांस, मदिरा, मुद्रा, आदि पांच मकारों का भी सेवन विहित होता है। पर इसमें अधिक संतुलन आवश्यक होता है। अन्यथा साधक के पथ भ्रष्ट होने की बहुत बड़ी आशंका होती है। इसके विपरीत समयाचार

का मार्ग सीधा-सादा और निरापद होता है। गार्हस्थ्य और सन्न्यास में जो अन्तर है, लगभग वही अंतर कौल मार्ग और समयाचार में होता है। गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए और काम का यथेष्ट सेवन करते हुए भी परमेश्वरी के सान्निध्य का अनुभव किया जा सकता है। वास्तव में प्रत्येक स्त्री परमेश्वरी का ही प्रतिरूप है। स्त्री की सश्रीकता को स्वस्थ दृष्टिकोण से समझने और आत्मसात् करने से देवी की दिव्यता का धीरे धीरे बोध हो जाता है। लेकिन आम तौर पर औसत आदमी नारी के बाह्य सौंदर्य और वासनामय व्यक्तित्व का शिकार बनकर कामाक्षी की कृपा प्राप्त करने के बजाय कामिनी के धिक्कार का भागी बन जाता है। योग भोग में बदल जाता है और साधक अपने ही मार्ग का बाधक बन जाता है। समयाचार मे इस तरह का खतरा नहीं है। लौकिक विषय वासना के लिए उसमें कोई स्थान नहीं है। यम, नियम, सयम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, समाधि आदि प्रशस्त साधनों से समयमार्गी आगे बढ़ता है। शिव और शक्ति का सामरस्य ही इस साधना का सार है। शिव सायुज्य ही साधक का लक्ष्य है। साधक और साध्य, आराधक और आराध्य, जीव और ब्रह्म, प्रकृति और पुरुष तथा तत् और त्वम् का एकाकार होना ही समयाचार की संविदा है। सविदा का दूसरा नाम ही समय है जिस को आचरण में लाना ही समयाचारी की साधना का रहस्य है। "संवित्" ही कामेश्वर है और संविदा कामेश्वरी है। कामेश्वर और कामेश्वरी के सायुज्य का साक्षात्कार करने के लिए कौल मार्ग और समयाचार दोनों उपयुक्त हैं। साधक की योग्यता और रुचि के अनुकूल मार्ग का चयन किया जाता है। परमेश्वरी की दृष्टि में दोनों बराबर हैं। श्रीमाता की यही सम दृष्टि श्रीललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में स्पष्ट हो जाती है :—

कुलांगना कुलांतस्था कौलिनी कुल योगिनी।
अकुला समयांतस्था समयाचारतत्परा ॥

इस श्लोक का पहला नाम है—कुलांगना। कुल को पवित्र बनानेवाली कुलवधू या पुण्यांगना के रूप में पार्थिव शरीर में परमेश्वरी की भावना करनी चाहिए। कुल की अंगना वह तभी बनती है जब वह कुल के भीतर रहती है। परमेश्वरी कुल या शरीर को छोड़कर कहीं नहीं जाती है। वह हमेशा शरीर की रखवाली करते हुए शरीर के भीतर ही रहती हैं। जब तक प्राण हैं, तब तक वह शरीर के भीतर ही रहती हैं। शरीर या कुल के जो भी गुण-धर्म होते हैं, उन सब की वही स्वामिनी हैं। श्रीमती कौल जैसे कौल परिवार की मर्यादा का पालन करते हुए कौल के घर में रहती हैं, उसी प्रकार कौलिनी देवी कुलांतस्था होकर कुलांगना का कर्तव्य निभाती रहती हैं। इसीलिए उन को कुलयोगिनी भी कहा गया है। कुल में कोई वैषम्य या वैमनस्य की भावना पैदा न हो इसका भी वह ध्यान रखती हैं। शरीर में प्रत्येक अंग का अपना महत्त्व होता है और प्राण शक्ति सर्वत्र समान रूप से संचरित होती है। सारे अगों के इस शरीर रूपी समुदाय या कुल में पारस्परिक सहयोग को सुनिश्चित करनेवाली साध्वी गृहिणी को कुल योगिनी की संज्ञा दी गई है।

कुल में रहते हुए भी वह कुल पर निर्भर नहीं हैं। कुल से स्वतंत्र भी रह सकती हैं। इसीलिए उनको "अकुला" कहा गया है। शरीर के भीतर रहते हुए भी वह शरीर से निरपेक्ष एक ऐसे संकेत-स्थान पर रहती हैं जिसको समय की संज्ञा दी जाती है। कुल से परे होने पर वह इसी समय-सीमा को आवासित करती हैं। इसीलिए उनका नाम "समयांतस्था" रखा गया है। इस श्लोक का अंतिम नाम है "समयाचार तत्परा"। कुल मर्यादा का पालन परमेश्वरी को जितना अभीष्ट है, समयाचार की संयत साधना भी

उनके लिए उतनी ही प्रिय है। दैवी भावना से जो भी आचरण में लाया जाता है वह श्रेय और प्रेय का समान रूप से साधक बन जाता है । संभल कर अनुभव करनेवाला भोगी भी तात्विक दृष्टि से योगी ही होता है और असंयत योगी भी भोगी बन सकता है । वास्तव में योग और भोग का संतुलित सामंजस्य ही जीवन-साधना का सात्विक लक्ष्य है। यही परमेश्वरी की आराधना का परम फल है। सभी साधन उसी साध्य की सिद्धि में सार्थक बन जते हैं।

— ० —

८. बिसतंतु तनीयसी

वाग्भवकूट, मध्यकूट और शक्तिकूट को अपना कोमल, शांत और कलामय कलेवर बनाकर प्रत्येक प्राणी के भीतर पराशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित परमेश्वरी का आभ्यंतर सौन्दर्य पिछले चौदह नाम प्रस्तुत कर चुके हैं। अब अगले दस बारह नामों में इसी सौन्दर्य के सात्विक संचार का सारगर्भित वर्णन प्रस्तुत किया जाएगा। 'श्रीमद्वाग्भव कूटैक स्वरूप मुख पंकजा' से लेकर "समयाचार तत्परा" तक के चौदह नाम मुख से मूलाधार तक की स्थितिज (Potential) ऊर्जा का वर्णन करते हैं तो "मूलाधारैक निलया" से "बिसतंतु तनीयसी" तक के आगे आनेवाले नाम मूलाधार से लेकर सहस्रार तक मूलशक्ति की संयत गतिशीलता और गतिजन्य (Kinetic) ऊर्जा का ओजस्वी वर्णन प्रस्तुत करेंगे। कुलांगना की कुसुम कोमल चेतना की भाँति परमेश्वरी की प्राण शक्ति कभी कुल (कलेवर) के भीतर और कभी उससे बाहर, कभी समयबद्ध होकर और कभी समय सीमा को पार कर, कभी स्थूल रूप में और कभी सूक्ष्म बनकर साधकों की मन की आंखों के सामने प्रकट होती है। यह कहाँ पर, किस रूप में और किस प्रकार संभव होता है, इसी का वर्णन आगे प्रस्तुत है।

इस प्रसंग का पहला नाम है—मूलधारैक निलया। मेरूदंड (रीढ़ की हड्डी) का सबसे नीचे का हिस्सा मूलाधार कहलाता है। यहीं पर पराशक्ति का शक्तिकूट भी बसा हुआ है। यही मूलाधार परमेश्वरी का स्थायी निवास है, चिर निलय है। कमर से ऊपर शरीर का जितना हिस्सा होता है, उसके लिए सुदृढ़ आधार यही प्रदान करता है। इसीलिए इसको मूलाधार कहा गया है। शारीरिक संक्रिया की दृष्टि से भी यहीं से सर्जन और

विसर्जन की दोनों क्रियाएं चलती हैं। समस्त संसार की सृष्टि यहीं से होती है और इस सृष्टि के पीछे छिपी हुई परम सत्ता का साक्षात्कार कराने वाली दृष्टि भी इसी आधार की आराधना से प्राप्त होती हैं। शरीर की सारी दुर्गन्ध और मलिनता को निष्कासित कर निर्मल आनन्द की नींव डालनेवाला विचित्र कूट यही शक्तिकूट है जो दैहिक बासना और दैविक उपासना का अद्भुत संगम प्रस्तुत करता है। मानव शरीर का यही मार्मिक अंग लौकिक वासना के कामुक को क्षणिक संभोग का उत्कट आनन्द भी प्रदान करता है और अलौकिक आनंद के अनन्य आराधक को आत्मा और मन के अभिन्न संयोग की अपार्थिव अनुभूति भी कराता है। इस प्रकार मूलाधार दो मार्गो का संगम स्थल है जिनमें से एक ऊपर की तरफ चलकर परम श्रेय (या निः श्रेयस्) के भवन में पर्यवसित होता है और दूसरा नीचे की तरफ चलकर पार्थिव (या प्रेय) सुख के पंकिल गर्त में परिणत होता है। प्रेय और श्रेय के बीच में जहाँ इस प्रकार का संघर्ष पैदा होता है तो मेधावी साधक प्रेय का केवल परिचय मात्र पाकर अंत में श्रेय को ही स्वीकार करता है। लौकिक वासना से मिलने वाला क्षण भंगुर आनन्द पारलौकिक साधना से मिलने वाले अखंड आनन्द का आभास मात्र है, इस बात का हमेशा ख्याल रखना चाहिए। लौकिक सुख प्रत्यक्ष होता है और सबके लिए सुलभ साध्य भी होता है जबकि अलौकिक आनन्द अप्रत्यक्ष होता है और गहरी साधना के बाद ही बहुत कम लोगों को प्राप्त हो सकता है। इसीलिए अधिकांश लोग मूलाधार की शक्ति को लौकिक सुख की प्राप्ति का ही साधन बना लेते हैं, उसके पारलौकिक प्रयोजन से या तो अनभिज्ञ रहते हैं या उस उलझन से बचना चाहते हैं। पर जिन पर देवी की अनुकंपा होती है. उनको इसमें जीवन को सार्थक बनाने वाला मूल आधार स्पष्ट दिखाई देता है जोकि परमेश्वरी का ही प्रतिरूप है। लेकिन इतना तो निश्चित है कि इन्द्रिय-सेवन से मिलने वाले तात्कालिक विषय सुख की

अपेक्षा इन्द्रिय निग्रह से मिलने वाला आत्मिक आनन्द हजार गुना अधिक स्थायी और शान्तिप्रद है। शारीरिक संभोग से मिलने वाला सुख शरीर के तेज को नष्ट कर देता है जबकि आत्मा और मन के संयोग से मिलने वाला आंतरिक आनंद शरीर के समस्त तेज को ओज में बदल कर शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास का रास्ता खोल देता है।

लेकिन मानव-मन बहुत ही चंचल और दुर्बल होता है। कालांतर में मिलने वाले अलौकिक सुख की अनिश्चित प्रतीक्षा करने के बजाए तत्काल मिलने वाले इन्द्रिय-सुख को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर चलने में ही उसे फायदा दिखाई देता है। लौकिक दृष्टि से देखा जाए तो भी आत्म संयम या इद्रिय निग्रह का अपना महत्त्व होता है। काम-वासना का उपभोग जहाँ अनियत और विश्रृंखल हो जाता है, वहाँ न कोई समाज शांति का अनुभव कर सकता है और न कोई परिवार या व्यक्ति सुखी और सुरक्षित रह सकता है। संसार को संसरणशील बनाने में और व्यक्ति को सुव्यक्त करने में काम-वासना की जहाँ एक ओर मंगलमय और वांछनीय भूमिका हो सकती है, वहाँ दूसरी ओर वही काम वासना धर्म की मर्यादा का उल्लंघन करने पर धरती को भयानक जंगल बना सकती है जहां आदमी जंगली जानवर की तरह एक दूसरे को खाने लग जाते हैं। इसीलिए काम वासना या विषय-लालसा का केन्द्र, जिसको यहाँ पर मूलाधार कहा गया है, मानव को दो विपरीत दिशाओं में ले जाता है...एक ऊपर की ओर जाता है और दूसरा नीचे की तरफ, एक संयम का मार्ग हैं और दूसरा सांसारिक मार्ग है, एक श्रेय की ओर ले जाता है और दूसरा प्रेय की ओर।

लेकिन आम आदमी के मन में यह शंका उठती है कि जब इन दोनों में एक ही मार्ग श्रेय का है तो प्रेय मार्ग का प्रलोभन क्यों दिया जा रहा है और असल में यह रास्ता खुला क्यों रखा गया। एक ही दरवाज़ा खुला

रखकर दूसरा दरवाज़ा बद कर देते तो कोई उलझन ही पैदा नहीं होती। पर वास्तविकता यह है कि संसार श्रेय और प्रेय का संगम स्थल है । बहुत समय की साधना के बाद मिलने वाले आत्मिक आनंद का परिचय कराने के लिए सर्व सुलभ सुख का मार्ग खोल रखा है। इसीलिए मानव की बुद्धिमत्ता इसी में है कि वह लौकिक सुख को आलौकिक सुख का आधार या आभास मात्र समझ कर सही रास्ते पर आगे बढे। किसी भी दृष्टि से देखा जाए, यह मूलाधार लौकिक और अलौकिक अभियान का मूल आधार सिद्ध होता है। इसीलिए इसको परमेश्वरी का निवास स्थान बताया गया है।

कहा जाता है कि श्रीमाता इसी मूलाधार में काल सर्प की तरह कुँडलिनी भर कर सिमटकर रहती हैं। लौकिक और अलौकिक सुख की उलझन जब सुलझ जाती है (और वह भी माता की अनुकंपा से ही सभंव है) तो इस कुँडलिनी की नींद खुल जाती है। एक बार कुँडलिनी जाग पड़ी तो साधक का सपना टूट जाता है और वह अपने सच्चे स्वरूप को पहचानने लगता है। इसी को योगशास्त्र में गांठ का खुलना कहा जाता है। जैसे ही साधक का ध्यान मूलाधार से ऊपर उठता है तो यह गाँठ (ग्रंथि) खुल जाती है। इसी प्रकार की और भी ग्रंथियां हैं जो साधना के मार्ग में जगह जगह पर बनी हुई हैं। यह पहली ग्रथि है जो मूलाधार के ऊपर स्थित होती है। इसी को ब्रह्म ग्रंथि कहते हैं। ब्रह्मा का संबंध समस्त संसार की सृष्टि से है और मूलाधार का भी यही काम है। इसका रहस्य जान लेने पर साधक को पता चलता है कि वह अब तक जिसे अपना समझ रहा था, वह सब सच्चे अर्थों में सिर्फ एक सपना था। इस अनुभूति के साथ उसका एक सपना टूट जाता है और दूसरा सपना शुरू होता है। आगे बहुत रास्ता तय करना है। यह तो केवल आरंभ है। यह गाँठ उसके लम्बे रास्ते की पहली मंजिल है। इस मंजिल को पार कराने और इस पहली गांठ को खुलवाने वाली माँ ललिता

को यहां "ब्रह्म ग्रंथि विभेदिनी" कहा गया है। यही इस प्रसंग का दूसरा नाम है।

अगले दो नाम इस कूच के दूसरे पडाव की और संकेत करते हैं। "मणिपूरांतरूदिता" और "विष्णु ग्रंथि विभेदिनी" ये दो न म हैं। मूलाधार से आगे बढकर साधक की चेतना स्वधिष्ठान होते हुए मणिपूर तक जब पहुँचती है तो दूसरी ग्रंथि, जो विष्णु ग्रंथि के नाम से जानी जाती है, सामने आती है। परमेश्वरी की कृपा से यह भी खुल जाती है। जब ब्रह्म ग्रन्थि खुल जाती है तो साधक को शरीर की सार हीनता का पता चल जाता है और जब दूसरी गांठ-विष्णु ग्रंथि भी खुल जाती है तो उसे अपने मन की मादक माया का बोध हो जाता है। वह अशरीरी और अमनस्क बन जाता है। शरीर और मन से परे साधक को ले जाने वाली परमेश्वरी यहाँ मणिपूर चक्र में निवास करती हैं। ये चक्र और ग्रन्थियाँ भोतिक नहीं हैं। शरीर के अन्यान्य अंगों की भांति इन को चर्म चक्षुओं से देखना संभव नहीं है। मन की विभिन्न भाव भूमिकाओं के ये प्रतीक मात्र हैं। जैसे किसी मन्दिर के भीतर गर्भगृह में प्रतिष्ठित देवी-देवता के पास पहुंचने के लिए कई दरवाजे पार करके जाना पड़ता है, उसी प्रकार ललाट के लीलाधाम में ललित लास्य में लीन शिव ललना का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नाम के छः चक्रों को पारकर बीच में आने वाली ब्रह्म ग्रन्थि विष्णु ग्रथि, रुद्र ग्रथि नाम की तीन ग्रंथियों को खोलकर धीरज और सावधानी के साथ आगे बढ़ना पड़ता है। इस यात्रा का आरंभ कुँडलिनी के जागरण के साथ होता है।

कई लोगों के मन में यह प्रश्न उठता है कि कुंडलिनी का जागरण कैसे होता है और इसका पता साधक को कैसे चलता है। परमात्मा की पावन

भावना से जब तन पुलकित होता है, आँखों से आनन्द के आंसू टपक पड़ते हैं, सारा शरीर और विशेषकर शरीर का मध्य भाग पसीने से भर जाता है और मन में एकदम प्रसन्नता और प्रफुल्लता की भावना छा जाती है तो समझना चाहिए कि कुंडलिनी का जागरण हो रहा है या हो चुका है। ध्यान रखना चाहिए कि ये लक्षण लौकिक और सांसारिक सुख के उपभोग में भी पाए जाते हैं। लेकिन दोनों में मूलभूत अन्तर यह है कि लौकिक सुख इन्द्रियांनुभव पर आधारित है जबकि आध्यात्मिक सुख अतीन्द्रिय होता है। केवल बुद्धि से ग्रहण किया जाने वाला यही अतीन्द्रिय सुख गीता में आत्यंतिक सुख कहा गया है । शरीर की सुध-बुध खोने के बाद अन्दर ही अन्दर यह सुख महसूस होता है। बाहरी स्पर्श में जो आनन्द होता है उसमें संसार का बोध और शरीर का ज्ञान बराबर रहता है जबकि भीतर ही भीतर प्रतिष्ठित और परिवर्द्धित ब्रह्म भावना का स्पर्श साधक को बेसुध बना देता है। यही तादात्म्य या तत्परता कुंडलिनी के जागरण कां सूचक है।

एक बार कुंडलिनीं का जागरण हो जाता है तो बहुत जल्दी-जल्दी ऊपर की ओर बढ़ती है। मूलाधार के ऊपर स्वाधिष्ठान होता है जहाँ पर साधक को अपनेपन का बोध हो जाता है। मणिपूर में पहुंचने के बाद वह अपने वैश्वानर स्वरूप को पारकर तैजस रूप में प्रवेश करता है। आदमी जब जाग्रत अवस्था में रहता है तब व्यावहारिक जगत् उसके सामने प्रत्यक्ष सत्य की तरह दिखाई देता है। इसी को "वैश्वानर" रूप कहा जाता है। जैसे ही मनुष्य शरीर को विश्राम देने के लिए सो जाता है तो स्वप्न जगत् उसके सामने खुल जाता है जिसका स्रष्टा और द्रष्टा एकमात्र मन होता है। मन ही यह संसार बसाता है और मन ही इसका आनन्द पाता है। शरीर का इसमें कोई हाथ नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म ग्रंथि को पार

करने के बाद साधक का सम्बन्ध शरीर से कम होता है और मन से अधिक। एक प्रकार से देहधारी मनस्वी बन जाता है। लेकिन यह सब जाग्रत् दशा में ही होता है। तभी तो यह योग बनता है। निद्रावस्था में शरीर की सुध बुध खोकर सपने देखना साधारण भोगी प्राणी भी कर सकता है। पर साधक की अनुभूति इससे भिन्न है। जीते जागते ही जान-बूझकर और अपनी बलवती इच्छा से वह ध्यान और समाधि के बल पर अशरीरी मनस्विता का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार पहुंचते पहुंचते वह स्वप्न की दशा को भी पारकर गाढ सुषुप्ति (गहरी नींद) की अवस्था को पाता है जहाँ शरीर और मन आत्मा को एकान्त में छोड़कर वापस चले जाते हैं। इसके बाद आत्मा का अपना राज्य कायम हो जाता है। यह राज्य दूसरी गांठ (विष्णु ग्रंथि) खोलने के बाद साधक के सामने उसी प्रकार प्रकट हो जाता है जैसे गहरी नींद सोने वाले साधारण प्राणी को मन पसंद आराम। अन्तर केवल यही है कि साधक सब कुछ जानता है और समझता है और साधारण प्राणी को पता नहीं चलता कि उसको क्या हो गया है। असल में होता यह है कि अपने स्वरूप की खोज में चलने वाला साधक इस साधना में अपने को पाता है तो अपनी इच्छा से निरपेक्ष भाव से तन मन को आराम देने वाला प्राणी सब कुछ पाकर भी बहुत कुछ खो देता है। सारी संपत्ति हाथ लगते-लगते निकल जाती है। पर साधक तो जो कुछ पाता है, पाता ही है, खोता कछ नहीं।

ब्रह्म ग्रंथि और विष्णु ग्रन्थि के बाद भी एक और ग्रन्थि है जिसको रुद्र ग्रंथि कहा जाता है। यह तीसरी गांठ दोनों भृकुटियों के बीच और नाक के ऊपर होती है जहाँ पर आज्ञा-चक्र प्रवर्तित होतां है। सारे शरीर का संचालन इसी केन्द्रीय संचालक के आदेश, निदेश और अनुदेशन से होता है। असल में यहाँ समस्त प्राणियों की तीसरी आँख रहती है। साधारण

प्राणी निद्रा के माध्यम से भी इस अवस्था तक नहीं पहुंच सकता। जाग्रत अवस्था में प्राणी वैश्वानर रूप में सांसारिक सुख-दुःख का अनुभव करता है। स्वप्नावस्था में उसका तैजस रूप अपने फैलाए प्रकाश में अपने को फैलाता है। गहरी नींद सोते समय आदमी केवल बुद्धिजीवी रह जाता है और यही उसका प्राज्ञ रूप है। प्रज्ञा को छोड़कर उसका और कोई अस्तित्व नहीं रहता। इसी दशा की ओर संकेत करते हुए लौकिक भाषा में प्राय: कहा जाता है कि सोया मरा एक है। इस तरह की गहरी नींद सोकर उठने के बाद आदमी महसूस करता है कि वह किसी दूसरीं दुनियाँ की सैर करके फिर अपनी दुनियां में वापिस आ चुका है। पर इस दुनियाँ से भी परे पहुंचता है योगी अपनी योग साधना के बल पर। यही आज्ञा चक्र के अन्तर्गत प्रवर्तमान रूद्र ग्रंथि के खुलने के बाद प्रकट होने वाला भद्र वैभव है। इसी भद्र पद संपदा के भंडार को योगशास्त्र की परिभाषा में 'सहस्रार" की संज्ञा दी जाती है। रूद्र ग्रंथि को खोलने के बाद साधक इसी सहस्रार कमल (हजार पंखुड़ियों के आत्म कुसुम, अपने सुमन) का साक्षात्कार कर लेता है। इसी कमल के भीतर कमलिनी कांता के रूप में श्रीमाता प्रतिष्ठित हैं। यहां पर आठों पहर अमृत की वर्षा होती है। इसलिए न बुढ़ापे की परेशानी है और न मौत का डर। यहाँ पर पहुंचने के बाद साधक अपनी आत्मा को विश्वात्मा का अभिन्न अंग समझता है।

इस प्रकार मूलाधार में ब्रह्म ग्रंथि को, मणिपूर में विष्णु ग्रंथि को और आज्ञा चक्र में रूद्रग्रंथि को धीरे-धीरे खोलकर साधक सहस्रार कमल को अपना आसन बनाकर समस्त संसार को सुधा की वर्षा से सरस बनाने वाली परमेश्वरी का साक्षात्कार कर लेता है। साधक के इस अभियान का सोपान-क्रम चार-चार नामों के दो श्लोकों में प्रस्तुत किया गया है :

मूलाधारैक निलया ब्रह्म ग्रंथि विभेदिनी ।
मणिपूरांतरुदिता, विष्णु ग्रंथि विभेदिनी ।।
आज्ञाचक्रांतरालस्था रूद्र ग्रंथि विभेदिनी ।
सहस्रारांबुजारूढा सुधा साराभिवर्षिणी ।।

यहां पर "सहस्रार" को अंबुज (कमल) कहा गया है जो कि वहुत ही सारगर्भित है । "अंबुज का मतलब है पानी में पैदा हुआ । आज्ञा चक्र के ऊपर मस्तिष्क में इस सहस्रार कमल का निवास स्थान माना जाता है । इसको कमल या "अंबुज" कहना केवल आलंकारिक अभिव्यंजना नहीं है, बल्कि यह वस्तु स्थिति का बोधक है । शारीरिक संरचना के विशेषज्ञ जानते हैं कि रीढ़ की हड्डी पीठ से गर्दन तक जाकर समाप्त नहीं होती बल्कि मज्जा के भीतर भी उसका विस्तार पाया जाता है । यह मज्जा सिर की हड्डियों के साथ लगी नहीं होती है बल्कि मस्तिष्क के भीतर कुछ तरल पदार्थ में वह तैरती सी दिखाई देती है ताकि सिर पर कहीं चोट लगती है तो यह मज्जा अपने को उससे बचा सके । मानस के सरोवर में मराल की तरह मंद मंद चलने वाली यह मज्जा ' सहस्रार कमल" का निलय है जिसको यहाँ पर "अंबुज" (पानी से निकला हुआ) कहा गया है । पानी में पैदा होकर भी यह कमल सुधा बरसाता है । वैसे साधारण कुसुम का जीवन भी बहुत अजीब लगता है । दलदल के पानी में पैदा हुआ हरा भरा और हल्का सा पौधा रंग बिरंगे फूलों को जन्म देता है और ये फूल अपने को भूलकर चारों तरफ खुशबू और खुशी फैलाते हुए हंसते हंसते ही वन को जीवन बनाते हैं और जीवन को जीवन प्रदान करते हैं । जब साधारण फूलों की यह स्थिति है तो मानव शरीर का सत्व सार लेकर मानस की शोभा बढाने वाले इस सहस्रसार कमल का कहना ही क्या है । वह सुधा के सार से सारे शरीर को सरस बनाता रहता है । यह कमल हजार पंखुडियों का है

इसलिए इसकी सुधा की धारा भी सहस्रधारा बनकर सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष और सहस्रपाद संसार को रसाप्लावित कर देती है।

इसी सहस्रार की शोभा, सुषमा और सौष्ठव का वर्णन अगले श्लोक के पाँच नाम प्रस्तुत करते हैं :

तटिल्लता समरुचिः षट्चक्रोपरि संस्थिता।
महासक्तिः कुंडलिनी बिसतंतु तनीयसी॥

जैसे वेदों में इस अपूर्व सौंदर्य की उपमा बिजली की रेखा से करते हुए कहा गया है – "विद्युल्लेखेव भास्वरा", उसी प्रकार यहां पर उसकी रुचि, शोभा या कांति को तटिल्लता (बिजली की लता) के समान कहा गया है। शंकराचार्य अपनी सौंदर्य लहरी में इसी को "तटिल्लेखा तन्वी" कहकर इसकी सही रूप रेखा प्रस्तुत करते हैं। मूलाधार से लेकर आज्ञा चक्र तक के छह चक्रों से ऊपर इस सहस्रार कमल का संस्थान हैं, इसलिए इसको 'षट्चक्रोपरि संस्थिता" कहा गया है।

इसको 'महासक्ति" या "महाशक्ति" कहा गया है। इस संसार सागर की समस्त शक्ति का केन्द्र होने के कारण यह महाशक्ति है। संसार की समस्त आसक्ति को इसी में केंद्रित बनाकर साधना करने से इसकी सिद्धि होती है, इसीलिए इसको "महासक्ति" भी कहा जा सकता है। कुछ लोग इसको "महासक्ति" कहते हैं और कुछ लोग "महाशक्ति"। दोनों नाम सार्थक हैं। बात एक ही है।

असल में यह है 'कुडलिनी'। कुंडलिनी का मतलब है-सांप। मूलाधार में यह सांप की तरह कुंडलियां भरकर बसी हुई होती है। कहा जाता है कि यह साढे तीन वर्तुल आकर बनाकर सिमटी हुई मुद्रा में प्रतिष्ठित रहती है।

आकार में यह बहुत ही कोमल है। कमल की नाली की तरह कोमल होने के कारण इसको "बिस तंतु तनीयसी" कहा गया है। इतनी कोमल तन्वी समस्त संसार को अपने तंत्र में समाकर चलाती है। बिजली की चमक की तरह शोभायमान, समस्त संसार पर आधिपत्य जमानेवाली शक्तिमत्ता में आसक्त और जीवन के साथ अभिन्न रूप से संपृक्त कोमलांगी कुंडलिनी का लोक मंगल कारी आलोक देखते ही बनता है और उसे देखने वाले नयन "बिनु बानी" बनकर रह जाते हैं।

—o—

९. भवानी भावनागम्या

अब तक श्री ललिता परमेश्वरी के 111 दिव्य नामों में देवी के स्थूल सौन्दर्य, लीला वैभव और सूक्ष्म सान्निध्य का सुसंबद्ध वर्णन किया गया है। अनंत लावण्य को आत्मसात् करने वाली अनिर्वचनीय रूप माधुरी में माता की मंगलमय मूर्ति, साधना-पथ में अवरोध पैदा करने वाली आसुरी शक्तियों के संहार में सर्वशक्तिमयी के कीर्तिमान और ब्रह्मांड को पिडांड में प्रतिबिंबत कर उसी में अपने को प्रतिष्ठित कर विराजमान होने वाली बिसतंतु तनीयसी में परदेवता की स्फूर्ति भावना का यह शास्त्रीय प्रतिपादन श्रीमाता के साक्षात्कार के लिए प्रशस्त भूपिका प्रस्तुत करता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संसार की सक्रियता के पीछे जो मूल शक्ति काम कर रही है, वह विश्व के कण-कण में विराजमान है—केवल मात्रा और महिमा का अन्तर है। जैसे बाहर, वैसे भीतर विद्यमान इस परम सत्ता का जो जितनी मात्रा में अनुभव कर पाता है वह उतना ही महान् बनता है। इसी परम सत्ता को पहचानने का सीधा और सरल तरीका मां ललिता के अगले नाम बतलाते हैं। इस प्रसंग का पहला श्लोक है :

भवानी भावनागम्या भवारण्य कुठारिका ।
भद्रप्रिया भद्रमूर्तिर्भक्त सौभाग्य दायिनी ।।

भवानी श्रीमाता का सुन्दर नाम है। भव या शंकर की पत्नी होने के कारण माता का नाम भवानी हो गया है। शंकर को "भव" इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे संसार के संसरण को संभव बनाते हैं और भवानी इस कार्य में अपने स्वामी को सहयोग देती हैं। संसार में जो कुछ

होता हो या किसी दूसरे से उत्पन्न होता हो या किसी के सादृश्य पर बनता हो या किसी साहचर्य में चलता हो-सब के पीछे एक ही सत्ता काम करती है और वही भव और भवानी का अभिन्न सान्निध्य है । संसार के इन्हीं मूल कारक तत्वों की ओर संकेत करते हुए महाकवि कालिदास ने "जगतः पितरौ वंदे पार्वती परमेश्वरौ" कहकर इस प्रथम युगल की वंदना की है । इसी प्रकार की भावना से प्रेरित होकर गोस्वामी तुलसीदास ने प्रत्येक प्राणी के मन में श्रद्धा और विश्वास के रूप में प्रतिष्ठित भवानी और शंकर की वंदना की है। समस्त संसार के सभी प्रकार के उद्भव, प्रभव विभव और संभव का आधार भव और भवानी की यही जोड़ी है जो वाणी और अर्थ की तरह भिन्न दिखाई देते हुए भी अभिन्न हैं । सूर्य और प्रकाश, चाँद और चाँदनी, लहर और पानी, की तरह परमेश्वर और परमेश्वरी की सत्ता तत्वतः एक ही है और वह हमारे अंतःकरण में ही विद्यमान है। इस सत्ता का साक्षात्कार करने के लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। भावना के बल पर भवानी का सान्निध्य प्राप्त किया जा सकता है।

अगला नाम - भावनागम्या—इसी तथ्य की घोषणा करता है। भावना हृदय की भाषा है और भवानी इसी भाषा को समझती हैं क्योंकि वह हृदय को पहचानती हैं। यह भाषा किसी प्रांत विशेष की बपौती नहीं है और न किसी व्यक्ति विशेष की निजी संपत्ति है। इस पर सबका समान अधिकार है। जिस का दिल खुलकर बोल सकता है, उसी को भवानी का संबल मिल जाता है। लेकिन दिल की जबान तभी खुल सकती है जब बाहर का कोलाहल शांत हो, मन प्रसन्न हो, विचार निर्मल हों और आत्मा का आलोक अंतर्मुख नयनों के सामने प्रकट हो। इसलिए यह काम इतना आसान नहीं है जितना कि समझा जाता है। फिर भी भवानी की कृपा से यह भी संभव है। साधक के मन में सत्ता की सच्ची भावना का उदय साधना, संस्कार और संयोग के संकलित परिपाक से होता है और जब होता

है तब सारा संसार उस भाव-जगत् के सामने सारहीन दिखाई देता है। साधना के जितने प्रकार हैं, सब इसी भावना को लक्ष्य बना कर चलते हैं। परम सत्य का प्रतिपादन करने वाला सुन्दर स्तोत्र पाठ हो, मन का मालिन्य मिटाकर अंतःकरण को पवित्र बनाने वाला मंत्र जाप हो या इष्ट देवता की अभीष्ट रूप कल्पना को साकार बनाने वाली ध्यान लीनता हो, सबका एकमात्र ध्येय नश्वर में अविनश्वर का साक्षात्कार करना ही है और यह केवल भावना के माध्यम से ही संभव है। वाणी के माध्यम से परमेश्वरी के स्थूल रूप का वर्णन किया जा सकता है। मन के माध्यम से देवी के सूक्ष्म रूप का मनन किया जा सकता है। पर सर्वकारणा शक्ति के कारण स्वरूप को हृदयंगम करने के लिए निर्मल अंतःकरण की उर्मिल भावना चाहिए, वाणी या मन से काम नहीं चलेगा। जहां वाणी मौन बन जाती है, मन सुमन की तरह खिल उठता है वहां भावना भवानी के भव्य रूप को आत्मसात् कर लेती है और भावुक भावना और भवानी में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। जीव-जगत् में प्रत्येक जीव को सजीव बनाने वाली संजीवनी शक्ति की खोज करते-करते साधक इस भाव-जगत् में पहुँच जाता है। इस प्रकार की भाव-भूमिका में पहुँचे हुए भाव योगी के लिए भवानी ही संसार का सत्व सार या भव की रानी दिखाई देती हैं।

इस भावना पर पहुंचने के बाद प्राणी को भव की बाधा सता नहीं पाती। महावन की तरह फैला हुआ भुवन भवानी की पावन अनुकंपा से भावना का उपवन बन जाता है। भावना के कुठार से वह संसार के वन को नष्ट भ्रष्ट कर उसे उपवन की शोभा प्रदान करती हैं। जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाकर वह फूलों की वेणी की तरह जीवन धारा को सजाती हैं। इसीलिए श्रीमाता को यहां "भवारण्य कुठारिका" कहा गया है।

भद्रता भवानी की प्रमुख विशेषता है। संसार में जो कुछ भद्र, शुभ-प्रद या मंगलकर है, वह देवी के लिए प्रिय है। इसलिए उनको "भद्र-

प्रिया" कहा गया है। वह केवल भद्रता को पसंद करने वाली ही नहीं, बल्कि भद्रता की मूर्ति हैं, मंगलमय भावना की वह साकार मूर्ति हैं। जहां भद्रता है, वहाँ यह "भद्रमूर्ति" अपने आप विराजमान हो जाती है। भक्तजनों को भद्रता प्रदान करना ही इस भद्र मूर्ति की भद्र आकृति का एकमात्र प्रयोजन है। "भक्त सौभाग्यदायिनी"—श्रीमाता का यह अगला नाम उन की भद्रता की सार्थकता को सिद्ध करता है। भक्तों को वह सौभाग्य प्रदान करती हैं। समस्त संसार की भद्रता ही सच्चे भक्त की एक मात्र इच्छा हो सकती है। "सर्वे भद्राणि पश्यंतु, मा कश्चित् दुःख-भाग् भवेत्" यही सच्चे भक्त की सात्विक कामना होती है। उपनिषद् का उपासक भी यही मंगल कामना करता है कि मैं कानों से भद्र वचन सुनूं और आंखों से भद्र रूप देखूं। भक्तों की इस भव्य भावना को सफल बनाने में ही श्रीमाता हमेशा तत्पर रहती हैं। वह सर्वमंगला हैं, इस लिए सब को कैवल्य या भद्रपद प्रदान करती हैं। इसके लिए केवल एक मात्र योग्यता अपेक्षित है और वह है निर्भर भक्ति भावना।

इस प्रसंग में "भावनोपनिषद्" की बरबस याद आती है जो पर-मेश्वरी की पारमार्थिक भावना का विस्तृत वर्णन छत्तीस मंत्रों में प्रस्तुत करती है—इस उपनिषद का पहला मंत्र है :- "श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः" और अंतिम मंत्र है—"य एवंवेद सोऽथर्व शिरोऽधीते ॥" इससे स्पष्ट होता है कि यह अथर्व वेद से संबन्धित है। इसमें प्रत्येक प्राणी के भीतर नव रत्नद्वीप के रूप में प्रतिष्ठित देहालय की सुन्दर व्याख्या की गई है और निष्कर्ष के रूप में यह बताया गया है कि निरन्तर अखंड आनंद का अनुभव करने वाली अंतरात्मा ही परदेवता ललिता है और पल भर ही सही हृदय में यह भावना घर कर जाये तो प्राणी जीवन्मुक्त बन जाता है और वही सच्चे अर्थों में शिव योगी कहलाता है। भावना-परायणी भवानी की भक्तिभावना के प्रस्तुत प्रसंग में इस उपनिषद् के दो मंत्र अत्यन्त मननीय हैं। एक परमेश्वर की व्याख्या करने वाला है—"निरूपाधिका संविदेव कामेश्वरः" और दूसरा मंत्र परमेश्वरी की रूप

कल्पना करते हुए कहता है—"सदानंदपूर्णा स्वात्मैव पर देवता ललिता।" निरपेक्ष ज्ञान ही परमेश्वर है और निर्भर भक्ति भावना ही भवानी है।

इसी भक्ति भावना की व्याख्या सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है :

भक्तिप्रिया भक्तिगम्या भक्तिवश्या भयापहा।
शांभवी शारदाराध्या शर्वाणी शर्मदायिनी॥

भवानी को भक्तिभावना अच्छी लगती है और भक्ति के लिए वह सुगम और सुलभ बन जाती हैं। इतना ही नहीं, वह भक्तों की हर बात मानकर उनकी इच्छा पूरी करती हैं। इसीलिए उनको भक्तिप्रिया, भक्तिगम्या और भक्तिवश्या कहा गया है। ध्यान देने की बात है कि यहां पर "भक्ति" शब्द का प्रयोग किया गया है, न कि "भक्त" शब्द का भक्त से भक्ति प्रधान है और भक्ति के कारण ही भक्त भगवान् या भगवती के वात्सल्य का पात्र बन जाता है। पर भक्ति कई प्रकार की होती है और सच्ची भक्ति की पहचान भगवती ही कर सकती है। वास्तव में भक्त और भगवान् या भगवती को जोड़ने वाली संधि है—भक्ति। भक्ति भावना का उदय, विकास और परिपाक भक्त को भगवत्ता के निकट से निकट ले जाता है। भक्ति की पराकाष्ठा में भक्त और भगवत् तत्व में कोई अंतर ही नहीं रहता। भक्त भागवत बन जाता है। इसी दशा की ओर संकेत करते हुए गीताचार्य कहते हैं—"ये भजंति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्" (जो भक्ति भावना से मेरा भजन करते हैं, वे मेरे अंदर आसीन हो जाते हैं और मैं उनके अंदर प्रतिष्ठित हो हो जाता हूँ।) इस लिए अपने अन्दर की दिव्यता का सच्चा अनुभव करना ही भक्ति है और इसी अनुभूति के कारण भक्त का मन आनंद से नाच उठता है। भजन, कीर्तन आदि में भक्ति भावना के ये उद्गार ही बोल उठते हैं। लेकिन व्यवहार में भक्ति का विकृत रूप ही दिखाई देता है। केवल गीत गाने से, ताली बजाने से, नाचने से, स्तोत्र का

सस्वर पाठ करने से भक्ति भावना का प्रमाण नहीं मिलता। मंत्र का जाप भी भक्ति भावना का प्रमाण नहीं दे सकता। जब तक भावना साथ नहीं देती तब तक ये साधन सार्थक और सफल नहीं बन सकते। नारद के भक्ति-सूत्रों में परम प्रेम की भावना को भक्ति की संज्ञा दी गई है। लौकिक प्रेम में प्रतिफल की भावना छिपी हुई होती है पर अलौकिक प्रेम या परम प्रेम में, जिसको भक्ति कहा जाता है, प्रतिफल की लालसा के स्थान पर आत्म समर्पण की भावना प्रबल होती है। अपने आराध्य के चरणों में अपना सर्वस्व निछावर करने की एकान्त भावना ही भक्ति है। श्रवण, स्मरण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति का भी पर्यवसान आत्म निवेदन ही है। आत्म निवेदन ही भक्ति का दूसरा नाम है।

इस प्रकार जब भक्त अपने को भगवत् तत्व के सामने समर्पित कर लेता है तब उसे किसी बात की न तो परेशानी होती है और न किसी बात का डर। द्वैत की भावना से भय पैदा होता है और अद्वैत की भावना में ईर्ष्या, द्वेष, भय आदि के लिए कोई गुंजाइश ही नहीं रहती है। परमसत्ता के प्रति सच्ची भक्ति और आसक्ति पैदा होते ही साधक लौकिक भोग लालसा से विभक्त, विरक्त और अनासक्त हो जाता है। "भगति देखि राजि भई, जगत देखि रोई" वाली मीरा की भाव माधुरी में भक्ति और विभक्ति का यही सुन्दर संतुलन दिखाई देता है। पार्थिव जगत् के प्रलोभनों से भक्त जितना विभक्त हो जाता है, उतना वह अलौकिक और अक्षय आनंद के आलोक में आसक्त बन जाता है। यही आसक्ति सांसारिक भय से मुक्ति प्रदान करती है। "भयापहा" (भय को दूर करने वाली)—यह नाम भक्त-जगत् को यही आश्वासन देता है।

अगला नाम है—"शांभवी"। शंभु की पत्नी शांभवी है। शंभु का मतलब है—भलाई को बढ़ावा देने वाला या भलाई से पैदा होने वाला या भलाई के लिए काम करने वाला। लोक कल्याण के इस कार्म

में कल्याणी शांभवी कल्याणमय शंभु का साथ देती है। शांभवी एक मुद्रा विशेष भी है। शांभवी मुद्रा में दर्शन देनेवाली होने के कारण भी परमेश्वरी को यहां पर शांभवी कहा जा सकता है। मनुष्य अपनी विभिन्न मुद्राओं में विभिन्न भाव प्रकट करता है। प्रत्येक मुद्रा में-चाहे वह सहज मुख मुद्रा ही हो—कोई न कोई देवता साकार बन जाता है। मानव मात्र के अन्दर निहित दिव्य तेज के प्रकट रूप ही विभिन्न देवी देवता हैं। हमेशा दूसरों की भलाई ही भलाई चाहने वाले व्यक्ति की एक विशिष्ट मुख मुद्रा बन जाती है। किसी का चेहरा देखने से ही पता चलता है कि उसके विचार भद्र हैं या अभद्र। शांभवी मुद्रा में परमेश्वरी की भद्रमूर्ति प्रकट हो जाती है।

"शारदाराध्या" मां ललिता का अगला नाम है। शारदा अर्थात् सरस्वती के द्वारा आराधित होने के कारण देवी को शारदाराध्या कहा गया है। वाणी के माध्यम से हर देवी-देवता को प्रसन्न किया जा सकता है। बात करने के कौशल से काम बिगड़ते-बिगड़ते बन जाते हैं और इसी कौशल के अभाव में काम बनते-बनते बिगड़ते भी पाए जाते हैं। देवताओं को मंत्र के अधीन बताने में यही आशय है। "शारदाराध्या" से एक और मतलब निकल सकता है। देवी की आराधना के लिए शरद् ऋतु अत्यंत्र अनुकूल बताई जाती है—खास कर शरन्नवरात्र। वसंत नवरात्र की तरह शरन्नवरात्र भी आराधना के दिन माने जाते है। वसंत और शरद में सूर्य विषुवत् रेखा पर रहता है। इस लिए खगोल में प्रकाश का संतुलन बना रहता है जो किसी भी आराधना को बल देता है। आम तौर पर वसंत भगवान् की आराधना के लिए और शरद् भगवती की आराधना के लिए उपयुक्त माना जाता है। शरद् का मतलब वर्ष भी होता है। वर्ष भर अर्थात् हर दिन और हर रात परमेश्वरी की आराधना के लिए अनुकूल है। यह भी इस नाम से प्रकट होता है। वास्तव में संसार का प्रत्येक कण और जीवन का प्रत्येक क्षण सर्वमंगला देवी की आराधना के लिए उपयुक्त है। भावना प्रधान है।

शर्वाणी भी श्रीमाता का छोटा और सुन्दर नाम है। अनावश्यक और नाशवान् तत्व को मिटाकर आवश्यक और अविनश्वर तत्व को आगे बढ़ाने वाला शंकर शर्व कहलाता है और शर्व की सहचरी शर्वाणी है। जैसे भवानी और शांभवी, वैसे शर्वाणी भी शिव और शक्ति के सामरस्य की ओर संकेत करती है।

"शर्मदायिनी" इस श्लोक का अन्तिम नाम है। सुख देने वाली है, इसीलिए देवी को शर्मदायिनी कहा गया है। "शर्म" शब्द शाश्वत सुख का द्योतक है। इसलिए परमेश्वरी से प्राप्त होने वाला सुख क्षणभंगुर और लौकिक नहीं है, स्थायी और लोकोत्तर है।

इसी भावना को आगे बढ़ाने वाला अगला श्लोक है :

शांकरी श्रीकरी साध्वी शरच्चंद्र निभानना
शातोदरी शांतिमती निराधारा निरंजना ।।

शंकर की पत्नी शांकरी है। सब की भलाई करती हैं, इसीलिए शांकरी है। श्रीकरी केवल भलाई नहीं करती हैं, बल्कि शोभा बढ़ाती हैं। "श्री" में शोभा, सौंदर्य, मांगल्य, महत्ता, मधुरिमा आदि अनेक उदात्त लक्षण हैं। इन सबकी व्यवस्था करने वाली होने के कारण देवी का नाम श्रीकरी रखा गया है। "श्री" शब्द में आश्रय की भी भावना है। सबको आश्रय प्रदान करती है, इसलिए भी श्रीकरी हैं। अगला नाम है— "साध्वी"। परम शिव की अभिन्न अनुरागिनी और सतत सहचरी होने के कारण परमेश्वरी को साध्वी कहा गया है। दिल से अच्छी और दिल को पहचानने वाली हृदयज्ञा और सहृदया होने के कारण भी उनका नाम साध्वी है। सीधी सादी बात को मानने वाली और सीधी चाल पर विश्वास करने वाली होने से भी वह साध्वी कही गयी है।

"शरचंद्र निभानना" यह नाम श्रीमाता के सौंदर्य की फिर एक बार याद दिलाता है। शरत् के चांद की तरह देवी का मुख मंडल

विराजमान होता है। शरत् के सूर्य की प्रभा से शरत् का चांद प्रभावित होता है। वैसे चंद्रमा अमृत की किरणों से रंजित माना जाता है और शरत् के चांद में अमृत के साथ साथ आलोक की आभा भी सम्मिलित होती है। इसी प्रकार देवी का मुख मंडल जिसको एक बार देखने का सौभाग्य मिलता है, वह अमर बन जाता है और अक्षय आलोक में लीन हो जाता है।

देवी का मुख-मंडल जितना विशाल है, उनका उदर उतना ही छोटा है। इसीलिए उनको "शातोदरी" कहा गया है। मुख की शोभा संयम और सौंदर्य को प्रकट करती है और उदर संचय की मात्रा को। परमेश्वरी का उदर परिमित और संयत है। देवी के भक्तों को भी इसी आदर्श का अनुसरण करना चाहिए। कम से कम खाकर अधिक से अधिक शोभा प्राप्त करना ही सात्विक साधना का लक्षण है। शातोदरी एक यंत्र का भी नाम होता है, जिसके द्वारा दुर्गा की उपासना की जाती है। यंत्र, मंत्र और तंत्र देवी के ही विभिन्न रूप हैं। तंत्र में देवी के स्थूल रूप की अराधना होती है, मंत्र में सूक्ष्म रूप की और यंत्र में कारण रूप की। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से कारण रूप का ध्यान उत्तरोत्तर महत्वपूर्ण माना जाता है। पूजा-पाठ तथा अर्चना-आराधना में स्थूल रूप का ध्यान किया जाता है। जैसी हमारी भावना होती है, वैसी ही आकृति में हम अपने आराध्य देवी-देवता को देखने का प्रयास करते हैं। मंत्र में यही भावना अक्षर रूप धारण करती है। विशिष्ट बीजाक्षरों के उच्चारण या मनन से अभीष्ट देवी-देवता का आकार अंतरतम में अपने आप बनता जाता है। मंत्र की जब सिद्धि होती है तो मंत्रात्मिका देवी का पूरा रूप साधक के मुख-मंडल पर झलकने लगता है। यंत्र इस से भी सूक्ष्म होता है। देवी की रूप कल्पना रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत की जाती है। उदाहरण के लिए श्रीचक्र श्रीमाता की रूपरेखा प्रस्तुत करने वाला यंत्र है जो ब्रह्मांड और पिंडांड दोनों का प्रतीक है। प्रत्येक प्राणी का शरीर श्रीचक्र है, इस शरीर से निकलने वाली वाणी ही श्री विद्या मंत्र को

आकृति देती है और शरीर के विभिन्न व्यापार श्रीमाता की आराधना के अंतर्गत आने वाला तांत्रिक विधान है। इस दृष्टि से शातोदरी पतली कमर की सुन्दर नारी भी हो सकती है, दुर्गा की रूप कल्पना प्रस्तुत करने वाला यंत्र भी हो सकती है और कम शब्दों में या कुछ ही अक्षरों में महती शक्ति को निष्पन्न करने वाली मांत्रिक पद-विधि भी हो सकती है। जिस प्रकार जागृत अवस्था में दैनंदिन कार्य करने वाला प्राणी ही सो जाने पर तरह तरह के सपने देखता है और वही प्राणी गहरी नींद में अपने को एकदम भूलकर आराम का अनुभव करता है और वही प्राणी समाधि दशा में अखंड आनंद का अनुभव करता है, उसी प्रकार आत्म-स्वरूपिणी देवी कभी स्थूल, कभी सूक्ष्म और कभी कारण रूप धारण कर साधक को दर्शन देती है।

चाहे रूप कुछ भी हो, परिणाम सुखद और शांतिप्रद होता है। इसी लिए परमेश्वरी को "शांतिमती" कहा गया है। परदेवता से प्राप्त होने वाली शांति साधारण भौतिक या मानसिक शांति नहीं है जिसकी कुछ सीमा होती है, बल्कि यह अध्यात्मिक और शाश्वत शांति है जिसको देश और काल की सीमा बांध नहीं पाती। इसी शांति की ओर संकेत करते हुए कठोपनिषद् का उद्गाता कहता है—"तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम्।" जो बुद्धिमान् पुरुष अपनी ही आत्मा में अखंड चेतना का साक्षात्कार कर पाता है, उसी को यह परम शांति प्राप्त होती है।

इस श्लोक के अन्तिम दो नाम हैं—'निराधारा' और 'निरंजना'। परमेश्वरी समस्त संसार को आधार प्रदान करती हैं। इसलिए उनको और किसी आधार की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार वह रंग रूप की दुनियां से परे है, उन पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता। वही सबको रंग और रूप प्रदान करती हैं। निराधार होकर भी वह सब के लिए आधार बनती हैं। वही संसार का मूल आधार है। स्वयं किसी रंग से रंजित न होने पर भी वह संसार को रंग बिरंगी शोभा प्रदान करती हैं।

वही रंगनायकी रंगनाथ की अन्तरंगिणी बनकर संसार को सनातन आधार प्रदान करतो हैं।

अब तक "परमेश्वरी क्या है" इसका सकारात्मक वर्णन हो चुका है। अब आगे चलकर "परमेश्वरी क्या नहीं है" इसका नकारात्मक वर्णन किया जाएगा। इस निरूक्ति का आरम्भ निराधारा और निरंजना—इन दो नामों के साथ हो चुका है।

———

१०. नित्य शुद्धा नित्य बुद्धा

यह कितनी विडम्बना की बात है कि जड़-चेतन, स्थावर-जंगम, सत्-असत् सब का आधार बनकर सब को अपने अन्दर धारण करने वाली सर्वाधारा और सर्वधारिणी परमेश्वरी को निराधार कौर निरंजना कहा गया है। वास्तव में इसी सहस्रनाम के अन्तर्गत बाद में सर्वाधारा के नाम से भी परमेश्वरी को अभिहित किया गया है—"सर्वाधारा, सुप्रतिष्ठा, सदसद्-रूपधारिणी"। स्थूल दृष्टि से देखने पर सर्वाधारा और निराधारा शब्द एक दूसरे के विपरीत लगते हैं। पर तात्विक दृष्टि से देखने पर दोनों परदेवता के परस्पर विरोधी, पर परम रहस्यात्मक तत्व के द्योतक सिद्ध होते हैं। वह समस्त जगत् को सनातन आधार प्रदान करती हैं, इसलिए वह सर्वाधारा है। उनके लिए किसी अन्य आधार की आवश्यकता नहीं है, इसलिए वह निराधारा भी हैं। सबका आधार बनने वाले मूल आधार के लिए अन्य किसी आधार की आवश्यकता नहीं पड़ती है। ऋगवेद का प्रसिद्ध सूक्त इसी प्रधान आधार का वर्णन करते हुए कहता है :

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्
स दाधार पृथिवीं धामतेमां कस्मैदेवाय हविषा विधेम।

जैसे सकल चराचर सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान परम पुरुष सब का आधार बन गए थे, वैसे ही उस पुरातन पुरुष की परम साध्वी माता ने आकाश और धरती को अपने भीतर धारण कर लिया था। इसलिए उनको सर्वाधारा भी कहा जा सकता है और निराधारा भी।

परम सत्य क्या है, यह कहने मात्र से बात पूरी नहीं बनती है। इस के साथ साथ यह बता देना जरूरी है कि वह क्या नहीं है। सत्य की विजय होती है, इस बात की घोषणा के साथ साथ यह भी कहना जरूरी था कि असत्य की नहीं होती। इसलिए श्रुति ने कहा—"सत्यमेव जयते नानृतम्।" इसी दृष्टि से परमेश्वरी का साक्षात्कार कैसे होता है, इसका पर्याप्त विवरण देने के बाद अब, यह बताने का प्रयास किया जाएगा कि परमेश्वरी का पावन सान्निध्य किन किन बातों के निराकरण या निषेध से संभव हो जाता है। लोकमाता का आलोक किन-किन बुराइयों, गंदगियों और कमजोरियों से दूर रहते हुए उनको दूर करता है, इसका वर्णन उनके निर्लिप्त, निर्विकार, निर्गुण, निराकार, निर्मल, निष्प्रपंच स्वभाव के गुणगान से आरम्भ होता है। इस प्रकार 'निर्' उपसर्ग से आरंभ होने वाले ये नाम निराधारा देवी की निरूक्त नाममालिका का रूप धारण करते हैं। इस नाम मालिका का आरम्भ इस प्रकार होता है :

निर्लेपा निर्मला नित्या निराकारा निराकुला।
निर्गुणा निष्कला शांता निष्कामा निरूपप्लवा॥

पहला नाम "निर्लेपा" परमेश्वरी के निर्लिप्त स्वभाव की व्याख्या करता है। सब की जननी होते हुए भी वह सब से अलग रहती है, सब कुछ करते हुए भी कुछ करती-सी प्रतीत नहीं होती हैं। यही गीता के निष्काम कर्मयोग का सार है। जीवन-लीला को सुचारू रूप से और सफलतापूर्वक सम्पन्न बनाने के लिए अपने कर्तव्य का पालन मात्र समझ कर जो भी काम किया जाता है, वह कर्ता को कर्म के बन्धन में नहीं डालता है। इस के विपरीत प्रबल कर्तृत्व की भावना से और उत्कट प्रतिफल की लालसा से प्रेरित होकर अहंकारपूर्वक जो काम किया जाता है, वह करने वाले को परेशान कर देता है और तनिक भी चैन नहीं लेने देता। कर्म के इस बाहरी आवरण या आकर्षण से दूर रहकर जो काम किया जाता है, वह निर्लिप्त आचरण बन जाएगा जो करने वाले को ही नहीं, बल्कि देखने वालों को भी काम का सच्चा आनन्द प्रदान करता

है। परमेश्वरी की पावन लीला जीवन की इसी निर्लिप्तता में साकार होती है। इसीलिए वह "निर्लेपा" है।

निर्लिप्त आचरण से मन निर्मल बन जाता है। ईर्ष्या-द्वेष, क्रोध-लोभ, मद और मात्सर्य से कलुषित आचरण ही मन को मलिन बना देता है। जब इन सभी विकारों से दूर रहकर परार्थ की भावना से आचरण किया जाता है, तब मन का मालिन्य धुल जाता है और आदमी का अंतरंग आकाश की तरह निर्मल बन जाता है। निर्मलता का ही दूसरा नाम दिव्यता है और इसीलिए देवी को यहां "निर्मला" कहा गया है।

पार्थिव जगत् की परिसीमाओं को पार कर शुद्ध अंतःकरण से विशुद्ध आचरण करने वाले साधक का मन जीवन के चिरंतन मूल्यों को पहचानने और धीरे-धीरे प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है। इस भूमिका पर पहुंचने पर जीवन की अनित्यता मिट जाती है और नित्यता प्रकट हो जाती है। इसी मनोदशा में परमेश्वरी नित्या के रूप में दर्शन देती हैं। प्रकाश और अन्धकार अनित्य हैं, पर इन दोनों के आधार-स्रोत नित्य हैं। जीव अनित्य हैं, पर जीवन नित्य है। लीला अनित्य हैं, पर लीला की सूत्रधारिणी परदेवता नित्य हैं। इस प्रकार पांच भौतिक जगत् में नित्य और अनित्य की आंख-मिचौनी निरन्तर चलती रहती है। दोनों पास-पास हैं और एक-दूसरे से बंधे हुए हैं। फिर भी परमेश्वरी की कृपा से नश्वर शरीर अविनश्वर आत्म तत्व का साक्षात्कार कर सकता है। इसके लिए निर्लिप्त आचरण और निर्मल मन चाहिए। नित्यात्मा का तत्काल बोध हो जाता है। इस प्रकार निर्लेपा, निर्मला और नित्या—इन तीन नामों में आचरण, चिंतन और अस्तित्व का आध्यात्मिक महत्व बताया गया है, जिनका सम्बन्ध क्रमशः शरीर, मन और आत्मा से है। साथ ही कर्मणा, मनसा और आत्मना परमेश्वरी का साक्षात्कार करने का सरल उपाय बताया गया है।

अगला नाम है—"निराकारा"। परमेश्वरी का कोई निश्चित आकार नहीं है। संसार में जितने साकार प्राणी दिखाई देते हैं, सब उन्हीं के बनाए हुए हैं और प्रत्येक आकार में उनका आवास है। सबके आकार का आधार बनने के कारण वह स्वयं निराकार है। अपने शरीर को सजाने की लालसा और दूसरों के आकार की कमियों को देखने की प्रवृत्ति साधारण मनुष्य में पाई जाती है। अपने को सबसे अधिक सुन्दर और बाकी सब को असुन्दर महसूस करने में मनुष्य को जो क्षुद्र आनन्द होता है, वह उसकी साकारता और संकीर्णता के कारण होता है। आकार आदमी को छोटा बनाता है और निराकार की भावना उसमें विराट् सौंदर्य की कल्पना भर देती है। वास्तव में भौतिक जगत् का जो भी क्षण-भंगुर सौंदर्य है, वह परमसत्ता की परम रमणीयता का ही प्रतीकात्मक आभास है। इसलिए परमेश्वरी का सौंदर्य किसी आकृति विशेष तक सीमित नहीं है, बल्कि विशाल विश्व का शाश्वत सौंदर्य उन्हीं के अनंत लावण्य का विस्तार है।

अपने और पराये की भावना आकार से ही पैदा होती है और इसी से प्राणी व्याकुल भी हो जाते हैं। अगर अपना कोई आकार नहीं है तो अपनी कोई व्याकुलता या परेशानी भी नहीं होती है। अपने को बाकी सबसे अलग मानने से ही सारी परेशानी शुरू हो जाती है। आकार के साथ आकुलता है। इसीलिए परमेश्वरी का न तो आकार है और न आकुलता। वह "निराकारा" और "निराकुला" है। हमें भी अपने भीतर की दिव्यता का अनुभव करना है तो सबको अपने में समा कर देखने की शक्ति होनी चाहिए। "जैसे मैं, वैसे सब" की भावना व्यक्ति को धीरे-धीरे "एकान्त" से "अनेकान्त" बना देती है। जब यह समरसता स्थापित हो जाती है, तब किसी बात से परेशानी भी नहीं होती। "दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृह"—दुःख में वह न तो दब जाता है और न सुख में अपने को भूल जाता है। मोह-शोक आदि मानसिक विकार के लिए वहां कोई गुंजाइश नहीं रहती है। "तत्र को

मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ।" इसी विशोका भूमिका में निराकारा और निराकुला परमेश्वरी का साक्षात्कार सम्भव है ।

इस दशा में साधक लौकिक गुण-दोषों से परे हो जाता है और जैसी उनकी भावना है, वैसी ही उनकी आराध्य देवता गुणातीत या निर्गुण दिखाई देती है । गुण मन की उपज है, आत्मा से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । इसलिए जब साधक निर्मल मन के बल पर आत्मा के आनन्द-लोक में पहुंच जाता है, तब गुण उनके लिए गौण बन जाते हैं । इसीलिए इस भाव-भूमिका में परमेश्वरी को "निर्गुणा" की संज्ञा दी गई है । यहां पर निर्गुण का मतलब गुण रहित या गुणहीन नहीं है, बल्कि गुणातीत या गुण निरपेक्ष है । गुण-दोष की विवक्षा से परे जो सहज साद्गुण्य भावना है, उसी की ओर यहां संकेत है ।

"निष्कला" परमेश्वरी का अगला नाम है । कला किसी भी सत्ता को सीमित कर देती है । लेकिन परमेश्वरी की परमसत्ता किसी कला की सीमा में बांधी नहीं जा सकती । कला सबको व्यक्त करने का प्रयास करती है, पर परदेवता के अपरिमेय वैभव को प्रकट करने में समर्थ नहीं होती है । कला को कलात्मक बनाने वाली कलावती या कलामयी स्वयं कला से परे है, इसलिए उनको "निष्कला" कहा गया है ।

"शांता" बहुत ही सुन्दर, सरल और सारगर्भित नाम है । अब तक इस प्रसंग में जितने नाम आ चुके हैं, उन सबका सार इस छोटे-से नाम में है । निर्लिप्त आचरण, निर्मल मन, नित्य अस्तित्व, निराकारिता, निश्चिन्तता आदि का परिणाम है—परम शान्ति । नित्य और अनित्य का स्पष्ट बोध जिनको होता है और जो अनित्य को छोड़कर नित्य को अटल निष्ठा से अपनाते हैं, उन्हीं की शान्ति स्थायी और सात्विक बन सकती है । शांति की भावना में ही परमेश्वरी का निवास होता है । इसीलिए उपनिषदों में प्रत्येक प्रकरण के प्रारम्भ और समापन में शांति पाठ होता है । शांति शब्द को तीन बार दुहराया जाता है ताकि भौतिक

मानसिक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकार की शांति प्राप्त हो। यहां पर देवी का यह "शांति" नाम इसी शांति पाठ का स्मरण कराता है और देवी के आराधक के लिए परम शांति का मार्ग प्रशस्त करता है।

अगले दो नाम "निष्कामा" और "निरुपप्लवा" इसी शांति के साधनों को स्पष्ट करते हैं। परमेश्वरी की अपनी कोई इच्छा नहीं होती है। सबकी जो इच्छा होती है, वही सार्वजनिक इच्छा उनकी भी इच्छा होती है। इसी प्रकार की सात्विक और सामूहिक इच्छा से प्रेरित होकर काम करने वाला साधक भी निष्काम बन जाता है और काम की कलुषित वासना से मुक्त कामेश्वरी की कृपा का पात्र बन जाता है। काम-वासना और किसी चीज की बलवती लालसा मनुष्य को अशांत बना देती है। इनका निराकरण करने से ही सच्ची शांति मिल सकती है।

निष्काम भावना से कर्तव्य का पालन करने वाले के मार्ग में कभी कोई विघ्न बाधा या उपद्रव नहीं हो सकता। अगर कोई बाधा उपस्थित होती है तो भी देवी की कृपा से वह जल्दी ही दूर हो जाती है। "निरुपप्लवा" नाम में इसी विघ्न निवारण का आश्वासन है।

निरूक्ति नाम मालिका का यह क्रम अगले श्लोक में भी जारी है :

नित्यमुक्ता निर्विकारा निष्प्रपंचा निराश्रया।
नित्य शुद्धा नित्य बुद्धा निरवद्या निरंतरा॥

आत्मा की तरह आत्मस्वरूपिणी देवी भी समस्त सांसारिक बंधनों से सदैव मुक्त रहती हैं। आत्मा हमेशा मुक्त रहती है। बंधन केवल मन की निजी रचना है और यह शरीर और मन तक सीमित होता है। आत्मा को या अपने को अपने तन-मन से अलग स्वतंत्र सत्ता के रूप में पहचानना ही मुक्त होना है। भौतिक और मानसिक धरातल से ऊपर उठकर आध्यात्मिक आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने से ही मुक्ति का यह रहस्य द्वार खुल सकता है।

इसके लिए यह भी जरूरी है कि मन में किसी प्रकार का कोई विकार उत्पन्न न हो। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मन के ही विकार हैं, भय भी मन का विकार है, द्वेष भी मन का विकार है। जब तक इस प्रकार के विकारों का मन शिकार बना रहता है, आत्मा के आंगन में आदमी पैर तक नहीं रख सकता। निश्चल, निर्मल और निर्विकार मन ही आत्मा के आंतरिक वैभव का आभास पा सकता है। इसी निर्विकार स्वभाव की ओर संकेत करने वाला अगला नाम "निर्विकारा" देवी के दिव्य दर्शन के लिए आवश्यक अनिवार्य योग्यता का प्रतिपादन करता है।

आत्मा का यह लोक मिट्टी, पानी, आग, हवा और आकाश नाम के पांच मूलभूत तत्वों से भी परे होता है। इन्हीं पांच तत्त्वों को प्रपंच कहा जाता है और आत्मा इस प्रपंच से निष्प्रभावित रहती है। इसीलिए आत्मस्वरूपिणी श्री ललिता परमेश्वरी को "निष्प्रपंचा" कहा गया है।

श्रीमाता "निराश्रया" भी है। उनके लिए किसी आश्रय या सहारे की जरूरत नहीं है। वही सबको सहारा देती हैं। कुछ लोग समझते हैं कि आत्मा शरीर और मन पर निर्भर है। पर सचाई यह है कि शरीर को आत्मा की आवश्यकता है, न कि आत्मा को शरीर की। आत्मा आत्म निर्भर है। इसी प्रकार श्री देवी भी अपना आश्रय आप बनती हैं और सारे संसार को आश्रय प्रदान करती हैं।

श्री देवी हमेशा शुद्ध और सावधान रहती हैं। वह नित्य शुद्धा और नित्य बुद्धा हैं। अग-जग को पवित्र बनाने वाली आत्मा और आत्म स्वरूपिणी देवी सदा सर्वदा पवित्र रहती हैं। उनका नाम लेने मात्र से लोग पवित्र बन जाते हैं। प्रज्ञा और बुद्धि भी आत्मा और परमात्मा के लिए सहज रूप से प्राप्त निजी सम्पत्ति हैं। प्रज्वलित वह्नि की तरह आत्मा पवित्र और प्रबुद्ध रहती हैं।

आत्मा को कोई दोष दूषित नहीं कर सकता। वह सभी दोषों से मुक्त है। इसलिए आत्मस्वरूपिणी देवी को "निरवद्या" कहा गया है।

उस में कोई दोष नहीं हो सकता जिसका उल्लेख करना ठीक नहीं होता।

आत्मा अखंड है, उसमें कोई व्यवधान या अन्तर नहीं होता। सारे विश्व में एक ही आत्म तत्त्व अखंड और सघन रूप से व्याप्त है। सभी प्राणियों के भीतर वही आत्म तत्त्व विराजमान है। व्यवहार में जो भेद भाव पैदा होता है, वह माया के कारण होता है, मनोविकार के कारण होता है। निर्मल अन्तःकरण वाले व्यक्ति की दृष्टि में सारा संसार एक ही आत्म तत्त्व से उल्लसित और विलसित दिखाई देता है। जड-चेतन, सत्-असत् सब के पीछे एक ही तत्त्व निहित है और वह है आनन्दमयी आत्मा। अखंड आनन्द की यह धारा अनन्त काल तक निरन्तर बहती रहेगी क्योंकि इस धारा को प्रवर्तित करने वाली परमेश्वरी का नाम ही निरंतरा है।

संसार में जो कुछ होता है, वह परमेश्वरी की कृपा से होता है और उन्हीं के कारण होता है। वह सब का कारण है, इसलिए उनका कोई कारण नहीं हो सकता। सब का एक मात्र कारण वही हैं और बाकी सब कार्य है। उनकी कृपा भी अकारण होती है। इसी निर्हेतुकता की ओर संकेत करते हुए परमेश्वरी की परम ईश्वरीयता का वर्णन अगले श्लोक में किया जाता है :

निष्कारणा निष्कलंका निरुपाधिर्निरीश्वरा।
नीरागा रागमथना निर्मदा मदनाशिनी ॥

बिना कारण प्रकट और प्रसन्न होने वाली देवी का स्वरूप और स्वभाव निर्मल होता है, उस में किसी प्रकार का कोई कलंक या लांछन नहीं हो सकता। चन्द्रमा में भी कलंक हो सकता है, पर देवी के मुख मंडल में या आचार-विचार में कोई कलंक नहीं हो सकता। वह सब प्रकार से "निष्कलंका" हैं। देवी को किसी विशिष्ट लक्षण, गुण धर्म या परिचय चिन्ह से पहचाना नहीं जा सकता। किसी भी लौकिक उपाधि की सीमा में निरुपाधिक ईश्वरीय तत्त्व को बांधा नहीं जा सकता। हम

जिस भावना से उनकी आराधना करते हैं, उसी भावना में वह प्रकट हो जाती हैं। जल देवता, वन देवता, धन देवता, मेधा, श्रद्धा शोभा आदि किसी भी रूप में पर-देवता की भावना की जा सकती है। मनस्वियों की प्रत्येक मान्यता में मनोन्मनी का मंगलमय रूप प्रकट होता है। श्रीमाता समस्त संसार की अधिष्ठात्री सर्वेश्वरी हैं। उन पर किसी की प्रभुता नहीं चल सकती। इसलिए वह निरीश्वरा है। परमेश्वरी का ऐश्वर्य सर्वोपरि है, उस पर किसी के ऐश्वर्य का आधिपत्य नहीं हो सकता।

यहां से कुछ नाम दो दो की जोड़ी बनकर आते हैं—जैसे नीरागा-रागमथना और निर्मदा-मदनाशिनी। देवी राग-द्वेष से स्वयं दूर रहती है और उनको दूर भी करती हैं। इसी प्रकार वह मद या मादकता से मुक्त रहती हैं और दूसरों का मद भी चूर चूर कर देती हैं। संसार में प्रायः देखा जाता है कि सच्चा सुधारक वही होता है जो पहले स्वयं अपना सुधार कर ले और फिर दूसरों में सुधार लाने का प्रयास करे। लाख उपदेश देने की अपेक्षा आचरण का एक उदाहरण प्रस्तुत करना कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। परमेश्वरी की भावना में उदात्त गुणों की यह कल्पना इसी आदर्श की ओर संकेत करती है। हम स्वयं राग और द्वेष से मुक्त रहें तो दूसरे लोग भी हमारी देखादेखी समरस भावना को अपनाने लगेंगे। प्रेम से प्रेम बढ़ता है और द्वेष से द्वेष फैलता है। इसी प्रकार हम अपने को महान् समझ कर हर जगह अपनी डींग मारते जाएं तो लोग हमारी हंसी उड़ाते हैं और कुछ लोग हमारे अभद्र आचरण का अनुकरण करने भी लग जाते हैं। अच्छे गुणों की अपेक्षा बुरे लक्षणों का अनुकरण आसानी से और जल्दी से हो जाता है। इसलिए श्रेष्ठ माने जाने बाले व्यक्तियों का यह कर्तव्य होता है कि वे अच्छा आदर्श प्रस्तुत करें। फिर उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

---

११. दुर्लभा दुर्गमा दुर्गा

उपनिषद् दर्शन की "नेति नेति" विचारधारा के अनुरूप श्री ललिता सहस्रनाम की "निरुक्ति" नामावली का क्रम आगे भी जारी है। परमेश्वरी की सश्रीकता कहाँ किस रूप में व्याप्त है, इस को पूर्ण रूप से समझाने के लिए वह कहां किस भावना के अभाव या निराकरण से प्रकट होती है, यह बताना इस नामावली का अभिप्राय है। असत् का निराकरण करने से सत् स्वरूप अपने आप प्रकट होता है। माया, मोह, ममता, चिंता, शोक आदि असत् भावनाओं के मिट जाने से निश्चित, निर्मोह, निर्मम और निरामय आनंद का अपने आप आविर्भाव हो जाता है। अंधकार के तिरोभाव और प्रकाश के प्रादुर्भाव की यह समवर्ती घटना श्रीमाता के अगले नामों में व्यंजित होती है :

निश्चिंता निरहंकारा निर्मोहा मोहनाशिनी।
निर्ममा ममताहंत्री निष्पापा पापनाशिनी॥

जिनका आचरण पवित्र होता है और मन निर्मल होता है, उनको किसी बात की चिंता नहीं होती। चिंता तभी होती है, जब किसी प्रतिफल को प्राप्त करने की उत्कट लालसा हो। "जा को कछू न चाहिये सोई साहंसाह"—वाली भावना के अनुसार निरीह व्यक्ति ही हमेशा निश्चित रहता है। चिंता जब मिट जाती है तो अहंकार की भावना भी दूर हो जाती है। जिसको न किसी बात की चिंता हो और न मन में अहं की भावना हो, वह ईश्वरीय भावना के निकट से निकट पहुंच जाता है। वह अपने वास्तविक व्यक्तित्व को पहचानने लगता है। जो वास्तव

में मूल्यवान् है, उस को लौकिक बुद्धि समझ नहीं पाती । असत्य को सत्य, मूल्यहीन को मूल्यवान्, और क्षणभंगुर को शाश्वत समझकर गलत रास्ते पर चलना ही मोह का लक्षण है । माया के कारण इस प्रकार का मोह हो जाता है । परमेश्वरी की कृपा होने पर यह मोह नष्ट हो जाता है और वास्तविकता का पता चल जाता है ।

ममता की भावना भी माया और मोह की ही सगी बहन है । यह मेरा घर है, मेरी संपत्ति है, मेरी पत्नी है, मेरे पति हैं, मेरे बच्चे हैं— यही भावना ममता कहलाती है । लौकिक दृष्टि से यह कोई बुरी भावना नहीं है और असल में इसी ममता के कारण संसार चलता है । लेकिन पारमार्थिक दृष्टि से यह ममता साधना के मार्ग में बाधा पहुंचाती है । जीवन-लीला कुशलतापूर्वक चलाने भर के लिए ममता की बात मानी जा सकती है । लेकिन आध्यात्मिक साधना में अग्रसर होकर अपने असली अस्तित्व को पहचानने पर यह सारी ममता मरीचिका-सी लगती है । परमेश्वरी हमें ममता का पाठ पढ़ाती भी हैं और फिर इस ममता से मुक्त होने का मार्ग भी दिखाती हैं । इसीलिए उन को निर्ममा और ममता-हंत्री कहा गया है ।

इसी प्रकार पाप-पुण्य भी संसर्ग से पलते और गल जाते हैं । पापी के संसर्ग में पुण्यात्मा भी पापी बन जाता है और पुण्यात्मा के साथ रह कर पापी भी धीरे-धीरे सुधर जाता है । जिस व्यक्ति को पाप छू नहीं सकता, उसको छूने मात्र से पापी का पाप पल भर में मिट जाता है । भगवान् राम के स्पर्श मात्र से अहल्या का युगों पुराना पाप और अभिशाप दूर हो चुका था । परमेश्वरी का निष्पाप और पावन रूप भी पापी से पापी व्यक्ति के भी पापों को दूर कर सकता है ।

निरुक्ति नामावली का युगल-गीत अगले श्लोक में भी जारी है :—

निष्क्रोधा क्रोधशमनी निर्लोभा लोभनाशिनी ।
निःसंशया संशयघ्नी निर्भवा भव नाशिनी ।।

क्रोध का जवाब क्रोध नहीं है, शांति है। क्रोध के नियंत्रण से क्रोध को जीता जा सकता है। किसी को गुस्सा आता है तो उस पर गुस्सा करने से समस्या हल नहीं होती। स्वयं शांत रहने से थोड़ी देर के बाद क्रोधी भी शांत हो जाता है। इसी प्रकार अपने आपको लोभ से दूर रखा जाये तो दूसरों का लोभ भी अपने आप कम हो जाता है। शंकालुओं के साथ भी यही बात होती है। हम दूसरों पर जितनी शंका या संदेह प्रकट करते हैं, उतने ही वे हमारे प्रति शंकालु बन जाते हैं। फूंक-फूंक कर चलने से हम अपने को जितने सुरक्षित समझते हैं, इससे भी अधिक सुरक्षित हम विश्वास के भरोसे बन जाते हैं। कभी-कभी अधिक विश्वास करने से हानि भी हो सकती है। लेकिन विश्वास से होनेवाले लाभ की तुलना में वह बहुत कम है। हर चीज में कदम-कदम पर संदेह करते हुए आगे चलने से न मन को शांति मिलती है और न काम भी ठीक हो पाता है। इसीलिए गीता में स्पष्ट कहा गया है कि संशयात्मा न इस लोक में सुख पाता है और न परलोक में।

याद रहे कि यह सारा परमेश्वरी का गुणगान है। परमेश्वरी भक्तों को जो कुछ दे सकती है, उसमें सबसे मूल्यांवान है—मुक्ति। जनन-मरण के संसार चक्र से छुटकारा उन्हीं की कृपा से मिलता है। इसके लिए वही एकमात्र अधिकारिणी हैं क्योंकि उनका तो न जन्म होता है और न अंत। इसीलिए वह निर्भवा है और भवनाशिनी है। वह आत्मसंभवा है तभी तो आत्मगति प्रदान कर सकती है। आत्मा न पैदा होती है और न मरती है। यही आत्मस्वरूपिणी का भी लक्षण है। कविकुल गुरु कालिदास की चरम आकांक्षा थी कि अपने आप प्रकट होने वाले नील लोहित बार-बार पैदा होकर मरने की सांसारिक यातना से उनको बचायें।

संसार में संकल्प सबसे प्रबल होता है। संकल्प से ही मनुत्य जन्म लेता है, संकल्प से ही पलता है और संकल्प में ही विलीन हो जाता है।

संकल्प के स्वाभाविक विकास में सबसे बड़ी बाधा मन का विकल्प उपस्थित कर देता है। अंतःकरण से उठने वाला संकल्प हमेशा सात्विक होता है। लेकिन विकारी मन उसमें तरह-तरह के विकल्पों की कल्पना करता है। इसीलिए सहज सात्विक संकल्प भी विकल्प की विकृत छाया में धूमिल बन जाता है। विकल्प के बिना विकसित होने वाला संकल्प ही सर्वमंगला का साक्षात्कार करने में सहायक होता है। इसी संकल्प की सात्विक शक्तिमत्ता का वर्णन अगले श्लोक में मिलता है :

निर्विकल्पा निराबाधा निर्भेदा भेदनाशिनी।
निर्नाशा मृत्यु मथनी निष्क्रिया निष्परिग्रहा॥

देवी के मन में संकल्प ओर निष्ठा का इतना परिनिष्ठित रूप दिखाई देता है कि उसमें विकल्प या विप्रतिपत्ति की कोई गुंजाइश नहीं रहती है। देवी के आराधकों में भी इसी प्रकार की संकल्प शुद्धि होनी चाहिए। शुद्ध संकल्प से कठिन से कठिन साध्य भी सिद्ध हो जाता है। परमेश्वर को, केवल परमेश्वर को, अपने पति के रूप में प्राप्त करने का पावन संकल्प पार्वती को अंत में सफल मनोरथ बना देता है। इसी प्रकार दशरथ नंदन राम के लौकिक और अलौकिक सौंदर्य पर मुग्ध होकर उनको स्वामी के रूप में प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प जानकी को भी पूर्ण काम बना देता है। साधक के मन में इसी प्रकार की निर्विकल्प भावना होनी चाहिए। मन में अच्छी भावना पैदा होने से अस्वस्थ भावना अपने आप दूर हो जाती है। सत्संकल्प विकल्प को नष्ट कर देता है। फिर धीरे-धीरे सत्संकल्प के बल से संकल्प भी शांत हो जाते हैं। मन में किसी प्रकार की भावना या विकार उत्पन्न न हो तो मन से आगे का रास्ता खुल जाता है और आत्मा का आंगन मिल जाता है। इसी को योगी निर्विकल्प समाधि की संज्ञा देते हैं। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण आदि द्वंद्व से परे की यह मनोभूमिका परमेश्वरी के सान्निध्य की परिचायिका होती है। निर्मल मन ही निर्विकल्पा देवी का निवास-स्थान है।

जहां संकल्प प्रबल हो, वहां रास्ते में कोई रुकावट नहीं हो सकती। सच्चा साधक अपने साध्य की ओर सहज रूप में अनायास अग्रसर होता है। कुंठित मन ही पग-पग पर कल्पित बाधाओं से परेशान होता है। विकुंठित मन के लिए वैकुंठ का मार्ग स्पष्ट दिखाई देता है। रास्ते में अगर कोई बाधा उत्पन्न भी हो तो उसको श्रीमाता अपने आप दूर कर देती है। इसीलिए माता को "निराबाधा" कहा गया है।

देवी की यह अनुकंपा सब की सम्पत्ति है। सब लोग उसके पात्र हैं—चाहे वे किसी भी जाति या धर्म के हों और चाहे उनका सामाजिक स्तर कुछ भी हो। धनी, निर्धन, स्त्री-पुरुष, पंडित-पामर सब देवी की दृष्टि में एक जैसे हैं। जैसे सूर्य की किरणें राजा के महल में और गरीब की झोंपड़ी में समान रूप से पहुंचती हैं, वैसी ही भगवती की पावन भावना में कोई भेदभाव नहीं होता। सब को वह समान रूप से देखती हैं और सब को समान रूप से देखने वाले साधकों की सात्विक साधना को ही वह स्वीकार करती हैं। जहां किसी प्रकार का भेदभाव किसी भी रूप में आ गया तो देवी वहां से तत्काल चली जाती हैं। भेदभाव दिव्यता का प्रबल शत्रु है। समरसता ही साधना की सफलता का रहस्य है। इसीलिए परमेश्वरी को 'निर्भेदा' और 'भेदनाशिनी' कहा गया है। वह अपने में भेदभाव को आश्रय नहीं देती है और दूसरों के भीतर विद्यमान भेद बुद्धि को मिटा देती हैं।

जब यह भेदभाव मिट जाता है, तब हर जगह एक ही आत्म तत्व का अखंड रूप दिखाई देता है। आत्म तत्व अमिट है, अमर है और सर्व-व्यापी है। जो सीमित है, वही मिटता है और असीम में मिल जाता है। असीम कभी नहीं मिटता। आत्मा के इसी असीम, अखंड और अवि-नश्वर तत्व का प्रतिनिधित्व करने वाली परमेश्वरी भी नाश रहित हैं और नश्वर को नष्ट करती हैं। "निर्नाशा" और "मृत्युमथनी"—देवी के ये दोनों नाम इसी अमरगाथा का वर्णन करते हैं। नश्वर शरीर के

भीतर छिपी हुई अविनश्वर परम सत्ता को पहचानना ही श्रीमाता का साक्षात्कार है।

परम तत्व को पहचानने के बाद साधक जीवन्मुक्त बन जाता है। जीवनलीला चलाने के लिए वह हर काम करता तो रहता है, पर उससे वह अपने को बांध नहीं लेता। सब कुछ करते हुए भी वह कुछ नहीं करता और कुछ भी न करते हुए भी वह सब कुछ करता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर जीवन्मुक्त का आचरण निष्क्रिय-सा लगता है। ऐसा लगता है कि वह कुछ कर नहीं पा रहा है या करना नहीं चाहता है। पर वास्तविकता यह है कि त्याग की भावना से भोगने की आध्यात्मिक जीवनधारा में वह अपने को, अपने मन को और अपनी आत्मा को बहलाता रहता है। कमल के पत्ते पर जैसे पानी की बूंद चमकती रहती है, वैसे ही उसका जीवन निष्क्रिय होने पर भी सक्रिय है और सक्रिय दिखाई देने पर भी निष्क्रिय है। इस प्रकार की निष्क्रियता का भाव देवी में भी दिखाई देता है। इसीलिए उनको "निष्क्रिया" कहा गया है।

इस श्लोक का अन्तिम नाम है—"निष्परिग्रहा"। परिग्रह से मनुष्य परजीवी बन जाता है। जो जितना लेता है, वह उतना बिखर जाता है। जो जितना देता है, वह उतना निखर उठता है। इसलिए सच्चे साधक को अधिक से अधिक देने की सोचनी चाहिए, लेने की नहीं। परदेवता किसी भी चीज़ का परिग्रह नहीं करती। देवीं की पूजा में फल चढ़ाते हैं, भोग लगाते हैं, आरती उतारते हैं, कीर्तन गाते हैं और अनेक मूल्यवान् वस्तुओं से झांकी बनाते हैं। पर देवी इन सब की परवाह नहीं करती। उनको चाहिए—दिल, मन और सच्ची भावना। बाहरी उपचार इसके आवरण मात्र हैं। आवरण चाहे कितना ही आकर्षक हो, यदि उसके भीतर कुछ नहीं है, तो वह खोखलापन देर तक छिप नहीं पाता। देवी हमारे नैवेद्य को तभी स्वीकार करती है, जब उसमें पावन भक्तिभावना का पुट हो। इसीलिए देवी को निष्परिग्रहा कहा गया है।

अब तक देवी के जिस निरुपम रूप लावण्य का वर्णन किया गया है, उसको अपने जीवन में उतारना सबके बस की बात नहीं है। इसके लिए बड़ी साधना चाहिए। इसी दुःस्साध्य साधना का वर्णन अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

निस्तुला नील चिकुरा निरपाया निरत्यया।
दुर्लभा दुर्गमा दुर्गा दुःख हंत्री सुख प्रदा॥

देवी की तुलना किसी सांसारिक या लौकिक सत्ता से करना संभव नहीं है। वह अपनी तुलना आप हैं। इसलिए वह निस्तुला हैं। तुला का मतलब तराजू भी है। देवी के सौंदर्य या सामर्थ्य को तोला नहीं जा सकता। वह किसी तराजू में तोलने की वस्तु नहीं है, अन्तरतम में भावना के बल पर प्रत्यक्ष कर लेने की परम सत्ता है। देवी के सौंदर्य का वर्णन नामावली के आरम्भ में ही किया गया था। इस नामावली के अन्त में उनको "महालावण्य शेवधि" (महत्तम सौंदर्य की सीमा) कहा गया था। अब यहां पर "नील चिकुरा" में इसी सौंदर्य की ओर संकेत है। काले-काले बालों से अलंकृत देवी की कमनीयता नील गगन से आवृत विश्व रमणीयता का आधार है। उनका सौंदर्य उतना ही विराट् और विशुद्ध है जितना कि आकाश। कभी-कभी आसमान पर बादल छा जाते हैं। पर बादल जब बरस कर चले जाते हैं, तब आकाश पहले की तरह निर्मल होता है। इसी प्रकार देवी का यह विश्व-सदन हमेशा परिपूर्ण और प्रभावशाली होता है। बादल छा जाने से आकाश के आलोक में थोड़ी देर के लिए बाधा उत्पन्न हो सकती है, पर नीली केशराशि से देवी के मुख-मंडल की शोभा बढ़ ही जाती है, घटती नहीं। इसी प्रकार जीवन में कठिनाइयों से साधना का मार्ग अधिक प्रशस्त हो जाता है, त्रस्त नहीं होता। दुःख-दुविधाओं में घबराने से काम नहीं चलेगा, सामना करने से जीवन का आकाश निखर उठता है। देवी का यह सुन्दर नाम "नील चिकुरा" जीवन के सौंदर्य की सही परिभाषा प्रस्तुत करता है।

जीवन में जब यह स्वस्थ दृष्टिकोण बन जाता है तब कोई विपत्ति नहीं हो सकती। देवी "निरपाया" बनकर अपने भक्तों की बाधा दूर करती है। "अपाय" शब्द का लौकिक अर्थ है—खतरा। पर इसका वास्तविक अर्थ है—अपने स्थान से हट जाना। यह भी एक तरह से खतरा ही है। विभिन्न कारकों का वर्णन करते हुए वयाकरण पाणिनि अपादान कारक के सम्बन्ध में कहते हैं—"ध्रुवमपाये अपादानम्।" किसी ध्रुव बिंदु से हट जाना ही अपादान है। वास्तव में मानव जीवन अपनी मूल बिंदु से हटा हुआ एक अस्थायी अपादान ही तो है। इस दृष्टि से परमेश्वरी का नाम—निरपाया—जिज्ञासु जीव को इस अपादान से बचाकर मूलबिंदु में फिर से पहुंचाने की भावना का द्योतक है। इसलिए यह नाम बहुत ही गहरा और ध्वन्यात्मक है।

श्रीमाता की निरूक्ति-नामावली का अन्तिम नाम है—निरत्यया। अत्यय का मतलब होता है—अतिक्रमण या उल्लंघन। परमेश्वरी की आज्ञा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। वह समस्त संसार की सीमा रेखा है जिसके आगे राह नहीं है। जीवन में मर्यादा का उल्लंघन करना संभव तो है, पर खतरनाक है। लेकिन देवी के द्वारा निर्धारित जीवन-सीमा का उल्लंघन करना सम्भव भी नहीं है। जैसे गीता में कहा गया है—'यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम' (जहां जाकर लोग वापस नहीं आते हैं, वहीं मेरा धाम है), वैसे ही देवी का अंतरंग सभी प्राणियों की जीवन-यात्रा की चरम सीमा है।

इस बिंदु तक पहुंचना बहुत ही कठिन है। यह आम रास्ता नहीं है। पहले तो रास्ते का पता चलना ही मुश्किल है। अगर पता चल भी गया तो बीच में कई अड़चनें आ जाती हैं। पग-पग पर फिसलन है। कदम-कदम पर सावधान होकर चलना पड़ता है। इतनी मुसीबत झेल कर भीतर पहुंच भी गए तो भी मंदिर के अन्दर इष्ट देवता की मूर्ति साधारण नेत्रों को दिखाई नहीं देती। इसके लिए दिव्य चक्षुओं की आवश्यकता पड़ती है। इसी दुर्गम मार्ग की दुर्लभता की ओर संकेत

मिलता है—दुर्लभा, दुर्गमा और दुर्गा—इन तीन नामों में। देवी का मिलना कठिन, वहां तक चलना कठिन और अन्दर पहुंचना और भी कठिन है। इसीलिए देवी को दुर्गा कहा जाता है। लेकिन इस नामावली के सहारे, सात्विक भावना के बल पर देवी की अनुकंपा से सब कुछ सम्भव हो जाता है। एक बार रास्ता पार कर जाने पर सभी दुःख दूर हो जाते हैं और सुख ही सुख दिखाई देता है। दुःखहंत्री, सुखप्रदा—ये दोनों नाम परमेश्वरी के इस अनुग्रह को स्पष्ट करते हैं।

यह बात ध्यान देने की है कि इस सहस्रनाम के सभी नाम रहस्यात्मक हैं। देवी के प्रासाद तक पहुंचकर उनके अनुग्रह को प्रसाद के रूप में प्राप्त करने का उपाय भी इसी नामावली में निहित है। नामोच्चारण मात्र से आत्मा के आलोक का आभास मिल जाता है। निर्लेपा, निर्मला, नित्या से आरम्भ होकर निरत्यया तक चौवन नामों की जो निरूक्ति-नाम-मालिका हम देख चुके हैं, उसमें वेदमाता गायत्री, बाला त्रिपुर सुन्दरी, श्री षोडशी आदि कई प्रसिद्ध मंत्र प्रछन्न रूप में प्रस्तुत हैं। इसीलिए इसको "रहस्य नाम सहस्रिका" कहा जाता है।

———

१२. सर्वेश्वरी सर्वमयी

जड-चेतन, गुण-दोष, सुख-दुःख आदि परस्पर विरोधी तत्वों को लेकर विधाता ने विश्व का निर्माण किया है और विवेकी व्यक्ति अपने विवेक के बल पर अहितकर बातें छोड कर हित की बातें ग्रहण करते हैं। लेकिन यह केवल विवेक के बल पर संभव नहीं होता, विवेक की विधात्री परमेश्वरी की कृपा के बिना विवेक भी समय पर काम नहीं देता। संसार में सब कुछ दयामयी देवी की प्रेरणा से ही होता है और इसलिए उन्हीं के भरोसे रहने में हमारा श्रेय है। यही संदेश श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में मिलता है :

"दुष्टदूरा दुराचारशमनी दोष वर्जिता।
सर्वज्ञा सांद्रकरूणा समानाधिक वर्जिता।"

जहाँ श्रीमाता की शिष्टता विराजमान होती है, वहां दुष्टता नाम की चीज़ टिक नहीं सकती। उत्कृष्ट शिष्टता को देखते ही निकृष्ट दुष्टता अपने आप दूर हो जाती है। दुष्टों को दूर रखने के लिए उन से दूर होने की जरूरत नहीं है। स्वयं शिष्ट आचरण करते हुए शिष्टता का उत्कृष्ट आदर्श सामने रखा जाये तो दूसरों की दुष्टता अपने आप दूर हो जाती है। परमेश्वरी का यही आदर्श "दुष्टदूरा" और "दुराचार शमनी" के नामों में स्पष्ट होता है। वह दुष्टों को दूर रखती हैं या उन की दुष्टता को दूर कर देती हैं। अच्छे बुरे के विवेक के अभाव से दुराचार उत्पन्न हो जाता है। जब यह विवेक भगवती की कृपा से प्राप्त हो जाता है, तब दुराचार शांत हो जाता है और सदाचार का सर्वत्र प्रसार होता है। व्यावहारिक जीवन में भी दूसरों

के दोष निकालने वाले बहुत-से लोग मिलते हैं। पर वे अपने निजी दोषों की तरफ ध्यान नहीं देते। अक्सर दोषी व्यक्ति को ही दूसरों के दोष विशेष रूप से दिखाई देते हैं। अपने दोषों का विश्लेषण करना शुरू किया जाए तो दूसरों के दोष अपने को ज्यादा खटकने नहीं लगते हैं और धीरे-धीरे यह आत्म-विश्लेषण आत्मवान् व्यक्ति के आचारण को दोष रहित या दोष वर्जित बना देता है। साधारण व्यक्ति भी जब इस प्रकार निर्दोषी या दोष वर्जित बन सकता है तो दयामयी देवी का कहना ही क्या है ? वह सब के दोषों को गुण बना देती है जैसे सूर्य की किरणें सारे अंधकार को प्रकाश में बदल देती हैं। इसीलिये परमेश्वरी को "दोषवर्जिता" कहा गया है।

वह "सर्वज्ञा" हैं, सब कुछ जानती हैं। किसमें क्या गुण हैं, क्या दोष हैं, यह बात उनसे छिपी नहीं रह सकती। सबके हृदय को पहचानने वाली देवी किसी को दोषी कहकर दूर नहीं भगातीं, बल्कि उस पर दया दिखाती हैं। उनकी करूणा में कहीं कोई ढिलाई या पतलाई नहीं है। इस लिए वह "सांद्रकरूणा" हैं। घने बादल की तरह उनकी करूणा, दया या अनुकंपा इतनी घनीभूत होती है कि वह कभी भी बरस सकती है। केवल साधक के हृदय-क्षेत्र को इस कृपा-वर्षा को ग्रहण करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। मन की निर्मलता ही इसके लिए एक मात्र तैयारी है। निर्मल मन ही परमेश्वरी की पावन अनुकंपा को ग्रहण कर सकता है। लेकिन भगवती की दृष्टि में छोटे-बड़े का, गुणी-दोषी का या पापी-पुण्यात्मा का कोई अंतर नहीं होता। वास्तव में पापी मन पर ही वह अधिक ध्यान देती हैं। पापी का पाप और दोषी का दोष दूर करके वह सबको अपनी कृपा का समान अधिकारी बनाना चाहती हैं। इसी लिए उनको "समानाधिकवर्जिता" कहा गया है। उनकी बराबरी करने वाली कोई शक्ति इस संसार में नहीं है तो फिर उनसे बढ़कर किसी सत्ता के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए भी वह समानाधिक-वर्जिता हैं।

सर्वेश्वरी की सर्वशक्तिमत्ता का वर्णन करने वाली सर्वनामावली अगले श्लोक में प्रस्तुत है ।

"सर्वशक्तिमयी सर्वमंगला सद्गतिप्रदा ।
सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमंत्रस्वरूपिणी ।।"

संसार में जो भी शक्ति है, उसका मूल स्रोत सर्वेश्वरी ही हैं । सूर्य को प्रकाश, अग्नि को तेज, हवा को गति, आकाश को शब्द आदि सर्वशक्तिमयी की इच्छा से ही मिलते हैं । यहां तक कि प्राणी को प्रेरणा प्रदान करने वाली इच्छा, श्रद्धा, मेधा आदि भी उन्हीं की देन है । लेकिन सर्वशक्तिमयी सबको शक्ति इसलिए प्रदान करती हैं कि उससे लोकमंगल की साधना सफल हो, सबका कल्याण हो, जीवन अधिक सुखमय और सार्थक बने । दैवी शक्ति मानव को प्राप्त है । लेकिन उसका उपयोग सार्वजनिक हित में होना चाहिए । तभी मानव दिव्य जीवन का आनंद पा सकता है । यही सर्वमंगला देवी की मंगल कामना है । सर्वशक्तिमयी देवी के वरदान से प्राप्त शक्ति का मंगलमय कार्य के लिए उपयोग कर लिया जाये, तो वह प्रसन्न होकर सबको "सद्गति" प्रदान करती हैं । प्रत्येक विद्या या कौशल के दो पहलू होते हैं । उससे लोक हित भी हो सकता है या सर्वनाश भी । जैसे आजकल की वैज्ञानिक प्रगति से सारा संसार सौजन्य और सौहार्द के वातावरण में सुखमय जीवन भी बिता सकता है या भौतिक शक्ति का दुरूपयोग करके सर्वनाश का बीज भी बो सकता है । शक्ति, कल्याण और जीवन लक्ष्य के महत्त्व और सामंजस्य की ओर संकेत करने वाले ये तीनों नाम—सर्वशक्तिमयी, सर्वमंगला और सद्गतिप्रदा—स्मरणीय और मननीय हैं ।

सबकी अधिष्ठात्री होने के कारण देवी को "सर्वेश्वरी" कहा गया है । यह सारा संसार ईशावास्य है—किसी अधिष्ठाता के अधीन उसी के द्वारा आवासित है । परमेश्वरी उसी ईश्वरीय सत्ता की अभिन्न और सहचरी शक्ति है । इस सत्ता और शक्ति के ऊपर और किसी का

आधिपत्य नहीं है इसलिए वह सर्वेश्वरी हैं। आधिपत्य की जब बात चलती है तो सहज ही यह भ्रम उत्पन्न होता है कि परमसत्ता परिमित सत्ता से अलग है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। दोनों एक ही तत्व के दो भिन्न रूप हैं। परमेश्वरी में जो शक्ति है, वही परमशिव में है और वही साधारण प्राणी में भी है। वह सबके साथ सबके अंदर और सबसे एकाकार होकर सारे संसार की लीला चला रही हैं। इसलिए उनको 'सर्वमयी' कहा गया है।

प्राय: परमेश्वरी का ध्यान विभिन्न मंत्रों के माध्यम से किया जाता है। मंत्र मनन के साधन हैं और मनन मन की अधिष्ठात्री देवी का होता है। इसलिए मंत्र के माध्यम से मननीय दिव्य चेतना मंत्र से जुड़ी हुई है, पर मंत्र के अधीन नहीं। सभी मंत्रों में उसी परम चेतना की भावना है। आराध्य देवी या देवता को मंत्र से अलग नहीं मानना चाहिए। जीवात्मा को मन के माध्यम से परमात्मा तक ले जाने वाला अमोघ साधन मंत्र है। इसलिए मंत्र परमेश्वरी का ही स्वरूप है। तभी तो वह 'सर्वमंत्रस्वरूपिणी' मानी गई हैं।

मंत्र ही नहीं, यंत्र और तंत्र भी परमेश्वरी के ही विभिन्न रूप हैं, यह भावना अगले श्लोक में व्यक्त की जाती है :

सर्वयंत्रात्मिका सर्वतंत्र रूपा मनोन्मनी।
महेश्वरी महादेवी महालक्ष्मीर्मृडप्रिया॥

मंत्र मानसिक आराधना के साधन हैं तो यंत्र बहिर्मुख साधना के आधार हैं और तंत्र मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार की आराधना की प्रक्रिया है। ये तीनों परमेश्वरी की कृपा प्राप्त करने के साधन हैं। कुछ भाग्यशाली ऐसे भी हैं जिनको इनमें से किसी भी साधन का सहारा लिए बिना ही परमेश्वरी का अनुग्रह सहज रूप से प्राप्त होता है। संत त्यागराज कहते हैं कि जिनका अपना मन अपने अधीन रहता है और जो इस तथ्य को भली-भांति जानते, मानते और पहचानते हैं कि हम

केवल यह शरीर नहीं है, बल्कि इस शरीर के मिट जाने पर भी अमिट रहने वाले अशरीरी तत्व में एकाकार हैं, उनके लिए मंत्र तंत्र की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। लेकिन ऐसे धन्य जीवी बहुत कम हैं। मंत्र, तंत्र और यंत्र मन को शरीर से अलग कर आत्मा के निकट ले जाने के साधन हैं। यह काम "मनोन्मनी" अपने आप कर सकती हैं। मन को उन्मन या उदात्त मानस की भूमिका पर ले जाने वाली देवी को "मनोन्मनी" कहा जाता है। परमेश्वरी का यह नाम "मनोन्मनी" यहां ठीक स्थान पर आया है। सर्वशक्तिमयी की सर्वनामावली के समाप्त होते ही यह नाम भौतिक और आध्यात्मिक सत्ता के बीच की कडी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। मन समस्त इन्द्रियों का भीतरी किवाड़ है और आत्मा का फाटक है। अगर यह फाटक भीतर की तरफ खुलता है तो आत्मा का आलोक मिलता है। अन्यथा इन्द्रियों का आधिपत्य मन को कठपुतली बनाकर मनमाने ढंग से नचाने लगता है। इस मध्यवर्ती मन को अन्तर्जगत् के अनंत लावण्य की ओर प्रवर्तित करने वाली देवी को ही यहां पर "मनोन्मनी" कहा गया है। योगशास्त्र में यह एक मुद्रा है जो इस प्रकार की मनोदशा को निरूपित करती है।

अब "मनोन्मनी" तक पहुंचने के बाद अन्तर्मन का आकार-प्रकार एक-एक करके अगले सत्ताईस नामों में व्यक्त होता है। ये सभी नाम महद् वाचक शब्दों से युक्त होते हैं—जैसे माहेश्वरी, महादेवी, महालक्ष्मी आदि। "मह इति ब्रह्म" वाली श्रुति के अनुसार ये सब के सब ब्रह्म पदार्थ की व्याख्या करने वाले नाम हैं। हो सकता है, ये सत्ताईस नाम अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि सत्ताईस नक्षत्रों के भी प्रतीक हों। चन्द्रमा इन नक्षत्रों का स्वामी माना जाता है। इस महती तारावली के बाद "चन्द्रविद्या" का भी उल्लेख मिलता है। इसलिए ये महद् वाचक नाम विभिन्न नक्षत्रों की अधिदेवताओं के शब्द-चित्र कहे जा सकते हैं। इस नाम तारावली का आरम्भ होता है—"माहेश्वरी" के नाम से।

ईश्वर शब्द किसी स्वामी, शासक या नायक का द्योतक होता है।

गीता माता कहती है कि समस्त प्राणियों का ईश्वर हमारे हृदय के अंतःस्तल में रहता है। यह ईश्वर का सीमित रूप है। सारे संसार के समस्त प्राणियों के भीतर बसे हुए इसी सर्वांतर्यामी ईश्वर का विराट् रूप महेश्वर है जिनकी अन्तरंगिणी शक्ति का नाम है "माहेश्वरी"। वही महादेवी हैं। शंकर को महादेव भी कहते हैं। महादेव की पत्नी होने के कारण देवी को यहां माहेश्वरी नहीं कहा गया है क्योंकि अगला नाम महालक्ष्मी इस स्थापना में बाधा उत्पन्न करती है। वास्तव में ब्रह्मा की पत्नी सरस्वती, विष्णु की पत्नी लक्ष्मी और शंकर की पत्नी पार्वती एक ही मूल शक्ति के तीन रूप हैं और वही मूल शक्ति ललिता परमेश्वरी है। वह सबकी माता श्रीमता है। इसी दृष्टि से उनको माहेश्वरी, महादेवी और महालक्ष्मी कहा गया है। महासरस्वती, महालक्ष्मी, महादेवी आदि सभी देवी-देवताओं को जन्म देने वाली वह मूल शक्ति या आदि लक्ष्मी हैं। अगले नाम "मृडप्रिया" को भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझ लेना चाहिए। मृड भी शंकर का नाम है। लेकिन इसका शाब्दिक अर्थ है—मृत्यु पर विजय पाने वाला या मृत्युंजय। जरा मरण के भय से लोगों को मुक्त करने वाले परमेश्वर के मन में परमेश्वरी के प्रति अपार प्रेम है। मृत्यु का रहस्य जानकर अमरत्व को प्राप्त करना ही श्रीमाता की आराधना का चरम ध्येय है।

महादेवी की महनीयता का वर्णन अगले चार श्लोकों में मिलता है :

महारूपा महापूज्या महापातकनाशिनी।
महामाया महासत्वा महाशक्तिर्महारतिः॥

महाभोगा महैश्वर्या महावीर्या महाबला।
महाबुद्धिर्महासिद्धिर्महायोगेश्वरेश्वरी॥

महातंत्रा महामंत्रा महायंत्रा महासना।
महायागक्रमाराध्या महाभैरवपूजिता॥

महेश्वर महाकल्प महातांडव साक्षिणी।
महाकामेशमहिषी महात्रिपुर सुन्दरी।।

संसार में जितने रूप हैं, सब परमेश्वरी के ही रूप हैं। इस नाम रूपात्मक जगत् में देवी के सहयोग के बिना रूप विस्तार संभव नहीं है। "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"—एक रूप और दूसरे रूप के संयोग और सहयोग से ही तीसरा रूप निष्पन्न हो जाता है। इस प्रकार प्रतिदिन प्रतिक्षण बनती चलने वाली असंख्य रूपावली का मूलाधार होने के कारण श्रीमाता को "महारूपा" कहा गया है।

सारा संसार इस महारूपा माता की पूजा करता है। माता-पिता प्रत्यक्ष देवता हैं और संसार के समस्त माता-पिता उसी विश्वमाता को अपने जन्म का मूल कारण मानकर उनकी आराधना करते हैं। जैसे शरीर के विभिन्न अंग प्राण के भरोसे अपने-अपने व्यापारों में प्रवर्तित हो पाते हैं, उसी प्रकार संसार के समस्त प्राणी उसी प्राणेश्वरी के प्रणयन पर निर्भर हैं। इसलिए वह सबके लिए आराध्य हैं।

स्वभाव से करुणामयी होने के कारण वह निकृष्ट से निकृष्ट पापी के घोर से घोर पापों को भी पल भर में नष्ट कर देती हैं। देवी के चरणों की शरण में एक बार ही सही जो पहुंच पाता है, वह सर्वात्मना विशुद्ध बन जाता है। मोह शोक पाप ताप उसको छू नहीं सकते। इसीलिए देवी को "महापातकनाशिनी" कहा गया है।

परमेश्वर प्रत्येक प्राणी के अन्तःस्तल में आसीन होकर अपनी माया के सहारे उसको सांसारिक जीवन में प्रवृत्त और प्रेरित करते हैं। माया सत्य की भांति दिखाई देती है, पर वास्तव में सत्य नहीं होती। जैसे सपने में जो घटना घटती है, वह स्वप्न के समय सत्य प्रतीत होती है। पर जैसे ही नींद खुल जाती है, उसका खोखलापन प्रकट हो जाता है। सांसारिक जीवन भी इसी प्रकार सत्य प्रतीत होने वाला मिथ्यानुभव है। मोह और माया के कारण यह आभास होता है। जैसे ही मोह की

निद्रा टूट जाती है, माया का भेद खुल जाता है। पर जीवन-लीला बनाये रखने के लिए यह माया बहुत जरूरी होती है। असल में मानव-जीवन माया और सत्ता के बीच की आँख-मिचौनी है। जीवात्मा और परमात्मा के बीच में माया का परदा तब तक छाया रहता है जब तक प्राणी अपने स्वत्व को भुलाकर सनातन और सर्वव्यापी सत्व में एकाकार नहीं होता। पर विडम्बना यह है कि माया और सत्ता दोनों उसी महा-माया और महसत्वा की निजी रचना हैं। इस मायाजाल को चीरकर बाहर निकलने की शक्ति भी वही महाशक्ति प्रदान करती हैं। परमेश्वरी की इसी रहस्यमयी रचना-शैली को समझाने के लिए यहां पर महामाया, महासत्वा और महाशक्ति का स्मरण किया गया है।

इस श्लोक का अन्तिम नाम है—महारति। रमणीयता जीव मात्र का सहज लक्षण है। आकर्षण चेतनता का चिह्न है। सौंदर्य, माधुर्य और सामर्थ्य मानव मात्र को ही नही, बल्कि समस्त जीव जगत् को रमणशील बना देते हैं। लेकिन पार्थिव प्रेम से उत्पन्न होने वाली यह लौकिक रति क्षणभंगुर होती है और शरीर को दुर्बल और नीरस बना देती है। अगर यह रति या रमणशीलता अन्तर्मुख बन जाए तो वह शाश्वत सुख प्रदान करती है। इसी प्रकार की आंतरिक रति का परिचय कराने वाली परमेश्वरी को यहां महारति का नाम दिया गया है।

जैसी रति, वैसा भोग, वैसा ही ऐश्वर्य होता है। श्रीमाता को महा-भोगा और महैश्वर्या कहा गया है। पार्थिव भोग और पार्थिव ऐश्वर्य केवल इन्द्रिय जन्य सुख तक सीमित होता है। लेकिन माता का भोग और ऐश्वर्य अतीन्द्रिय और बुद्धिग्राह्य होने के कारण अलौकिक आनन्द प्रदान करता है। उत्तम रति उत्तम गति प्रदान करती है। उत्तम भोग और उत्तम ऐश्वर्य उदात्त भावनाओं को जन्म देते हैं। भोग केवल शारीरिक नहीं होता, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक भी होता है और ये तीन प्रकार के भोग एक-दूसरे से बढ़कर होते हैं। भगवती को

जो भोग लगाया जाता है, वह इसी उच्चकोटि के आध्यात्मिक महा-भोग का प्रतीक है। ऐश्वर्य की भावना भी लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की हो सकती है। जितनी बाहरी सम्पत्ति है, वह वास्तव में हमारी अपनी नहीं है क्योंकि उसमें से कोई भी अंश हमारे साथ नहीं आता। भव्य भवन, अपार धनराशि, नाना प्रकार के वस्त्र और आभू-षण सब कुछ पार्थिव शरीर के साथ मनुष्य छोड़ देता है। लेकिन उसकी विचार सम्पत्ति, पद सम्पदा, वाग्विभूति सारी की सारी उसके नाम को अमर बना देती है।

इस दृष्टि से श्रीमाता को महावीर्या, महाबला और महाबुद्धि भी कहा गया है। इन तीनों नामों में देवी की शारीरिक और बौद्धिक क्षम-ताओं का अलौकिक महत्व बताया गया है।

केवल शारीरिक और बौद्धिक बल में ही नहीं, बल्कि लौकिक और अलौकिक सिद्धियों में भी माँ ललिता की महत्ता सर्वोपरि है। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा आदि अष्ट सिद्धियां भी मां ललिता की महती सिद्धि की तुलना में नतुल्य हैं। लौकिक सिद्धियां और उपलब्धियां पारलौकिक परमार्थ के प्रशस्त पथ में अवरोधक ही बनती हैं। इसलिए साधक को इन छोटे-छोटे प्रलोभनों के प्रति काफी सतर्क रहना पड़ता है। सिद्धि की भावना ही साधना में बाधा उपस्थित करती है। इसलिए सिद्धियों के प्रति तटस्थ और उदासीन भावना ही साधना को उदात्त और उत्कृष्ट बना सकती है।

अगला नाम "महायोगेश्वरेश्वरी" इसी योग साधना की पराकाष्ठा का द्योतक है। गीता को योगशास्त्र कहा जाता है और गीताचार्य को योगेश्वर क्योंकि गीता-सप्तशती में महायोग का रहस्य बताया गया है। गीता-सप्तशती के प्रवक्ता श्रीकृष्ण की तरह दुर्गासप्तशती की स्तुत्या दुर्गा भी योगेश्वरी कहलाती हैं। इन दोनों का सत्वसार लेकर चिदग्नि कुंड से श्रीमाता ललिता का प्रादुर्भाव हुआ है। इसलिए उनको महायोगेश्वरेश्वरी

कहा गया। ब्रह्मा, विष्णु और शंकर तीनों को भी योगेश्वर कहा जाता है। इन तीनों की शास्त्री (शासन करने वाली) होने के कारण भी मां ललिता महायोगेश्वरेश्वरी हैं।

तांत्रिक, यांत्रिक और मांत्रिक परिभाषा में अगर मां ललिता को समझना और समझाना हो तो उनको महातंत्रा, महायंत्रा और महमंत्रा कहा जा सकता है। मां ललिता की आराधना के तंत्र को शंकराचार्य स्वतंत्र तंत्र कहना उचित समझते हैं। यह चौंसठ तंत्रों से भिन्न और स्वतंत्र है। इसी प्रकार श्रीमाता को निरूपित या प्रतिपादित करने वाला यंत्र श्रीचक्र कहा जाता है। ब्रह्मांड और पिंडांड का भी यह प्रतिनिधित्व करता है। शिव और शक्ति—पदार्थ और ऊर्जा—के सामरस्य का भी यह द्योतक है। श्रीचक्र बाहरी भी हो सकता है और आन्तरिक भी। आंतरंगिक रूप से प्रत्येक प्राणी का शरीर श्रीचक्र है जिसके नौ द्वार नौ आवरण हैं। इस प्रकार श्रीचक्र के आधार पर श्रीमाता की जो आराधना की जाती है उसी को श्रीविद्या कहा जाता है। श्रीविद्या एक मंत्र का भी नाम है जो श्रीमाता के वाङ्मय शरीर का प्रतिनिधित्व करता है। यह सारा रहस्य इन तीनों नामों में प्रकट हुआ है जिसके निष्कर्ष के रूप में अन्त में "महासना" नाम दिया गया है। देवी का आसन इन सबसे ऊपर है। चौंसठ तंत्रों से और चौबीस तत्वों से भी ऊपर देवी का आसन विराजमान है।

इतने ऊंचे आसन पर प्रतिष्ठित देवी की आराधना साधारण यज्ञ नहीं कही जा सकती है। वास्तव में यह महायाग है। इसका सिलसिला काफी लम्बा है। अनेक जन्मों की साधना से बाहर और भीतर की शुद्धता से यह महायाग सम्पन्न हो पाता है। इसीलिए देवी को महायागक्रमाराध्या" कहा गया है।

इतनी बड़ी साधना सामान्य व्यक्ति नहीं कर पाता। महाभैरव जैसे कर्मठ और निष्ठावान् साधक ही इस साधना में सफलता प्राप्त कर

सकते हैं। परमशिव ही महाभैरव हैं। परमशिव भी परमेश्वरी के परम आराधक हैं। देवी के दो प्रमुख रूप होते हैं—माता और पत्नी। माता के रूप में देवी की आराधना सब के लिए सम्भव है, पर पत्नी के रूप में देवी की भावना को आत्मसात् करना असाधारण साधक का ही काम है। शिव-पार्वती का बहुत कुछ ऐसा ही सम्बन्ध है।

महाप्रलय के समय महेश्वर अपनी महती परिकल्पना के बल पर महातांडव का भयंकर नृत्य प्रदर्शित करते हैं। उस समय परमशिव की परम साध्वी पार्वती मंदहास के साथ सब कुछ देखती रहती हैं। यही दृश्य "मां ललिता" के एक लम्बे नाम में चित्रित है—"महेश्वर महा-कल्प महातांडव साक्षिणी"। तभी तो वह महाकामेश की महिषी बनने की योग्यता रखती हैं। उग्रता में भी सौम्यता, भोषणता में भी सौंदर्य, प्रलय में भी प्रणय और सर्वनाश में भी मंदहास प्रदर्शित करने की लोकोत्तर क्षमता देवी को महाकामेश्वर की हृदयेश्वरी बना देती है।

इस महती नाम-तारावली का अन्तिम नाम है—महात्रिपुर सुन्दरी। यह वास्तव में बहुत ही सुन्दर नाम है। ज्योतिर्मण्डल की सारी ज्योति को अपने में समाकर सब को आलोक प्रदान करने वाली काँतिमती माता को केवल सुन्दरी कहने से काम नहीं चलता। वह साधारण सुन्दरी नहीं है, त्रिपुर सुन्दरी है, महात्रिपुर सुन्दरी। त्रिपुर सौंदर्य अपने में अलौकिक होता है। इच्छा, ज्ञान और कर्म, सत्व, रजस् और तमस्, ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, ध्यान, ध्येय और ध्याता, जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति, अकार, उकार और मकार, अतीत, वर्तमान और भविष्य—इसी प्रकार के अनेक त्रिपुरों की कल्पना की जा सकती है। इन सब पुरत्रयों से विभूषित त्रिपुर सुन्दरी का सौंदर्य सममुच महान् है। इसीलिए कहा है :

"नीवारशूकवत्तन्वी पीता भास्वत्यणूपमा"

---

१३. पार्वती पद्मनयना

श्री ललिता माता का रहस्य नाम साहस्रिका में सबसे महत्वपूर्ण, सुंदर और सारगर्भित नाम है—महात्रिपुर सुंदरी। मां के महान् सौंदर्य को त्रिपुर की परिभाषा में प्रस्तुत करने वाला यह नाम अपने में एक महान् मंत्र है। माता का यह सौंदर्य केवल शारीरिक नहीं है, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक भी है। इसीलिए यह त्रिपुर सौंदर्य है। अगर इस को केवल शारीरिक या भौतिक सौंदर्य ही मान लिया जाए तो भी शक्ति कूट, मध्य कूट और वाग्भव कूट नाम की कूटत्रयी में यह पार्थिव सौंदर्य प्रकट हो जाता है। कंठ से ऊपर का मुख लावण्य, कंठ से कमर तक की कोमल कांत कमनीयता और कमर से पैर तक की मंगलमय गतिशीलता माता के त्रिपुर सौंदर्य को महान् बनाती है। अगर इसी सौंदर्य को मनोहर भावभूमिका में देखना चाहें तो जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति में स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर धारण कर परमात्मा के साथ तादात्म्य की भावना में तल्लीन होने वाली आत्मा की आलोक यात्रा स्पष्ट दिखाई देती है। यही आलोक यात्रा आध्यात्मिक जगत् में अग्नि, चंद्रमा और सूर्य के रूप में प्रकट ज्योतिर्मय सौंदर्य के त्रिपुर वैभव को प्रत्यक्ष कर लेती है। इस प्रकार भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक भूमिकाओं में मां ललित की ललित कला का लालित्य प्रकट करने वाला यह नाम—महात्रिपुर सुंदरी—आगे की सूक्ति मुक्तावली का मंगल गीत सुनाता है।

श्रीमाता के अगले नामों में कलामयी की प्रशांत शीतलता पहले चंद्रकला के माध्यम से प्रकट होती है और उसके बाद सूर्यकला की

प्रखरता के रूप में। सूर्य और चंद्र में जो तेज है, वही अग्नि में है। ये तीनों संसार की शक्ति के तीन प्रधान स्रोत हैं जिनकी ओर महात्रिपुर सुंदरी के नाम में मार्मिक संकेत मिलता है। सूर्य के प्रकाश में श्रीदेवी के रूप में, चन्द्रमा की कांति में लक्ष्मी के रूप में और अग्नि की ज्वाला में महती शक्ति के रूप में प्रकट श्रीमहा लक्ष्मी ही महात्रिपुर सुंदरी हैं। इसी मूर्तित्रयी का वर्णन श्रीसूक्त में मिलता है :

चंद्राभां लक्ष्मीमीशानां सूर्याभां श्रियमीश्वरीम्।
चंद्र सूर्याग्नि सर्वाभां श्रीमहालक्ष्मीमुपास्महे ।।

महालक्ष्मी, महासरस्वती, महादुर्गा आदि कई महान् रूपों में आराध्य महादेवी का वैश्वानर रूप महात्रिपुर सुंदरी के पहले की महती नामावली और सर्वनामावली में निरूपित हो चुका है। सर्व और महान् शब्दों के द्वारा वैश्वानर या अग्नि की सर्वशक्ति मत्ता और महती महत्ता की ओर संकेत किया गया है। अब उसी तेज का कलात्मक रूप सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है :

चतुःषष्ट्युपचाराढ्या चतुःषष्टिकलामयी।
महाचतुःषष्टिकोटि योगिनी गण सेवता ।।

इसमें देवी को चौंसठ कलाओं की साकार एवं सजीव प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनकी प्रत्येक कला की आराधना एक विशिष्ट उपचार या प्रक्रिया के माध्यम से होती है। इस प्रकार का उपचार या सेवन करने के लिए चौंसठ करोड योगिनियाँ उत्सुक हैं। यह सेवा शुश्रूषा, पूजा-अर्चना निरंतर चलती रहती है। देवी का जितना उपचार किया जाता है, उतना ही उन का कलात्मक सौष्ठव परिपुष्ट बनता जाता है। वास्तव में यह कलामयी देवी कौन हैं, इनका उपचार किस रूप में होता है और करने वाले किस आशय से प्रेरित होकर करते हैं, ये सब विचारणीय प्रश्न हैं। इन सभी प्रश्नों का समाधान चौंसठ की संख्या में निहित हैं। हमारे यहां कलाओं की संख्या

चौंसठ मानी गई है जिन में काव्य कला, गान मला, चित्र कला, नृत्य कला आदि प्रसिद्ध कलाओं के अलावा तिलक लगाना, चौक बनाना, बेल बूटे काढ़ना, संकेत से बोलना, रत्नों को परखना, साग, शरबत, पकवान आदि बनाना आदि लौकिक विद्याएं भी शामिल हैं। धीरे-धीरे इन्होंने सांसारिक रूप धारण किया है और आजकल इन कलाओं का इतना बोलबाला नहीं है जितना पुराने जमाने में होता था।

लेकिन कला के नाम पर कलाधर चन्द्रमा का स्मरण आज भी किया जाता है। चन्द्रमा को सोलह कलाओं से पूर्ण माना जाता है। यह मान्यता इतनी प्रचलित हो गई कि कला शब्द ही सोलह संख्या का पर्याय-वाची बन गया। अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चंद्रिका, कांति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीति, अंगदा, पूर्णा और पूर्णामृता इन सोलह कलाओं के नाम हैं। पूर्णिमा के दिन ये सोलह कलाएं चन्द्रमा में दिखाई देती हैं। इसलिए देवी को पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह प्रफुल्ल-वदन से युक्त (राकेंदु बिंबानना) माना जाता है। यहां तक कि साधा-रण सुन्दरियों को भी चन्द्रमुखी, इन्दुवदना कहा जाता है। चन्द्रकला के साथ देवी की उपमा देने में केवल काव्य परंपरा या कवि समय का ही आशय प्रकट नहीं होता, बल्कि कोई आध्यात्मिक रहस्य भी इसके पीछे छिपा हुआ मालूम पड़ता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (पंचम ब्राह्मण) में अन्न की उपासना करने वाले संवत्सर को सोलह कलाओं से परिपूर्ण प्रजापति बताया गया है जिसमें पन्द्रह कलाएं पन्द्रह रातों में बढ़ती और घटती रहती हैं और सोलहवीं कला नित्य निरंतर विराजमान रहती है। यही चन्द्रमा का कलात्मक स्वरूप है जो देवी के दिव्य रूप में प्रतिफलित बताया जाता है।

अब समस्या यह है कि चन्द्रमा या चन्द्रवदना देवी की इन सोलह कलाओं से ऊपर के श्लोक में उल्लिखित चौंसठ कलाओं का क्या संबंध है। सोलह और चौंसठ के बीच कोई विशेष अन्तर नहीं है। सोलह को

चार से गुना करने पर चौंसठ संख्या प्राप्त होती है। कला का मतलब ही अंश या भाग हैं। अतः सोलह कलाओं का विस्तृत और चतुर्गत रूप ही चौंसठ कलाकृति है। सोलह कलाओं में से प्रत्येक को चार-चार कलाओं में विभाजित करने से चौंसठ कलाएं निष्पन्न हो जाती हैं। वास्तत में ये सोलह या चौंसठ कलाएं काल ही की कलाएं हैं—अनंत आत्मा की अमृत कलाएं।

इन चौंसठ कलाओं से अलंकृत कलामयी देवी जैसे चन्द्रमण्डल में विराजमान होती हैं, वैसे प्रत्येक प्राणी के मनोमंडल में भी प्रतिष्ठित रहती हैं। चन्द्रमा मन का ही प्रतीक है। मानव शरीर में मूलाधार से लेकर सहस्रार तक की जो भावभूमिकाएं हैं, वे ही कलामयी के कलानिकेतन हैं। मूलाधार को इस कला विलास की इकाई मान लिया जाए तो स्वाधिष्ठान इससे दुगुनी मात्रा में इस कला को आत्मसात् कर लेता है और उससे ऊपर का मणिपूरक चक्र इससे भी दुगुनी मात्रा अर्थात् मूल से चौगुनी मात्रा में कला का आलय बन जाता है। इसी क्रम से कला की मात्रा बढ़ते-बढ़ते अनाहत में मूल से आठ गुनी, विशुद्धि चक्र में सोलह गुनी, आज्ञा चक्र में बत्तीस गुनी और सबसे ऊपर विराजमान सहस्रार चक्र में चौंसठ गुनी मात्रा में आत्मकला का रूप धारण कर लेती हैं और यही उसका परिपूर्ण रूप है। यही सहस्र परमा देवी का कला संस्थान है जिसको यहां पर चौंसठ कलाओं से पूर्ण (चतुःषष्टिकलामयी) कहा गया है। प्रत्येक प्राणी के सहस्रार चक्र में इस कलामयी की सकल कला का निवास मान लिया जाए तो देवी की आराधना शरीर के विभिन्न अंग, कर्मेंद्रिय, ज्ञानेंद्रिय, असंख्य नाडियां, कोशिकांएं, धमनियां, शिराएं कैसे कर रही हैं और इसके लिए कौन कौन सी उपचार-प्रक्रियाएं अपना रही हैं, यह बात आसानी से समझ में आ जाती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के माध्यम से हम जो भी आनन्द पाने का प्रयास करते हैं, उस आनन्द का वास्तविक ग्राहक यही आत्मा है। जीवन में हमें जो भी अच्छा लगता है, वह आत्मा की वजह से ही अच्छा लगता है।

इसलिए आत्मा की यह आनंद लीला ही माता ललिता का कला विलास है। इस लीलाधाम का यह भेद समझकर उसकी सश्रीकता में तल्लीन होना ही देवी की सही आराधना है।

इसी अनुभूति को मनु विद्या, चन्द्रविद्या, श्रीविद्या आदि कई नामों से अभिव्यक्त करने का प्रयास किया जाता है। सहस्रनाम का अगला श्लोक इसी प्रयास का नमूना प्रस्तुत करता है :

मनु विद्या, चद्र विद्या, चंद्र मंडल मध्यगा।
चारुरूपा चारुहासा चारुचंद्र कलाधरा॥

परम सत्ता का तात्विक ज्ञान ही विद्या है। यह विद्या कई प्रकार की हो सकती है—"मानसिक या भौतिक, कर्मप्रधान या ज्ञानप्रधान, प्रवृत्ति मूलक या निवृत्तिमूलक, अन्तर्मुख या बहिर्मुख। मार्ग चाहे कुछ भी हो, ध्येय तो एक ही है—संसार के सार का सही अवबोध। इसी को श्रीमाता के उपासक श्रीविद्या कहते हैं। श्रीविद्या के बारह प्रधान उपासक माने जाते हैं जिनमें मनु सर्वप्रथम थे। चंद्र नाम के ऋषि भी इसी परम्परा के अन्तर्गत आते हैं। इन दोनों उपासकों ने श्रीविद्या की उपासना में सहायक मंत्रों का आविष्कार किया है जिनको मनु विद्या और चन्द्र विद्या की संज्ञा दी जाती है। प्रत्येक विद्या या मंत्र में आराध्य देवी-देवताओं का निवास होता है। इसीलिए यहां पर परमेश्वरी को मनु विद्या और चन्द्र विद्या कहा गया है। जो देवी इन मंत्रों में प्रतिष्ठित हैं, वही चन्द्रमंडल के मध्यभाग में भी विराजमान हैं। इसलिए उनको "चन्द्रमंडल मध्यगा" कहा गया है। वास्तव में चन्द्रमा में चन्द्रकला के रूप में जो सत्ता निरंतर विद्यमान् होती है, वही आत्मज्ञानियों की अक्षर भारती में भी प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हो जाती है।

विद्यास्वरूपिणी की यही संचरणशीलता "चारु" शब्द को तीन बार दुहराकर प्रकट की गई है। वह चारुरूपा है, अग जग में सर्वत्र सर्वदा

संचरण करने वाली सर्वांग सुन्दरी है। वह हमेशा प्रसन्न रहती हैं, हँस-मुख रहती हैं, स्वयं हँसकर दूसरों को हँसाती हैं। जहां उनका सान्निध्य होता है, वहां हास विलास, विकास और प्रकाश की कोई कमी नहीं रहती। वह चिरहसित विलासिता है। चारु शब्द में परमेश्वरी के सौंदर्य (रूप) और विलास (हास) की गतिशीलता व्यंजित होती है। चारू शब्द का मूल अर्थ है—चित्त में संचरण करना (चरति चित्ते)। जन मानस में हास विलास और ज्ञान प्रकाश के रूप में नित्य संचरित होने वाली मंजुलरूपिणी और मधुर हासिनी चारुचन्द्र की चंचल किरणों में कलात्मक स्थिरता को प्रसारित करती हैं। देवी का रूप, देवी का हास और देवी का विलास—सब कुछ सुन्दर है, संचरणशील है, आचरण-शील है।

देवी की इस संचरणशीलता की कोई सीमा नहीं है। चर और अचर, जड़ और चेतन, पार्थिव और अपार्थिव सर्वत्र उनके चरण चलते हैं। यही सार्वभौम व्यक्तित्व अगले श्लोक के पांच नाम प्रस्तुत करते हैं :

चराचर जगन्नाथा चक्रराजनिकेतना।
पार्वती पद्मनयना पद्मराग समप्रभा ॥

वासुदेव की वासना से आवासित समस्त संसार परमेश्वरी के शासन के अधीन चलता है, जैसे यह पार्थिव शरीर परमात्मा की परमेच्छा से पलता है। सकल चराचर जगत् को लालित, पालित और शासित करने वाली मूल शक्ति इसी संसार रूपी चक्र में कहीं प्रतिष्ठित है। वही चक्रराज है। उसी चक्रराज का प्रतिरूप मानव शरीर में विद्यमान है जिसको योगशास्त्र में सहस्रार चक्र कहा जाता है। यह हजार दल वाले कमल की शोभा से चिर प्रफुल्ल और नित्य नूतन रहता है। मूलाधार से लेकर सहस्रार तक के सभी चक्रों में श्रीचक्र का स्थान सर्वोपरि है और यही बाकी चक्रों को नियंत्रित करता है। ललाट स्थान में रहकर सारे शारीरिक व्यापार को संचालित करने वाले आज्ञा चक्र को भी

यही सहस्रार या चक्रराज आज्ञापित करता है। यही चक्रराज परमेश्वरी का निवास स्थान है। इसीलिए उनको 'चक्रराजनिकेतना' कहा गया है।

यह स्थान सबसे ऊपर है। एक प्रकार से यह शरीर का पर्वत भाग है। पार्वत्य या पहाड़ी प्रांत में रहने वाली देवी को "पार्वती" कहा गया है। पर्वत केवल ऊंचा ही नहीं होता, बल्कि ठंडा भी रहता है। मानव-मन भी जैसे-जैसे ऊंचाई को प्राप्त करता है, वैसे-वैसे उसकी आंतरिक शीतलता बढ़ती जाती है। जो जितना महान् होता है, वह उतना ही उदार और शांत रहता है। परमेश्वरी के ये सारे लक्षण "पार्वती" के नाम से प्रकट होते हैं। तभी तो वह परमेश्वर के पास बैठने का अधिकार पाती हैं। दोनों एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं।

पर्वत की ऊंचाइयों पर विचरण करते हुए भी परमेश्वरी के नेत्र कमल की तरह प्रफुल्ल और प्रसन्न दिखाई देते हैं। इसीलिए वह पद्म-नयना हैं। "पद्म" शब्द कमल से अधिक अर्थपूर्ण है। संसार में जो कुछ पाने लायक हैं, उनमें सर्वोत्तम वस्तु को "पद्म" कहा जाता है। इसीलिए परमेश्वरी के पारमार्थिक प्रभाव की उपमा प्राय: पद्म से दी जाती है। पद्मानना, पद्मऊरू, पद्माक्षी, पद्मसंभवा, पद्मालया, पद्मावती, पद्मप्रिया, पद्महस्ता, पद्मिनी आदि कई नामों से पद्मनयना पार्वती की पहचान होती है। वास्तव में पद्म शब्द ही परमेश्वरी का वाचक बन सकता है क्योंकि वह प्राप्य पदार्थों में परमोत्तम परमार्थ हैं।

इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि शरीर की नाभि को प्राय: "पद्म" कहा जाता है क्योंकि वही शारीरिक संतुलन का केन्द्र है। परमात्मा को पद्मनाभ कहा जाता है। पद्मनाभ की नाभि से ही प्रजापति उत्पन्न होते हैं। वैसे ही नाभि कमल से ही प्रजनन का कार्य सम्पन्न होता है। माता और शिशु को मिलाने वाला संधिसूत्र नाभि के साथ ही लगा रहता है। इस दृष्टि से भी परमेश्वरी को "पद्मनयना कहना विशेष महत्त्व रखता है। वास्तव में नाभि रंध्र से लेकर ब्रह्मरंध्र तक परमेश्वरी का पद्मसूत्र

चलता है, नाभि से निकलता है और शिरो-रंध्र में खुलकर खिलता है। मूर्द्धा में जब उसका पूरा विकास होता है, तो उसकी लालिमा से सारा शरीर चमक उठता है जैसे सूर्योदय के पहले ऊषा की लाली से सारा संसार उज्ज्वल बन जाता है। यही पद्मराग की शोभा है जो परमेश्वरी के अंग-प्रत्यंग से प्रकट होती है। पद्मराग एक प्रसिद्ध रत्न का भी नाम है जिसको लाल या मानिक भी कहा जाता है। इसका नाम ही लाल है तो इसकी लाली का अनुमान लगाने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। परमेश्वरी की प्रभा, शोभा या आभा पद्मराग के समान लाल, उज्ज्वल और ऊर्जस्वल है। देवी की इस लालिमा से सारा ब्रह्मांड-मंडल लाल हो उठता है।

पद्मराग की प्रभा प्रसारित करने वाली पद्मनयना जिस पर्वत पर निवास करती हैं उसको एक प्रकार से पद्माकर कहा जा सकता है। जब तक इसमें पद्म खिले रहते हैं तभी तक पद्माकर की शोभा बनी रहती है। पांच भौतिक प्राणी के पांच भौतिक व्यापार तब तक चलते रहते हैं जब तक पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश को प्रेरित करने वाली पद्मिनी इस शरीर के पद्माकर की शोभा बनाए रखती हैं। उनके सानिध्य के अभाव में पांच महाभूत निर्जीव प्रेत बन जाते हैं। भूत हों या प्रेत सब पर उनका शासन चलता है। सब पर वह आसन जमाए बैठती हैं। चिदाकाश में पद्मासन लगाये विराजमान इस देवी की पांच भौतिक जीवन लीला का वर्णन सहस्रनाम के अगले चार श्लोकों में प्रस्तुत है :

पंच प्रेतासनासीना पंच ब्रह्म स्वरूपिणी।
चिन्मयी परमानंदा विज्ञान घन रूपिणी॥

ध्यान धातृ ध्येय रूपा धर्माधर्मविवर्जिता।
विश्वरूपा जागरिणी स्वपंती तैजसात्मका॥

सुप्ता प्राज्ञात्मिका तुर्या सर्वावस्थाविवर्जिता।
सृष्टकर्त्री ब्रह्मरूपा गोप्त्री गोविंदरूपिणी॥

संहारिणी रूद्ररूपा तिरोधानकरीश्वरी।
सदाशिवानुग्रहदा पचकृत्य परायणा॥

परमेश्वरी के सानिध्य में साधारण तत्त्व भी सृजनात्मक शक्ति को प्राप्त करता है और उनके अभाव में महाभूत भी महाप्रेत बन जाता है। सृष्टि पांच प्रकार की होती है—उत्पत्ति, रक्षण, संहार, तिरोधान और अनुग्रह। इन पांचों को परमेश्वरी ही प्रेरणा प्रदान करती है। ब्रह्मा, विष्णु, रूद्र, ईश्वर और सदाशिव इन पाँचों कृत्यों के अधिकारी हैं। इनको अधिकार प्रदान करने वाली परम सत्ता मां ललिता के हाथ में है। इसीलिए उनको पंचब्रह्म स्वरूपिणी कहा गया है। उनकी प्रेरणा के बिना ये पांचों देवता प्रेतवत् निष्क्रिय हो जाते हैं, इसलिए उनको "पंचप्रेतासनासीना" कहा गया है। वास्तव में जब आदमी सो जाता है तो उसके सारे शारीरिक व्यापार निष्क्रिय हो जाते हैं। लेकिन मनुष्य जागरणशील हो या गाढ़ सुषुप्ति में लीन हो, उसके भीतर की ज्योति निर्विराम जाज्वल्यमान रहती है। यही परंज्योति परमेश्वरी का अंश है।

यह ज्योति केवल चिदाकार है। पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच तत्व और पांच तन्मात्राएं—सब के सब चिदाकाश में लीन हो जाते हैं तभी प्राणी को प्रगाढ़ निद्रा का परमानंद मिलता है। प्रत्येक प्राणी को विशेष प्रयास के बिना मिलने वाला यह सहज आनंद परब्रह्म की पावन भावना में लीन होने से मिलने वाले परमानंद या ब्रह्मानंद का आभास मात्र है। वास्तविक परमानंद चिन्मयी की कृपा से ही प्राप्त होता है। इसलिए यहां पर देवी को "चिन्मयी" और "परमानंदां" कहा गया है। जो अपने "चिद्" रूप में अखंड "आनंद" का अनुभव करता है, वही "सत्" स्वरूप ब्रह्मवेत्ता है जिसकी दृष्टि में चित्, आनंद और विज्ञान को छोड़कर और कुछ दिखाई नहीं देता। यह एक ऐसी मनो-भूमिका है जहां जानने वाला जान नहीं पाता कि वह किस चीज़ की जानकारी हासिल कर रहा है क्योंकि जानने वाला जानने योग्य

तत्व में अनजान में ही एकाकार हो जाता है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का अन्तर मिट जाता है और ज्ञान ही ज्ञान रह जाता है। यही घनीभूत ज्ञान या विज्ञान परमेश्वरी के स्वरूप को निरूपित करता है।

इसी प्रकार ध्याता, ध्यान और ध्येय का भी अन्तर मिट जाता है और केवल ध्यान रह जाता है। ध्यान ही ज्ञान बन जाता है और ज्ञान ही ध्यान बनता है। ऐसी स्थिति में धर्म क्या है, अधर्म क्या है, इसकी चर्चा करना व्यर्थ है। परमेश्वरी की परात्पर भावना से जो भी काम किया जाता है, वह अपने आप धर्म सम्मत बन जाता है। पाप-पुण्य, गुण-दोष और धर्म-अधर्म की विवक्षा के लिए इस आनंद लोक में कोई गुंजाइश नहीं रहती।

आनंद लोक की यह यात्रा प्रत्येक प्राणी प्रतिदिन हर रात करता है। पर बहुत कम लोग समझ पाते हैं कि यह क्यों और कैसे हो रहा है। जब हम जगे रहते हैं और दिन भर काम करते हैं तब हमारा वैश्वानर या व्यापक रूप हमारे सामने आता है। जब हम सो जाते हैं तो हमारा भीतरी प्रकाश या तेज अपना काम शुरू करता है और बाहर की लीला बंद हो जाती है। यह व्यक्ति का "तैजस" रूप है जिसको मन का राज्य भी कहा जा सकता है। जब नींद गहरी हो जाती है तब हमें कोई अनुभव नहीं होता—न तो शारीरिक और न मानसिक। केवल प्रज्ञा शेष रहती है जो नींद खुलने पर फ़िर अपने तन-मन के द्वार खोल देती है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति से भी परे एक चौथी अवस्था भी होती है जिसमें प्रज्ञा भी आत्मा में लीन हो जाती है। आत्मा को छोड़कर और किसी की अनुभूति इस अवस्था में नहीं होती। इसलिए इस अवस्था में विराजमान दैवी शक्ति को 'सर्वावस्था विवर्जिता' कहा गया है। केवल दृश्यमान जगत् की नश्वर अनुभूतियों को शाश्वत आनंद का आभास दिलाने के लिए हर दिन यह आनंद-लीला चलती है। इस लीला की चारों अवस्थाओं में परमेश्वरी के चार विभिन्न रूप

दिखाई देते हैं—जागृति में विश्वरूप, स्वप्न में तैजस रूप सुषुप्ति में प्राज्ञ और तुरीयावस्था में परमानंद का अनिर्वचनीय रूप । सब में एक ही शक्ति काम करती है और एक ही व्यक्ति इस शक्ति का साक्षात्कार पा रहा है । अन्तर केवल यही है कि यह किसी की समझ में आता है और किसी की नहीं आता ।

यही मूल शक्ति ब्रहम का रूप धारण कर सृष्टिकार्य करती कराती है, गोविंद का रूप धारण कर गो रूपी संसार का लालन पालन करती है, कभी रूद्र का भयानक रूप लेकर संसार के सडे गले सारहीन तत्व को समाप्त कर देती है, कभी-कभी ईश्वरी बनकर किसी किसी तत्व को थोडे समय के लिए तिरोहित कर देती है और अंत में सदाशिव की सहचरी बनकर सबको अनुगृहीत करती है । इस प्रकार सृष्टि, स्थिति लय, तिरोधान और अनुग्रह नाम की पांच प्रापंचिक क्रियाओं की सूत्र-धारिणी कभी ब्रह्मा, कभी विष्णु, कभी रूद्र, कभी ईश्वर और कभी सदाशिव का रूप धारण कर अपने पांच कृत्यों का विधिवत् निर्वाह करती है । वह स्वयं कृतकृत्य होती है और दूसरों को भी कृतकृत्य बनाती है । यही पंचकृत्यपरायणा की पांचभौतिक लीला है ।

---

१४. सहस्राक्षी सहस्रपात्

संसार की समस्त शक्तिमत्ता परमेश्वरी की परम सत्ता की ही देन है। प्रत्येक प्राणी की आभा, शोभा, प्रभा या प्रतिभा में उसी पराशक्ति का प्रतिरूप परिलक्षित होता है। हम किसी वस्तु को देखते हैं तो देखनेवाली आँखों को सूर्य से ज्योति मिलती है जो देखने की क्षमता प्रदान करती है। हमारी वाणी से कोई बात निकलती है तो बोलने वाली जीभ को भीतर से ज्वाला मिलती है जो उसे बोलने में सक्षम बनाती है। अगर हम किसी बात पर सोचते हैं तो सोचने वाले मन को भीतर का चंद्र मंडल सोचने की शक्ति प्रदान करता है। इस प्रकार शरीर के भीतर जो तेज है, वही बाहर सूर्य, चंद्रमा और अग्नि के रुप में विद्यमान है। इस भीतरी और बाहरी तेज का भी एक मूल आधार है जिसे हम पराशक्ति कह सकते हैं। इसी को महात्रिपुर सुंदरी कहकर श्रीमाता की ज्योतिर्मय मूर्तित्रयी की ओर संकेत किया गया है। इन तीन मूर्तियों में अग्नि और चंद्रमा की ज्योति का वर्णन किया जा चुका है। अब अगले श्लोक में सूर्य प्रभा का वर्णन आरंभ किया जाता है :

भानु मंडल मध्यस्था भैरवो भगमालिनी।
पद्मासना भगवती पद्मनाभ सहोदरी॥

भानुमंडल के बीच में पद्मासन लगाए बैठी भगवती भय को भी भयभीत करनेवाली भैरवी की भांति सब को अभय प्रदान करती हैं। सूर्य से ही नेत्रों को ज्योति मिलती है और नेत्र हृदय में विश्राम करते हैं।

इसलिए हृदय सूर्यमंडल का प्रतिरूप है । यही अनाहत चक्र का भी स्थान है । हृदय से निकलनेवाली एक सौ एक नाडियों में तीन नाडियाँ प्रधान हैं जिन को इडा , पिंगला और सुषुम्ना कहा जाता है । ये ही नाडियां सूर्य, चंद्र और अग्नि के संचार-मार्ग हैं । बीच की सुषुम्ना को संतुलित करने वाली दोनों नाडियों में एक सूर्य नाडी है और दूसरी चंद्र नाडी है। इन्हीं की गतिशीलता नाक के दोनों रंध्रों से निकलनेवाले उच्छ्वास और निश्वास के माध्यम से प्रकट होती है । इन तीनों की सुषमा से सुशोभित होनेवाली महात्रिपुर सुंदरी कभी काली , कभी लक्ष्मी और कभी सरस्वती का रूप धारण करती हैं । अग्निकुंड में काली, चंद्रमंडल में लक्ष्मी और सूर्य मंडल में सरस्वती के रूप में विराजमान महालावण्यवती जैसे अंतरिक्ष को आलोकित करती हैं, वैसे अंतरंग को भी । आदित्य मंडल के अंतर्गत समस्त प्राणियों के प्राण निक्षिप्त रहते हैं । सूर्य की किरणों के द्वारा प्रतिदिन प्रातःकाल इन प्राणों का संचार होता है और आंखों के जरिए दिल में पहुच जाते है । इसलिए आदित्य मंडल या भानुमंडल समस्त प्राणियों के प्राणों का अक्षय कोश है जिस की अध्यक्षता श्रीमाता ललिता करती हैं । वेदों में और उपनिषदों में आदित्य मंडल के अंतर्गत निवास करनेवाले हिरण्य गर्भ का वर्णन मिलता है । इसी हिरण्य गर्भ को अपने गर्भ में धारण करनेवाली हिरण्मयी देवी का वर्णन करते हुए "श्रीसूक्त" इन को यः करिणी, हेममालिनी, सुवर्णा और यष्टि कहता है । चंद्रमंडल में विराजमान होनेवाली चांद्री को इसी सूक्त में पुष्करिणी, पद्ममालिनी, पिंगला और पुष्टि कहा गया है । इन दोनों की तुलना बहुत ही रोचक और प्रेरक है । दोनों आर्द्र (गीली) किरणों से सुशोभित हैं, दोनों हिरण्यमयी (सुनहली) शोभा से अनुप्राणित हैं । पर चंद्रमंडल की हिरण्मयी लक्ष्मी पुष्टि प्रदान करती हैं, इसलिए पुष्करिणी हैं जब कि सूर्यमंडल की सुनहली किरणें प्राणियों को प्राण भी देती हैं और साथ साथ दंड भी । शरीर में जो अनावशयक और अतिरिक्त तत्व है, उस को नष्ट करके जीवन को नियंत्रित करने के कारण सौर सुषमा को यः करिणी और यष्टि

कहा गया है। "यष्टि" का मतलब दंड या छडी होता है। दंड भय को दूर भी करता है और पैदा भी करता है। भय दिखानेवाला ही भय को दूर कर सकता है। सूर्य का प्रखर तेज यही करता है। इसीलिए अक्सर सूर्य को पिता और चंद्रमा को माता कहा जाता है। माता बच्चों का पालन पोषण करती है और पिता सही शिक्षा के माध्यम से उन को शुद्ध और प्रबुद्ध बना देता है। भानुमंडल के बीच प्रतिष्ठित भगवती भी इसी प्रकार प्राणियों को अभय प्रदान करती हैं। इसीलिए उनको "भैरवी" कहा गया है। देवी की जो भयंकर मुखमुद्रा है, वह दुष्टों को भय दिखाने के लिए और शिष्टों को अभय प्रदान करने के लिए है।

संसार में जितना ऐश्वर्य है, वह सब परमेश्वरी की देन है। इसीलिए उन को "भगमालिनी" कहा गया है। भग का मतलब ऐश्वर्य, भाग्य और आधार है। इसके अलावा बारह आदित्यों में एक "भग" भी है। कुल मिलाकर भग को प्रकाश, सौभाग्य और सौंदर्य का प्रतीक माना जा सकता है। इसी की माला धारण करनेवाली मां ललिता को "भगमालिनी" कहना बहुत ही समीचीन है।

भगवती को यहाँ "पद्मासना" कहा गया है। "पद्मासन" एक ऐसा आसन है जिस में मेरूदंड सीधा रहता है। मेरूदंड के मार्ग से चलनेवाली इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाम की तीनों नाडियाँ अपनी स्वाभाविक और शुद्ध स्थिति में तभी रहती हैं जब हम पद्मासन लगाए बैठ जाएं। इसी लिए सभी यौगिक आसनों में पद्मासन का प्रमुख एवं प्राथमिक स्थान है। एक प्रकार से यह योग विद्या का प्रारंभिक पाठ है, सभी प्रकार की सिद्धियों के लिए बुनियादी आवश्यकता है। पद्मासन के सिद्ध होने पर ही भगवती का साक्षात्कार होता है। जिससे सब कुछ पाया जाता है, वही पद्म है और इस पद्म को प्राप्त कराने वाली देवी पद्मासना है। वही भगवती हैं।

इस श्लोक का अन्तिम नाम है—'पद्मनाभ सहोदरी'। कहा जाता

है कि भगवान् विष्णु की नाभि से एक कमल या पद्म निकलता है जिसके ऊपर सृष्टिकर्ता ब्रह्मा अपने चार मुखों से चारों तरफ़ दृष्टि फैलाए बैठते हैं। इसलिए भगवान् विष्णु को पद्मनाभ कहा जाता है जिसकी बहन या सहोदरी मां ललिता है। इसका मतलब यह है कि सृष्टि-कमल के मूल में स्थित भगवान् विष्णु का जो उद्गम स्थान है, वही भगवती ललिता का भी है। आनंद ही दोनों का उद्गम स्थान है। आनंद ही ब्रह्म है, वही ब्राह्मी भी है। आनंद ही विष्णु है और वही वैष्णवी भी है। आनंद ही शंकर है और वही शाकरी भी है। यह सारा संसार इसी आनंदमयी की आनंद लीला है जिसका वर्णन अगले श्लोक में किया जाता है :

"उन्मेष निमिषोत्पन्न विपन्न भुवनावलिः।
सहस्रशीर्षवदना सहस्राक्षी सहस्रपात्॥"

परमेश्वरी आंखे खोलती हैं तो सारा संसार उत्पन्न होता है और वह आंखें बन्द कर लेती हैं तो सारी सृष्टि तिरोहित और लुप्त हो जाती है। पाणिनि का एक सूत्र है—"अदर्शनम् लोपः (दिखाई नहीं देना ही लुप्त होना है)। जो चीज़ दिखाई नहीं देती है, उसका होना, न होना बराबर है। लेकिन यहां पर लौकिक और अलौकिक दृष्टि में थोड़ा-सा अन्तर है। लौकिक दृष्टि से जो चीज़ दृश्य नहीं है, वह पारलौकिक दृष्टि से दृश्य हो सकती है। परमेश्वरी की दृष्टि पार्थिव दृष्टि से भिन्न है। जिस पर उनकी दृष्टि पड़ती है, वह अस्तित्व में आ जाता है। वह न होते हुए भी होता है। इसके विपरीत जिस पर उनकी दृष्टि नहीं पड़ती है, वह होते हुए भी नहीं होता है। वास्तव में लौकिक दृष्टि से जो दृश्य है, वह नश्य है। अविनाशी, अव्यय और अक्षय तत्व दृष्टि गोचर नहीं होता है। उसका दर्शन प्राप्त करने के लिए अलौकिक दृष्टि चाहिए जो परमेश्वरी की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है। परमेश्वरी की यही दृष्टि सारी सृष्टि का आधार है।

लौकिक दृष्टि में भी एक विशेष चमत्कार है। खुली आंखों के सामने बाह्य जगत् का नश्वर सौंदर्य खुल जाता है और बंद आंखों के सहारे आंतरिक जगत् का अलौकिक सौंदर्य खोजा जा सकता है। इसीलिए लौकिक लाभ चाहने वाले व्यक्ति बहिर्मुखी होते हैं और पारलौकिक श्रेय की भावना से युक्त योगी अंतर्मुख बन जाते हैं। आंखें दोनों पक्षों के बीच के किवाड़ हैं। कभी-कभी संदेह होता है कि हमें दो आंखें क्यों दी गई हैं। देखने के लिए एक ही आंख काफी है। वैसे सुनने के लिए एक ही कान काफी होता है। पर दो मिल चुके हैं तो इसके पीछे कोई उद्देश्य होना चाहिए। जब तक आंखें खुली हैं, वे दो हैं। बन्द होने पर दोनों एक बन जाती हैं और एकाग्रचिंतन की अवस्था में भौंहों के बीच ललाट के स्थान पर मिल जाती हैं और विश्राम के समय हृदय की शय्या पर आराम से लेट जाती हैं। खुली आंखें द्वैत के चक्कर में फंस जाती हैं और बन्द आंखें अद्वैत के आनंद में लीन हो जाती हैं। जब लौकिक उन्मेष और निमेष में सृष्टि और प्रलय के घटित होने में इतना चमत्कार है तो परमेश्वरी के अलौकिक नेत्रों के उन्मेष और निमेष में सृष्टि और प्रलय के घटित होने में कोई आश्चर्य नहीं है। जगदीश्वरी का नेत्रोन्मीलन ही सृष्टि है और उनका निमीलन ही प्रलय है।

वास्तव में वह केवल अपनी ही आंखों से नहीं देखती हैं, बल्कि सब की आंखों से देखती हैं, सबकी तरफ से, सबके लिए और सबके साथ देखती हैं। इसलिए वह सहस्राक्षी हैं। वह अकेली नहीं चलती हैं, सबके साथ चलती है, सबको साथ लेकर चलती हैं और सबके पैरों से चलती हैं। इसलिए वह "सहस्रपात्" हैं। संसार में जितने चेहरे हैं, जितने दिल और दिमाग हैं, जितने हाथ और पैर हैं, जितने नेत्र और कान हैं, जितने रंग और रूप हैं, सब उन्हीं के हैं। इसलिए वह सहस्रशीर्षवदना (हजारों सिर और हजारों मुख वाली) हैं।

इस श्लोक की दूसरी पंक्ति—"सहस्रशीर्ष वदना सहस्राक्षी सहस्र-

पात्"—से श्री विष्णु सहस्रनाम की एक पंक्ति "सहस्रमूर्द्धा विश्वात्मा सहस्राक्षः सहस्रपात्"—मिलाकर देखने से पता चलता है कि भगवान् और भगवती की रूप कल्पना में कितना साम्य है। दोनों एक ही तत्व के दो पहलू हैं—एक-दूसरे के पूरक और एक-दूसरे के प्रेरक।

संसार की सृष्टि ही नहीं, बल्कि उसका नियमन, निगमन और विधायन भी परमेश्वरी के संकेत मात्र से सम्पन्न हो जाता है। यही बात सहस्रनाम का अगला श्लोक बताता है :

ब्राह्म कीट जननी वर्णाश्रम विधायिनी।
निजाज्ञारूप निगमा पुण्यापुण्य फलप्रदा ॥

छोटे से छोटे कीड़े से लेकर सारे ब्रह्मांड और ब्रह्मांड के स्रष्टा ब्रह्मा तक की सारी सृष्टि परमेश्वरी की उद्भावना है। जगज्जननी की सृष्टि में जड-चेतन, स्थावर-जंगम, पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े सबका समान महत्व है। चींटी से लेकर सम्राट् तक मां सबको प्यार से देखती हैं, सबके भले-बुरे का ख्याल करती हैं और सुख-दुःख में सबको सहारा देती हैं। केवल लौकिक सुख का ही नहीं, पारलौकिक परम कल्याण का भी वह उचित विधान बनाती हैं जिससे सभी प्रकार के लोग एक निश्चित व्यवस्था के द्वारा निःश्रेयस् के अधिकारी बन सकते हैं। आध्यात्मिक साधना में साधक जितना आगे बढ़ पाता है, उतना ही उसका चेहरा ओज और तेज से चमक उठता है। मन की निर्मलता चेहरे पर स्पष्ट झलकती है। यही वास्तविक वर्ण व्यवस्था है जो आध्यात्मिक विकास को सुव्यवस्थित और सुसंबद्ध करती है। इस व्यवस्था में साधक जितना पहुंचा हुआ होता है, उतना ही वह विनम्र और विवेकशील बनता है और दूसरों को भी अपने साथ ले चलने का प्रयास करता है। सामाजिक वर्ण व्यवस्था की तरह इसमें ऊंच-नीच का बाहरी भेदभाव नहीं होता, बल्कि सबको एक ही मूल वर्ण के विकीर्ण और प्रकीर्ण रूप-रूपांतर समझने का सात्विक प्रयास प्रबल होता है। वास्तव में यह सारी दुनिया,

जो रंग-बिरंगी शोभा से बहुरूपी और बहुरंगी दिखाई देती है, एक ही प्रधान वर्ण—शुक्रतारा या सूर्यकांति की तरह स्वच्छ और श्वेत वर्ण—पर आधारित है। वही सफेद रंग दृष्टिभेद और पात्रभेद से सतरंगी शोभा का प्रदर्शन करता है। प्रदर्शन भौतिक है जबकि दर्शन तात्विक है। एक ही वर्ण को अनेक वर्णों में विकीर्ण कर फिर अनेक वर्णों को एक ही वर्ण में समाने वाली हिरण्य वर्णा हरिणी भौतिक और आध्यात्मिक जगत् में सनातन वर्ण व्यवस्था को संचालित करती है ताकि सबका समन्वित और क्रमबद्ध विकास हो और अन्धकार से आलोक की ओर लोक-यात्रा बराबर चलती रहे।

इसी प्रकार आश्रम व्यवस्था का भी संचालन देवी के द्वारा सम्पन्न होता है। बाल्य, यौवन, वार्द्धक्य आदि शारीरिक अवस्थाओं के अनुसार व्यक्ति को ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास के नियमों का पालन करना पड़ता है। शरीरधारियों को इस नियम-पालन में सहयोग देने के उद्देश्य से शरीर के विकास की एक निश्चित और प्राकृतिक व्यवस्था बनी हुई है। यही परमेश्वरी द्वारा प्रवर्तित विधि-विधान है। इस प्राकृतिक विधि-विधान को समझकर जो प्रत्येक अवस्था में उसके लिए उपयुक्त आश्रम-सुख का अनुभव करता है, उसका जीवन चरितार्थ बन जाता है और उसकी साधना सफल बन जाती है।

प्रकृति की प्रत्येक घटना परमेश्वरी की आज्ञा की घोषणा है। वसंत, ग्रीष्म, वर्षा आदि ऋतुओं का आवर्तन, दिन की गतिशीलता और रात की शीतलता, बचपन का भोलापन और यौवन की मादकता, पृथ्वी की उर्वरता, जल की निर्मलता, आग की उज्ज्वलता, हवा की सुरभिलता और आकाश की व्यापकता, शब्द की स्पृहणीयता, स्पर्श की रोमांचकता, रूप की रमणीयता, रस की आस्वाद्यता और गंध की मोहकता—ये सब प्राकृतिक घटनाएं पांच भौतिक प्राणी को कर्मण्यता की ओर निरंतर प्रेरणा प्रदान करती हैं तो मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण आत्मा का आलोक

देखने के लिए आंतरिक आमंत्रण देते हैं। ये सब परमेश्वरी की आज्ञा की अनकही व्याख्याएं हैं। इन भौतिक घटनाओं से जो आध्यात्मिक तत्व निगमित होता है, वही वेद, वेदांग और वेदांत का रूप धारण करता है। प्रत्येक प्राणी इस दैवी नगर निगम का नागरिक है। देवी की आज्ञा ही देवनगर का निगम है। इसलिए उनको "निजाज्ञा रूप निगमा" कहा गया है।

नागरिक होने के नाते कुछ अधिकार भी मिलते हैं और कुछ कर्तव्य भी निभाने पड़ते हैं। जिसकी जैसी करनी होती है, उसको वैसी भरनी पड़ती है। इसका भी फैसला विश्व जननी करती हैं। जो अच्छा काम करता है, उसको अच्छा फल मिलता हैं और जो गलत काम करता है, उसे उसी के अनुरूप फल मिलता है। कौन-सा कार्य अच्छा है या पुण्य है और कौन-सा बुरा या अपुण्य , इसका निर्णय प्रत्येक प्राणी के अन्तरंग में बैठी रंगनायकी करती है। जो काम करने में अन्तरंग प्रसन्न होता है और दूसरों की भी प्रसन्नता का कारण बनता है, वही पुण्य है। जो काम आंतरिक शांति में बाधा पहुंचाता है और दूसरों को उत्तेजित करता है, वही पाप है। इस प्रकार पाप और पुण्य का निर्णय प्रत्येक व्यक्ति अपने अन्तरतम की आवाज़ सुनकर कर सकता है। यही देवी का दिव्य निर्णय है। परमेश्वरी पाप और पुण्य का फल अवश्य देती हैं, पर यह हमारे संकल्प और आचरण के बल पर ही मिलता है। इसलिए देवी से हमेशा प्रार्थना करनी चाहिए कि हमारा संकल्प शुभ हो और आचरण अमलिन हो। दूसरे शब्दों में, हमें अपने मन को बार-बार समझाना है कि हमें अपने अन्तःकरण की आवाज़ के विरुद्ध कुछ नहीं करना है।

संकल्प को सात्विक और आचरण को निर्मल बनाने में ज्ञान और विवेक का बहुत बड़ा हाथ होता है। अच्छे से अच्छे जानकार होकर भी लोग गलत काम कर सकते हैं और यह भी देखा जाता है कि अनजान, अनपढ़ और अबोध व्यक्ति भी आचरण में शुद्ध और सात्विक होता है।

इसलिए निगम, आगम आदि की जानकारी मात्र से कोई प्रयोजन नहीं है। अपनी सारी विद्वत्ता को श्रीमाता के श्रीचरणों की धूलि के समान समझकर उन्हीं चरणों की शरण में जाने में ही ज्ञान की सार्थकता है। इसी आशय को प्रकट करने वाला अगला श्लोक है :

श्रुति सीमंत सिंदूरीकृत पादाब्जधूलिका।
सकलागम संदोह शुक्ति संपुट मौक्तिका ।।

ज्ञान की दो शाखाएं हैं—निगम और आगम। वेद के मंत्र भाग को निगम कहा जाता है क्योंकि वह अन्तःप्रेरणा से प्राप्त या निगमित होता है। इसके विपरीत बाहरी जानकारी और सूझ-बूझ से जिस आचरण प्रक्रिया को रूपान्वित किया जाता है, उसे आगम कहते हैं। ज्ञान की ये दोनों शाखाएं परमेश्वरी की अनुकंपा से प्राप्त होती हैं। श्रुति के नाम से प्रसिद्ध सारा वैदिक वाङ्मय परमेश्वरी के पद-रज से पावन बन जाता है। श्रीमाता के चरण-कमलों का पराग ही श्रुति-रमणी की मांग को सिंदूर से अलंकृत कर देता है। इसी प्रकार सारा आगम-साहित्य सीपी के समान है तो परमेश्वरी की पावन भावना उस सीपी को भरने वाला मोती है। सारांश यह है कि वेद, वेदांग, बेदांत, मंत्र, तंत्र यंत्र, शास्त्र, विज्ञान आदि मां ललिता की महिमा से ही मान्य बन जाते हैं। दैवी भावना के बिना यह सारा ज्ञान केवल वाक्य ज्ञान ही रह जाता है जो वाणी की देहली को पारकर आगे नहीं बढ़ पाता, आत्मा के आंगन तक पहुंच नहीं पाता। जब तक ज्ञान को भावना का संबल नहीं मिलता, वह आत्मा के आलोक-मार्ग में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। यह भावना भवानी की अनुकंपा के बिना संभव नहीं है। इसलिए वेद-वेदांत के उच्चकोटि के विद्वान् को भी जो आत्म लाभ नहीं मिल सकता, वह भोली-भाली गोपबालाओं को अनायास मिल जाता है। आत्मा आलोक की भाषा को पहचानती है, लोक की नहीं।

---

१५. नारायणी नादरूपा

संसार का समस्त साहित्य परमेश्वरी के पद-रज का ही प्रसार है। लौकिक साहित्य को ही नहीं, बल्कि वैदिक वाङ्मय को भी शब्द और अर्थ की परम रमणीय प्रतिपत्ति प्रदान करने वाली परमेश्वरी की परम पावन भावना ही पार्थिव जगत् के प्रत्येक प्राणी के जीवन को चरितार्थ कर देती है। पार्थिव जीवन की इसी पारमार्थिकता की ओर श्री ललिता सहस्रनाम का अगला श्लोक संकेत करता है :

पुरुषार्थप्रदा पूर्णा भोगिनी भुवनेश्वरी।
अंबिकानादिनिधना हरिब्रह्मेंद्र सेविता॥

जीवन को सफल, सम्पन्न और सार्थक बनाने वाले चार तत्व हैं— अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। जीवन-यात्रा को सुगम बनने वाला संबल ही अर्थ है। अर्थ का मतलब केवल धन या सम्पत्ति ही नहीं है, बल्कि वाणी की अर्थवत्ता भी अर्थ के अन्तर्गत आती है। धन-दौलत, कपड़े-गहने, वाहन-महल आदि मनुष्य को केवल सकुशल बनाये रखते हैं। लेकिन जीवन को सार्थक और सरस बनाने वाली चीज वाणी है। वाणी का धनी-निर्धन होकर भी धन्य बन जाता है। इसलिए वस्तुगत अर्थ से भी बढ़कर व्यक्तिगत या वाङ्मय अर्थ अधिक महत्वपूर्ण होता है। इन दोनों अर्थों में अर्थ को पुरुषार्थ का आधार माना जाता है। लेकिन केवल अर्थ से जीवन चरितार्थ नहीं होता। परमेश्वरी की कृपा से प्राप्त अर्थ का जब तक सही-सही उपयोग नहीं किया जाता तब तक अर्थ सार्थक

नहीं बन पाता। इस प्रकार अर्थ को सार्थक बनाने का साधन ही धर्म कहलाता है। धर्म का आचरण करने से अर्थ केवल सार्थक ही नहीं बनता, बल्कि व्यापक भी बन जाता है। अर्थ से स्वार्थ बढ़ता है, पर धर्म उसे परमार्थ की ओर ले जाता है। विश्व की व्यापकता को हृदयंगम कर प्रत्येक व्यक्ति को परम सत्ता के अभिन्न अंग के रूप में देखकर अपनाने की उदारता और आत्मीयता सच्ची धार्मिकता की देन होती है। धर्म के संयोग से अर्थ सार्थक बन जाता है और इसी धर्म के सहयोग से काम भी प्रेम का रूप धारण करता है। धर्म से प्रेरित कामना वासना से मुक्त होकर उपासना बन जाती है। इस प्रकार अर्थ और काम को धर्म उदात्त धरातल पर प्रतिष्ठित कर देता है और अन्त में मोक्ष का साधक बन जाता है। ये चारों पुरुषार्थ—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—परमेश्वरी की कृपा से ही संभव होते हैं। अन्तिम पुरुषार्थ—मोक्ष—जीवन का चरम लक्ष्य है और पहले तीनों उसके साधक और सहायक हैं। इन पुरुषार्थों को प्रदान करने वाली देवी को यहां "पुरुषार्थ प्रदा" कहा गया है। यही इस श्लोक का पहला नाम है।

दूसरा नाम है—"पूर्णा"। जीवन में जब ये चारों पुरुषार्थ समुचित अनुपात में विकसित हों, तभी जीवन परिपूर्ण कहा जाएगा। केवल अर्थ जीवन को अनेक प्रकार के अनर्थों का शिकार बना देता है। केवल काम मनुष्य को पशु तुल्य बना देता है। अर्थ और काम के समुचित सेवन के बिना धर्म केवल वाक्यज्ञान तक सीमित रह जाता है। धर्म, अर्थ और काम की वास्तविक अनुभूति के बिना मोक्ष केवल काल्पनिक रह जाता है। इसीलिए चारों पुरुषार्थों का संतुलित सेवन ही जीवन को पूर्णता प्रदान करता है और वह भी परमेश्वरी की देन है। इसीलिए देवी को "पूर्णा" कहा गया है। वह सब प्रकार से भरपूर हैं। उनकी सत्ता में किसी चीज़ की कमी नहीं है। भौतिक सम्पत्ति, वाग्विभूति और धार्मिक अनुभूति से परिपूर्ण जीवन ही अपनी स्वतंत्रता को समझकर सर्वात्मना

अपने को मुक्त कर सकता है। मुक्ति भी एक प्रकार की भुक्ति ही है। भुक्ति में मुक्ति और भोग में त्याग की भावना अपनाने में ही जीवन की चरितार्थता है। इस प्रकार की त्याग भावना से परिपुष्ट भोग की अधिकारिणी होने के कारण श्रीमाता को "भोगिनी" कहा जाता है।

यह संसार समस्त जीवधारियों के उपभोग के लिए है। लेकिन इस पर किसी का एकाधिकार नहीं है। भुवनेश्वरी का यह विशाल भवन प्रत्येक प्राणी का अपना घर है। सूर्य की किरणों पर, वर्षा की निर्मल धारा पर, मलयाचल से निकलने वाली सुहावनी हवा पर, नीचे की धरती पर, ऊपर के आकाश पर और बीच के अन्तरिक्ष पर किसी व्यक्ति मात्र की सत्ता नहीं है। यह वसुन्धरा वीरभोग्या है और इसकी एकमात्र अधिष्ठात्री जगन्माता भुवनेश्वरी हैं। उन्हीं का साम्राज्य सर्वत्र छाया हुआ है।

वह सबकी मां हैं। इसीलिए उनको "अम्बिका" कहा गया है। "अम्बा" शब्द ही माता का द्योतक है। पर अम्बिका शब्द में उससे भी अधिक आत्मीयता और लालित्य की भावना है। आम को भी "अम्बा" कहा जाता है। आम को रसाल भी कहा जाता हैं। रस का आलय होने से वह रसाल है। संसार में जो भी सार, जो भी रस, जो भी माधुर्य और जो भी लालित्य है, वह "अम्बिका" में समाया हुआ है। जो सारभूत है, उसका कभी ह्रास नहीं हो सकता। उसका कभी अन्त नहीं हो सकता। जिसका अन्त नहीं होता है उसका आरम्भ भी परिकल्पित नहीं हो सकता। इसलिए जगदम्बा या अम्बिका को "अनादिनिधना" कहा गया है।

जिसका आदि और अन्त नहीं है, उसको सृष्टिकर्ता ब्रह्मा और पालक विष्णु ही नहीं, बल्कि इनके स्वामी भी आराध्य मानकर उनकी सेवा करते हैं। इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवेन्द्र भी इस आद्यंत रहित देवी की आराधना करते हैं। इसलिए वह हरिब्रह्मेंद्र सेविता हैं।

इस नाम-रूपात्मक जगत् में जो भी रूप दिखाई देता है, वह तो नश्वर है ही और जो नाम भी सुनाई पड़ता है, वह भी शाश्वत नहीं है। जब तक रूप है तभी तक नाम भी चलता है। रूप की अपेक्षा के बिना जो नाम, शब्द या स्वर चलता है वही नाद है जो आकाश को शब्द देता है और स्वर में रस भरता है। यही नाद नर को नारायण बनाता है। यही नाद संसार में सर्वत्र सदा-सर्वदा फैला हुआ रहता है। शरीर के भीतर भी है और बाहर भी। इसी नाद के माध्यम से नादशरीरिणी नारायणी नर को नारायण की ओर ले जाती हैं। इसी नाद की महिमा का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में मिलता है :

नारायणी नादरूपा नाम रूप विवर्जिता।
ह्रींकारी ह्रीमती हृद्या हेयोपादेयवर्जिता॥

पांच भौतिक प्राणी मानव की अन्य प्राणियों से विशेषता यह है कि वह अपने भीतर के नाद सौंदर्य को पहचान कर वाणी के रूप में उसकी आराधना कर पाता है। यही नर का नारायण लक्षण है। संत त्यागराज जैसे नादयोगियों के अनुसार नाद केवल सुनाई ही नहीं देता, बल्कि दिखाई भी देता है। त्यागराज के आराध्य राम नाद के ही मूर्त रूप थे। प्रणव नाद ही पांच भौतिक जगत् का परम सत्य है। इसी से सभी वर्ण, अर्थ, रस, छंद आदि साहित्यिक उपादान प्रकट हुए हैं। संक्षेप में नाद ही नर-नारायण का संधि-सूत्र है।

सौंदर्य और प्रेम के बीच में जो सम्बन्ध है, लगभग वही सम्बन्ध शब्द और नाद के बीच है। नारी का सौंदर्य सामने प्रकट होता है, पर प्रेम भीतर ही भीतर प्रच्छन्न और सूक्ष्म रूप में विराजमान होता है। हृदय के मर्मज्ञ ही प्रेम को पहचान पाते हैं। इसी प्रकार संसार में शब्द या ध्वनि सर्वत्र व्याप्त है। संसार की प्रत्येक भाषा में मनुष्य ने कई शब्दों को अपना लिया और उनके अनेक अर्थों की व्यवस्था भी की है। ये शब्द

और अर्थ सर्वसामान्य की पहुंच में हैं। लेकिन इन शब्दों और अर्थों के पीछे जो मूल नाद (आहत के पीछे निहित अनाहत) है, वह शब्द ब्रह्म के ज्ञाताओं की ही समझ में आ सकता है। किसी चीज का होते हुए भी प्रकट नहीं होना सामाजिक परिभाषा में लज्जा, व्रीड़ा या संकोच की संज्ञा पाता है। जैसे कोई लावण्यवती अपने प्रेमी के प्रति प्रेम-भावना रखते हुए भी स्पष्ट रूप से अपने मन की बात प्रकट नहीं कर पाती है, वैसे ही संसार का परम सत्य सबके सामने प्रकट नहीं होता है। अधिकारी हृदयज्ञ ही इसको पहचान पाता है। मन की इसी कोमल भावना को "ह्री" (यानी लज्जा) कहा जाता है। लज्जा नारी का आभूषण है। लज्जावती स्त्री को ह्रीमती कहा जाता है। ह्रीमती होने से श्रीमती की शोभा बढ़ती है। इसी ह्री तत्व को जन्म देने वाली परमेश्वरी को ह्रींकारी और ह्रीमती कहा गया है। ह्रीमती होने से लज्जा या व्रीड़ा नारी के हृदय को मर्यादित कर देती है और इसलिए मनोहर भी लगती है। हृदय-हृदय के बीच का यह मधुर मनोहर अवरोध श्रीमाता की ही देन है। अवरोध के हट जाने पर जब हृदयों का संगम होता है तब मन प्रसन्न होता है। यह प्रसन्नता हृदय से ही पहचानी जा सकती है। इस लिए इसको हृद्यता कहा जाता है। हृदयों के बीच में अवरोध पैदा करने वाली ह्रीमती ही "हृद्या" बनकर हृदयों को मिलाती भी है।

वास्तव में श्रीमती और ह्रीमती श्रीमाता के दो कूट नाम हैं जिनमें "श्री" और "ह्री" के बीजाक्षर समाविष्ट हैं। श्री विद्या में इन दोनों बीजाक्षरों का विशेष महत्व है। ओं ऐं ह्रीं और श्रीं—इन चारों से संपुटीकृत मंत्र ही श्रीविद्या है। इसलिए इस श्लोक में श्रीमाता के जो नाम आए हैं, उनमें शाब्दिक अर्थ के साथ-साथ मांत्रिक अर्थ भी अभिप्रेत है। लौकिक अर्थ में ह्रीमती साध्वी नारी है तो आध्यात्मिक और मांत्रिक परिप्रेक्ष्य में ह्रींकारी और ह्रीमती का रहस्यात्मक अर्थ इन दोनों नामों को शब्द के स्तर से ऊपर उठाकर नाद की उदात्त भाव-भूमिका पर प्रतिष्ठित कर देता है।

इस भाव-भूमिका पर पहुंचने के बाद नाद की उपासना प्रारम्भ होती है। इस उपासना में प्रत्येक स्वर उपास्य बन जाता है। कौन-सी ध्वनि उपादेय है और कौन-सी हेय है, इसकी विवक्षा समाप्त हो जाती है। मनुष्यों की भाषा में जो सार्थक शब्द हैं, उन्हीं में इस प्रकार का औचित्य या अनौचित्य, मंगल या अमंगल, उपयोग या अनुपयोग, देखा और परखा जाता है। पर जड़, चेतन में सर्वत्र फैली हुई अक्षय और अक्षर भारती में सब कुछ उपास्य बन जाता है। उपासना में उपादेयता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए नादरूपिणी परमेश्वरी की उपासना करने वालों के लिए वह "हेयोपादेय वर्जिता" बन जाती है।

वह नामरूप से भी परे हैं, इसलिए 'नाम रूप विवर्जिता' हैं। नाम और रूप पार्थिव तत्व हैं और इसलिए परमार्थ के प्रतिरूप हैं। संसार में प्रत्येक नाम परमात्मा का ही नाम है और प्रत्येक रूप उन्हीं का है। इस दृश्यमान नाम रूपात्मक जगत् के पीछे जो अस्तित्व, प्रकाश और प्रेम नाम के तीन अपार्थिव तत्व हैं, उन्हीं में दिव्यता है। इन्हीं को अस्ति, भाति और प्रियम् कहा जाता है। अस्तित्व ही सत् है, प्रकाश ही चित् है और प्रेम ही आनंद है। इन तीनों का समेकित रूप ही सच्चिदानन्द का सनातन रूप है।

जो सनातन है, वही सत्य है। जो सत्य है, वही शिवात्मक बनता है और जो शिवात्मक है, वही सुन्दर है। इस प्रकार सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् का इस सनातन तत्व में समावेश होता है। इसी तत्त्व की रमणीयता का वर्णन सहस्रनाम के अगले दो श्लोकों में प्रस्तुत है :

राजराजार्चिता राज्ञी रम्या राजीव लोचना।
रंजनी रमणी रस्या रणत्किंकिणि मेखला॥

रमा राकेंदु यदना रतिरूपा रतिप्रिया।
रक्षाकरो राक्षसघ्नी रामा रमण लंपटा॥

इन दोनों श्लोकों में कुल मिलाकर सोलह नाम हैं। इनमें से प्रत्येक नाम "र"—कार से प्रारम्भ होता है। ऊपर के श्लोक में श्रीविद्या के बोजाक्षर ह्रींकार का उल्लेख किया गया है। र—कार ह्रींकार का हृदय है। इसलिए यहाँ पर ह्रींकारी की रमणीयता को प्रकट करने वाले र—कार से षोडशी की सोलह कलाओं को व्यक्त करने का प्रयास किया जा रहा है। पहला नाम है—राज राजार्चिता। राजाओं के राजा भी श्रीमहाराज्ञी ललिता की आराधना करते हैं। धन देवता कुबेर को भी राज राज कहा जाता है। चन्द्रमा को अपने सिर पर धारण करने वाले भगवान् शंकर को भी राजशेखर या राज राज कहा जा सकता है। धनेश और महेश जैसी विभूतियों से अर्चित और आराधित परमेश्वरी सचमुच राज्ञी है। संसार के सौंदर्य का सार अपने में समाविष्ट करने के कारण वह "रम्या" भी हैं। पल-पल में जिसमें नई-नई भावना उभर कर सामने आये और देखने वालों को आत्मविभोर करती रहे, वही रमणीयता है। चन्द्रमा, फूल, सूर्योदय, संध्या, समुद्र, इन्द्र धनुष आदि में इसी प्रकार की रमणीयता है। इसी की पराकाष्ठा परमेश्वरी की रमणीय रूप माधुरी में देखी जा सकती है। देवी के नेत्र राजीव या कमल की तरह सुशोभित होते हैं। कमल प्रकाश की किरणों से खिल जाते हैं और अन्धकार के छा जाते ही बन्द हो जाते हैं। इसी प्रकार देवी की आंखें उसी प्रांतर की ओर प्रवृत्त होती हैं जहां प्रकाश का प्रसार है। प्रकाश के प्रति इस सहज प्रेम के अलावा विकास की स्वाभाविक प्रवृत्ति भी कमल की विशेषता है। इसलिए देवी को "राजीव लोचना,' कहने में प्रकाश और विकास के इसी मंजुल सामंजस्य की ओर मार्मिक संकेत है। फूल की तरह खिलना और प्रकाश की तरह फैलना प्रफुल्लता और प्रसन्नता का द्योतक है। ये दोनों लक्षण मानव जीवन को कुसुम की तरह कोमल और आकाश की तरह उदात्त बना देते हैं। राज्ञी के राजीव लोचन इन्हीं तत्वों का बोध कराते हैं।

विश्व माता का विराट् सौंदर्य सबका मन बहलाता है। इसलिए

वह "रंजनी" हैं। रंजन की प्रक्रिया में दूसरों को अपने रंग में समाना भी शामिल है। अरुणोदय के समय ऊषा की लाली सबको लाल रंग में डुबो देती है। इसमें अरुणा की लोकरंजकता स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। देवी की अरुण कांति सारे ब्रह्मांड को आलोकित कर देती है। देवी की दिव्यता संसार के कण-कण में व्याप्त होती है। प्रत्येक अणु और परमाणु में परमेश्वरी की लीला दिखाई देती है। सबमें रममाण होने के कारण वह रमणी है।

इसके बाद देवी का एक नाम आता है—"रम्या"। यह बहुत ही रहस्यात्मक नाम है और साथ ही सरस और सारगर्भित भी। रस शब्द आनन्द की अनुभूति का द्योतक है। आनन्द ही रस है। जिससे आनन्द या रस की अनुभूति सम्भव है, वही रस्य रस्या है। बादल से पानी बरसता है, इसलिए वह पानी का स्रोत है और सीमित अर्थ में रस्य है। जहां से निरन्तर आनन्द रस की उत्पत्ति होती है, वही मूलाधार रस भण्डार है और वही रस्या है। संसार के रस का सर्वस्व परमेश्वरी की पावन भावना है। इसीलिए उनको "रस्या" कहा गया है। रस को काव्य की आत्मा कहा गया है। विश्व भी एक महाकाव्य है। इस विश्व रूपी महाकाव्य में रस की अभिव्यंजना रस्या नाम की दैवी निधि से ही सम्भव होती है।

रस के अलावा ध्वनि को भी काव्य की आत्मा माना गया है। "ध्वन्यालोक" में ध्वनि से प्रकाश की भी परिकल्पना की गई है। यह साधारण लौकिक ध्वनि नहीं है, बल्कि व्यक्त भावना के पीछे निहित अव्यक्त आशय की अभिव्यक्ति है। यही ध्वनि परमेश्वरी की करधनी से निकलती है। देवी जब चल पड़ती हैं तब उनकी करधनी बज उठती है और उसकी आवाज इतनी मीठी और मोहक होती है कि सुनने वालों के कान अमृत के कलश बन जाते हैं। इसीलिए उनको 'रणत्किंकिणि मेखला' कहा गया है। देवी की मेखला की रमणीयता का वर्णन इससे पहले भी

आ चुका है। रत्नकिंकिणिका से रमणीय लगने वाली रशना (करधनी) का उल्लेख परमेश्वरी के मह,न् लावण्य के वर्णन के प्रसंग में हो चुका है।

अगला नाम "रमा" बहुत सरल और सर्वसाधारण है इससे मिलता-जुलता नाम "रामा" है। रमा शब्द प्रायः लक्ष्मी का पर्यायवाची होता है और रामा किसी भी लावण्यवती स्त्री का द्योतक है। इससे स्पष्ट होता है कि लोकमाता लक्ष्मी से लेकर साधारण से साधारण सुन्दर नारी तक जो सौंदर्य भावना या प्रेम भावना संसार के कण-कण में फैली हुई है, उसे परमेश्वरी का प्रसाद समझना चाहिए। प्रेम जितना पवित्र होता है, उतना ही उदात्त बनता है। वासना से रहित और उपासना से युक्त उदात्त प्रेम भावना ही सच्ची रति है जो परमेश्वरी की ही प्रतिच्छवि है। इसी को देवी चाहती है। इसलिए उनको रतिरूपा और रतिप्रिया कहा गया है। रति से दो हृदय जुड़ जाते हैं। हृदय संगम ही सच्चा संगम होता है। मन्मथ या कामदेव की पत्नी को भी 'रति' कहा जाता है और रति के अनुरोध पर कामदेव को जिलाने वाली देवी रतिप्रिया हैं ही।

रमणीयता और रतिशीलता के बीच में देवी को "राकेंदुवदना" के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। पूर्णचन्द्र की भांति देवी का मुख-मंडल सोलह कलाओं से परिपूर्ण दिखाई देता है। इसमें छोटा-सा कलंक भी है जो आसुरी प्रवृत्ति का प्रतीक है। इस आसुरी प्रवृत्ति को समाप्त कर परमेश्वरी सच्चे सौंदर्य की रक्षा करती हैं। इसलिए वह रक्षाकरी और राक्षसघ्नी कहलाती हैं। जहाँ प्रेम है और सौंदर्य है, वहां अमंगल, अशुभ, अभद्र और अशिष्ट तत्व का भी कभी-कभी समावेश हो जाता है। पर परमेश्वरी की भावना मात्र से सारा कलंक धुल जाता है और प्रेम का फूल खिल उठता है।

प्रेम ही संसार की मूल शक्ति हैं। नश्वर शरीर में निरन्तर सुनाई देने वाला अनाहत नाद ही प्रेम की मधुर रागिनी है जो प्रणय को प्रणव

की ओर, वासना को उपासना की ओर और विकल को सकल की ओर ले जाती है। इसी परम प्रेम की ओर संकेत करते हुए संत कबीर ने कहा था—"ढाई अच्छर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय"।

---

१६. कल्याणी जगतीकंदा

जीवन को जीवन योग्य बनाने वाले दो प्रधान जीव लक्षण हैं— प्रेम और करुणा । अलग-अलग प्राणियों को अनुराग और आत्मीयता के सूत्र में बांधने वाली ये दोनों मंगलमय भावनांएं मानव जीवन की कल्याणकारी मूल चेतना की सहज अभिव्यंजनाएं है । व्यस्त को समस्त और व्यक्ति को सशक्त बनाने वाली इसी मूल शक्ति में परमेश्वरी प्रकट होती हैं । श्रीमाता की यह चिन्मय अभिव्यंजना प्रेम की रमणीयता, काम की कमनीयता और करुणा की कोमलता का मंजुल सामंजस्य साथ लिए चलती है । प्रेम की रमणीयता रंजनी, रमणी, रस्या आदि पिछले सोलह नामों में व्यक्त हो चुकी है । अब सहस्रनाम के अगले श्लोक में काम और करुणा की कमनीय कोमलता का वर्णन किया जाता है :

काम्या काम कला रूपा कदब कुसुम प्रिया ।
कल्याणी जगती कंदा करुणा रस सागरा ।।

इस श्लोक का पहला नाम है— काम्या । इससे पहले र—कार से आरंभ होने वाले सोलह नामों में "रम्या" नाम आ चुका है । रम्या की रमणीयता ही काम्या में कमनीयता बन कर यहां प्रकट होती है । रम्या और काम्या में वही अन्तर है जो प्रेम और काम में है । कमनीय काम का रमणीय रूप ही प्रेम है और प्रेम का परम पावन रूप ही भक्ति या भगवदीय या भगवतीय भावना है। मानव मन की मधुर प्राकृतिक भावना ही पहले काम का रूप धारण करती है, फिर प्रेम में परिणत हो जाती है और अन्त में आत्म सायुज्य की अनुभूति में चरि-

तार्थ बन जाती है। इसलिए संसार की समस्त चेतना के मूल में काम-कला ही काम करती है जिसकी अधिष्ठात्री देवी को यहां पर "काम्या" कहा गया है। कामना किसी भी वस्तु की हो सकती है। उदात्त कामना मनुष्य को ऊपर उठाती है और निकृष्ट कामना उसको नीचे गिरा देती है। मानव मन की पावनता की कसौटी उसकी कामना की भाव भूमिका है। संसार में साधारण प्राणी धन-दौलत, वस्तु-वाहन आदि की कामना करता है। लेकिन उसको पता नहीं चलता कि ये सब क्षणभंगुर हैं और जीवन के शाश्वत आनन्द से आदमी को दूर करने वाले हैं। जो सुख उपभोग के बाद भोगी के तेज को क्षीण बना देता है, वह सुख का छद्म वेष धारण कर शरीरधारी को धोखा देने आया हुआ दुःख ही है। इसलिए विवेकशील प्राणी को उस अविकल आनन्द की खोज करनी चाहिए और उसे प्राप्त करने के लिए सतत प्रयास करना चाहिए जिसकी अनुभूति आनन्द की मात्रा को बढ़ाती है, घटाती नहीं। वही सच्चा आनन्द है। इसी सच्चिदानन्द की ओर ले जाने वाली इच्छा शक्ति परमेश्वरी की कृपा से प्राप्त होती है। इसीलिए उनको "काम्या" कहा गया है।

काम-कला का मूल रूप इसी काम्या में पाया जाता है। संसार में जो भी कामना की जाती है या की जा सकती है, वह सामान्य कामना है जिसके पीछे परम रमणीय और कमनीय भावना के रूप में परमेश्वरी की पावन भावना छिपी हुई है। इस परिष्कृत कामना की उदात्त भाव भूमिका पर पहुंचने के बाद संसार में कामना योग्य अर्थात् चाहने योग्य या पाने योग्य और कोई वस्तु रह ही नहीं जाती है। कामना और काम-कला के मूल उद्गम का जब पता चलता है तो काम-कला वासना से मुक्त होकर उपासना का रूप धारण करती है। यही धर्म सम्मत काम लालसा शुद्ध सात्विक होने के कारण लोक कल्याण की भावना को आगे बढ़ाती है। वैयक्तिक सुख सन्तोष तक सीमित काम वासना अधिक से अधिक भव्य बन सकती है, पर उसको दिव्यता प्रदान करने वाली क्षमता

केवल काम-कला की विराट् परिकल्पना से ही प्राप्त हो सकती है। यही बात सौंदर्य, प्रेम और आनन्द के सम्बन्ध में भी सही है। मानव-जीवन की ये तीनों मंगलमय विभूतियां सीमित रूप में क्षणभंगुर होंती हैं और असीम बनकर अखंड आनन्द की कुंजियां बन जाती हैं। सकल चराचर सृष्टि में सौंदर्य है, उसकी पराकाष्ठा सृष्टिकर्त्री परमेश्वरी में पाई जाती है। इसी प्रकार संसार में जो भी काम-कला कामियों और कामिनियों में पाई जाती है, उसका कमनीय और कोमल रूप कामेश्वरी में पाया जाता है।

कदंब के फूल कामेश्वरी को अच्छे लगते हैं। कहा जाता है कि बरसात में बादलों के गरजते ही कदंब के फूलों की कलियां एक साथ और एकदम उभर आती हैं। बादलों की रसभरी पुकार सुनकर खिल उठना और वह भी एक साथ सार्वजनीन चेतना का परिचायक है। सूर्य का प्रकाश एक साथ सारे अन्तरिक्ष को और धरती कौ आलोकित करता है। इसी प्रकार बरसात का पानी धरती के कण-कण को रसा-प्लावित कर देता है चाहे वह पहाड़ी प्रांत हो, उपजाऊ खेत हो, शहरी इलाका हो या निर्जन रेगिस्तान हो। कदंब के फूलों में भी इसी प्रकार की सामासिक भावना है जो परमेश्वरी को शायद अच्छी लगती है। कदंब के फूलों से निकलने वाली हवा बहुत सुहावनी होती है और मलया-चल की मादकता से भी अधिक मोहक लगती है। लेकिन कदंब के फूलों से जो फल बनते हैं, वे कठोर होते हैं और खाने योग्य नहीं होते। इसलिए कदंब की शोभा कुसुमित होने में ही अधिक है। वह फूले नहीं समाती, फल की कोई विशेष इच्छा उसमें नहीं होती। कदंब का यह लक्षण उसकी निष्काम विकासशीलता की ओर संकेत करता है। इन्हीं सब कारणों से कमनीय काम-कला की अधीश्वरी काम्या को कदंब के फूल अच्छे लगते होंगे। तभी तो उनको "कदंब कुसुम प्रिया" कहा जाता है। देवी को कदंब वनवासिनी भी कहा जाता है।

कामेश्वरी की एकमात्र कामना लोक-कल्याण है। इसीलिए उनको

"कल्याणी" कहा गया है। "कल्याणी" शब्द में कामेश्वरी की विश्व कल्याण भावना का सार संग्रह समाविष्ट हो जाता है। "कल्याण" शब्द ही बहुत सार गर्भित है। "कल्य" से कल्याण या कल्याणी शब्द बनते हैं। "कल्य" का मतलब है—प्रातःकाल, आने वाला दिन या भावी काल। अनंत काल तक काल-चक्र के साथ निरन्तर चलने वाली प्राण-शक्ति या जीवधारा को कल्याणी कहा जा सकता हैं। संसार की समस्त कलाओं में प्रशस्त कला को भी कल्य या कल्या कहा जाता है। कला ही जिनकी जान है और जो कला को प्राण से भी अधिक प्रिय समझती हैं, वह भी कल्याणी हैं। कला किसी देश या काल विशेष तक सीमित नहीं रहती। वह सार्वत्रिक और सार्वकालिक होती है। जब तक कला है तब तक कल्याणी है। कल्याणी की इसी काल निरपेक्षता की ओर संकेत करते हुए आदि कवि वाल्मीकि कहते हैं—"न नशिष्यति कल्याणी नाग्निरग्नौ प्रवर्तते।"

प्रभातकालीन समीर को भी कल्याण कहते हैं जिसमें प्राणशक्ति प्राकृतिक रूप में प्रकट होती है। प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान की भांति कल्याण भी एक मुख्य प्राण है। इसी मुख्य प्राण को प्राणियों के पांच भौतिक शरीर में संचालित करने वाली मूल शक्ति को यहां "कल्याणी" का नाम दिया गया है। संसार के संचालन का मूल आधार होने के कारण इसी प्राण शक्ति को 'जगती कंदा" कहा गया है। जगत् को गतिशील या संवेदनशील बनाने वाली परमेश्वरी करुणा की अक्षय निधि हैं। संसार के कण-कण में उनकी समवेदना मुखरित होती है। इस विशाल विश्व के प्रत्येक प्राणी के कल्याण की व्यवस्था करने का भार वह अपने ऊपर लेती हैं। विश्व के किसी भी कोने में कोई भी प्राणी किसी भी प्रकार की पीड़ा से ग्रस्त हो तो करुणामयी कल्याणी तटस्थ नहीं रह सकती। उनके कुसुम कोमल हृदय में करुणा वरुणालय की तरह उमड़ पड़ती है। इसीलिए उनको 'करुणा रस सागरा' (करुण रस का समुद्र) कहा गया है।

करुणा प्रेम से भी उदात्त भावना है। प्रेम में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रतिफल की भावना निहित होती है। लेकिन करुणा में दीन की दयनीयता को देखकर सहृदय के मन में समवेदना की भावना अनायास और अहेतुक उभर आती है। प्रेम में अनुराग की मात्रा दोनों में समान रूप से होती हैं जबकि करुणा में एक व्यक्ति सहारा देता है और दूसरा लेता है। इसलिए करुणामयी देवी प्रत्येक प्राणी के हृदय में करुणा का बीज बोती हैं ताकि धरती का जीवन सुखमय, शांतिपूर्ण और संतुलित चलता रहे। अगर संसार में प्रेम और करुणा का प्रसार नहीं होता तो जीवन जीने योग्य नहीं रहता। ये दोनों देवी के वरदान हैं जिनके सहारे संसार निदाध की दीर्घ मरीचिकाओं के बीच में भी मलयानिल की मधु-मय मादकता का अनुभव करता है। यही परमेश्वरी की लीला है जिसको कला की संज्ञा दी जा सकती है।

कलावती की इसी कला का कोमल कांत पदावली में सहस्रनाम का अगला श्लोक वर्णन करता है।

कलावती कलालापा कांता कादंबरी प्रिया।
वरदा वामनयना वारूणी मद विह्वला॥

कला में सृष्टि, स्थिति और लय—तीनों सम्मिलित होते हैं। कलाकार अपनी सारी चेतना का सार लगाकर एकदम नई चीज संसार को देता है और उसी के भरोसे जीता है और उसी में अपने को अर्पित कर देता है। जीवन भी एक कला है। प्रत्येक जीवित प्राणी अपने प्रतिरूप को पैदा कर देता है, उसका पालन-पोषण करता है और उसी के सतत प्रसार के लिए अपने को न्यौछावर कर देता है। संसार में जितनी कलाओं का प्रचलन है, सबके पीछे कारयित्री प्रतिभा या कुछ कर दिखाने की इच्छा या कामना काम करती है। यह प्रेरणा परमेश्वरी की ही देन है। इसलिए संसार की समस्त कलाओं की अधिष्ठात्री देवी को "कलावती" कहा गया है। काम कला भी उन्हीं की विलासिता को

व्यक्त करती है। वास्तव में "काम" शब्द क, अ और म तीन अक्षरों से निष्पन्न होता हैं। "क"—ब्रह्मा या सृष्टिकर्ता का प्रतीक है, "अ"—विष्णु या विश्व के पालक का द्योतक है और "म"—लयकर्ता महेश्वर का प्रतीक है। इस प्रकार काम शब्द में सृष्टि, स्थिति और लय का समावेश है जो कि कला का भी लक्षण है। श्रीविद्या में "काम-कला" शब्द का विशेष महत्व है और इसके पीछे आध्यात्मिक रहस्य छिपा हुआ है।

परमेश्वरी के मुंह से जो भी बात निकलती है, वह कलात्मक होती है। परमेश्वरी की कृपा जिन पर होती है, उनकी वाणी में भी इसी प्रकार का माधुर्य दिखाई देता है। बातें सब लोग करते हैं, पर किसी-किसी की बात में विशेष आकर्षण होता है। कलात्मक सौष्ठव ही इस आकर्षण का कारण है। देवी के साधारण वर्तालाप में भी इस प्रकार का कलात्मक सौष्ठव पाया जाता है। इसीलिए उनको "कलालापा" कहा गया है।

अगला नाम है—"कांता"। कांता किसी भी स्त्री को कहा जा सकता है। कांता और कांत शब्द क्रमश: पत्नी और पति के पर्यायवाची भी होते हैं। जिसको प्राप्त करने पर मन की कामना पूरी हो जाती है, वही कांत और कांता है। परमेश्वरी की प्राप्ति जीवन की चरम उपलब्धि है। वही सबसे बड़ी सिद्धि है। इसलिए "कांता" शब्द देवी के लिए सर्वथा उपयुक्त है। कला के प्रसंग में भी कांता शब्द सार्थक बन जाता है। काव्य की उक्ति कांतासम्पित होनी चाहिए, यही काव्य-शास्त्रियों का अभिमत है। उपदेश तीन प्रकार के होते हैं—प्रभु सम्मत, मित्र सम्मत और कांता सम्मत। प्रभु सम्मत उपदेश वेदों में मिलते हैं और नीतिशास्त्र में भी इस प्रकार के निर्देश वाक्य मिलते है। पुराणों में कहानियों के माध्यम से मित्र सम्मत सम्मतियां मिलती हैं। लेकिन काव्य में कवि अपने मन की बात इस ढंग से बताता है जैसे कोई मधु-

भाषिणी महिला शालीनता और कोमलता के साथ अपने पति से अपना आशय प्रकट करती है। इसी प्रकार की कोमल कांत पदावली परमेश्वरी के मुंह से निकलती है। इसीलिए उनको "कांता" कहा गया है। कांता शब्द से कांति या प्रकाश का बोध होता है। अक्षर से आलोक फैलता है, मधुर भाषण से मन प्रकाशित हो जाता है और पवित्र मंत्रों के उच्चारण से आत्मा आलोकित हो जाती है। इस आंतरिक आलोक का आधार होने के कारण भी परमेश्वरी को "कांता" कहा गया है।

देवी को जैसे कदंब के फूल अच्छे लगते हैं, वैसे कदंब के कोटर से निकलने वाली कादंबरी भी अच्छी लगती है। कादंबरी के सेवन से मनुष्य अपनी अभीष्ट भावना में तल्लीन हो जाता है। परवशता परमेश्वरी को प्राप्त करने के लिए परम आवश्यक है। काव्य का आनन्द भी उन्ही सहृदयों को मिलता है जिनका हृदय भावना-लोक में पहुंच कर पार्थिव जगत् की सब बातें भूल सकता है। इसी को काव्यशास्त्र की परिभाषा में "सद्यः पर निवृत्ति" कहा जाता है। इस प्रकार शरीरधारियों को शरीर की सुध-बुध खोने में सहायक तत्परता और तदीय भावना परमेश्वरी की कृपा से ही प्राप्त होती है। इसी आशय को प्रकट करने के लिए देवी को यहां "कादंबरीप्रिया" कहा गया है।

जिस पर देवी की कृपा होती है, उसको वह सब कुछ दे देती हैं। इसलिए उनका नाम है—"वरदा"। वर देने वाली वरदा है। वर का मतलब श्रेष्ठता भी है। परमेश्वरी जो कुछ देती है, वह बढ़िया से बढ़िया ही होता है। इसलिए श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वस्तु देने वाली देवी के लिए वरदा का नाम सर्वथा सार्थक है।

परमेश्वरी का कटाक्ष ही जीवन को समृद्ध और सफल बनाने के लिए काफी है। उनकी सीधी नजर से भी महत्तर उनकी तिरछी नजर है। स्त्रियों की दृष्टि में जो भी आकर्षण होता है' वह तिरछी नजर या वाम दृष्टि में ही होता है। वास्तव में मानव शरीर का दाहिना भाग

पौरुष का प्रतीक है और वाम भाग स्त्रीत्व का। पहला प्रबल और कठोर होता है और दूसरा मधुर और कोमल। इसीलिए स्त्रियों को 'वामा' कहा जाता है। यह वाम सौंदर्य परमेश्वरी की आंखों में तिरछी रेखा बनकर प्रत्यक्ष होता है। इसीलिए उनको "वामनयना" कहा गया है। दाहिनीं आंख में विश्वविधाता को बसाकर बाईं आंख के बायें कोने से संसार के कोने-कोने को देखकर जीवन-फल की वर्षा करने वाली काम-नयनी या कामाक्षी को यहां पर वामनयना कहा गया है।

इस श्लोक का अन्तिम नाम है—वारूणीमद विह्वला। वारूणी एक आसव (पेय) है जिसका सेवन किसी को भी तन्मय या तल्लीन बना देता है। वारूणी मानव शरीर की एक नाड़ी भी है जो साधक को सहस्रार चक्र तक ले जाती है। दोनों में तल्लीनता का तत्व सम्मिलित है। पर आसव-पान से मिलने वाली तल्लीनता क्षण भंगुर होती है और शरीर को आत्मा से दूर ले जाती है जबकि वारूणी नाड़ी के सहयोग से मिलने वाली तन्मयता शाश्वत आनन्द प्रदान करती है और शरीर को आत्मा के निकट ले जाती है। यही आनन्द परमेश्वरी का परम पावन वरदान है जिसकी तुलना में सारा लौकिक आनन्द क्या मानसिक आनन्द भी कुछ नहीं है। यही वह आत्मानन्द है जिसके सामने ब्रह्मानन्द की भी कोई गणना नहीं है।

यही ललिता की लीला का कला-विलास है जो विश्व की समस्त कलाओं का सार है।

---

१७. क्षेत्रस्वरूपा क्षेत्रेशी

सत् चित् और आनंद के रूप में संसार में सर्वत्र विद्यमान सर्वेश्वरी विश्व के भीतर भी है और विश्व से परे भी । लेकिन हर जगह होने पर भी हर एक को दिखाई नहीं देतीं हैं । जैसे हम अपनी आँखों से सब कुछ देखते हैं, पर उन्हीं आँखों को नहीं देख पाते जो हमें देखने की शक्ति देती हैं, वैसे ही हम अपनी विधात्री, नेत्री और संधात्री के पैरों की आहट तो सुन पाते हैं, पर उन के पद-चिह्नों कों पहचान नहीं पाते । लेकिन अगर देखने का संकल्प सच्चा हो तो वही आहट उस आकार तक हमें पहुँचा सकती है । "श्रुति" के माध्यम से दर्शन का प्यासा अपनी "दृष्टि" के आधार को देख सकता है । एक बार यह दृष्टि प्राप्त हो जाए तो द्रष्टा, दृष्टि और दर्शन में कोई अंतर नहीं दिखाई देगा । विश्व के भीतर और विश्व से भी परे अगजग को आवासित करने वाली इस विपुल सृष्टि के भीतर की विमल दृष्टि का वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है:

विश्वाधिका वेदवेद्या विंध्याचलनिवासिनी ।
विधात्री वेदजननी विष्णुमाया विलासिनी ।।

पृथ्वी, पानी, प्रकाश, पवन और परम व्योम् के रूप में चर्मचक्षुओं के सामने जो कुछ दिखाई देता है, वह सब विश्व है । शब्द, स्पर्श, रूप रस और गंध इस के लक्षण हैं । परमेश्वरी इसी विश्व में हैं, पर विश्व से परे हैं । पाँच भौतिक प्राणी अपनी चर्मचक्षुओं के द्वारा आगे, पीछें, ऊपर, नीचे, बाहर-भीतर-सर्वत्र -समाए हुए उस दिव्य रूप को देख नहीं पाता । इसी लिए उनको "विश्वाधिका" कहा गया है । "विश्व" शब्द "विश्" धातु से

बना है जिसका मतलब है—प्रवेश करना। जिस में दृश्यमान जगत् की सभी चीजें प्रवेश कर जाती हैं, उसी को विश्व कहा जाता है। पर देवी का दिव्य रूप किसी वस्तुमूलक आधार की सीमा को स्वीकार नहीं करता। सब का धारण करने वाली धात्री के लिए न तो किसी पात्र या संधारित्र की आवश्यकता है और न ऐसी वस्तु में वह समा भी पातीं। वह सर्वत्र हैं, सर्वस्व हैं और सर्वोपरि हैं, इसीलिए विश्वाधिका हैं।

फिर उनका स्वरूप समझने का उपाय क्या है? "जानो, समझो, देखो, परखो" बस यही एकमात्र उपाय है। वेदों में इसी जिज्ञासा ने हजारों ऋचाओं, छंदों और स्पंदनों का रूप लिया है: जो जितना जानने का प्रयास करता है, उसे वह परम तत्व उतना ही हृदयगंम हो जाता है। जानने और पहचानने के इस सीधे, किन्तु लम्बे रास्ते को छोडकर और कोई सुगम या नजदीक का रास्ता उस मंजिल तक ले जाने वाला नहीं है। जानने से ही वह जानी जाती है, वेद के माध्यम से ही वह वेद्य है। इसीलिए उनको "वेदवेद्या" कहा गया है। जानने की इस लम्बी साधना का आरम्भ अज्ञान की अनुभूति से होता है। पहले यह जानना चाहिए कि मैं कुछ नहीं जानता हूं और जो कुछ जानता हूं वह झूठा ज्ञान था। वास्तविक ज्ञान क्या है जिसको जानने से सब कुछ जाना जा सकता है, पहले उसका पता होना चाहिए। उसके बाद ही ज्ञान की सच्ची खोज शुरू होती है।

ज्ञान की लालसा के पहले ज्ञान की मीमांसा की जो दशा है, उस पर विंध्याचल पर रहने वाली विश्वाधिका देवी का शासन है। सहस्र-नाम का आला नाम "विंध्याचल निवासिनी" इसी साधन को स्पष्ट करता है। "विंध्याचल" शब्द यहाँ साँकेतिक है। विंदति और ध्यायति (पाता है, अगर ध्यान दें)—इन दो क्रियाओं का सुन्दर समन्वय विंध्याचल शब्द में है। पहली क्रिया में लक्ष्य सिद्धि का आश्वासन है और दूसरी क्रिया में इसे प्राप्त करने के लिए अपेक्षित अनुशासन की

ओर संकेत है। भौगौलिक दृष्टि से भी विंध्याचल हिमाचल और मलयाचल के बीच का पर्वत है। हिमाचल बर्फ का पहाड़ है जो शीतलता, सात्विकता और उदात्तता का प्रतीक है। वहां तक पहुंचना सबके लिए सम्भव नहीं है। लेकिन उसकी मादकता और मधुरिमा का परिचय मलयाचल के मंद पवन के प्रचार और प्रसार से मिल जाता है। मलयाचल की मंजुलता हिमाचल की महिमा की ओर प्रेरित करती है और बीच में स्थित विंध्याचल इस प्रेरणा को अवधारणा का रूप देता है। विंध्याचल प्राप्ति और धारणा का केन्द्र है, परमार्थ की साधना के लिए उपयुक्त ध्यानपीठ है जिस पर परमेश्वरी निवास करती है। यह विंध्याचल केवल बाहर ही नहीं, बल्कि मनुष्य के भीतर भी है। बाहर का ध्यान भीतर की ओर केन्द्रित हो जाए तो ध्यान-पीठ ज्ञान पीठ बन जाता है।ध्यान से ही ज्ञान प्राप्त होता है और ज्ञान से परमेश्वरी की पहचान हो जाती है।

ध्यान-ज्ञान कर्म-धर्म, पाप-पुण्य, सत्-असत् सबका विधायन करने वाली "विधात्री" है—श्री ललिता परमेश्वरी। वही वेदमाता या वेदजननी है। विधान बनाना और ज्ञान कां मार्ग सुगम करना उन्हीं का काम है। सृष्टिकर्त्री ही अपनी सृष्टि का सारा रहस्य जानती है और उन्हीं की कृपा और अनुकम्पा से जानने योग्य को जानने में मदद मिलती है। वेदों में ज्ञान-विज्ञान का अक्षय भंडार है, पर वह अक्षरमय है। वेदमाता की जिन पर कृपा होती है उनके लिए ये साधारण अक्षर अक्षयनिधि के आगर बन जाते हैं। अन्यथा काले अक्षर भैंस बराबर हैं। वेद के मंत्रों में सर्वश्रेष्ठ मानी जाने वाली गायत्री माता को भी वेदमाता कहा जाता है। अपना गुणगान करने वाले साधकों की रक्षा करना गायत्री का लक्षण है। इसलिए साधना जितनी गहरी बन जाती है, सिद्धि उतनी सुलभ हो जाती है। इसमें वेदजननी श्रीमाता का सहारा साधक का हौसला बढ़ाने में समर्थ होता है।

अगला नाम है—विष्णुमाया। हम कहा करते हैं कि सारा संसार

परमात्मा की माया है। "माया" का मतलब है—सीमा। जहाँ हमारी जानकारी का क्षेत्र सीमित होता है, वहाँ माया ही काम करती है। उस सीमा के आगे हमारी पहुंच नहीं होती। यह माया माता की ही लीला है। परमात्मा भी इस मायामयी लीला का शिकार बन जाता है। परमेश्वरी की माया में आकर ही परमात्मा मनुष्य रूप धारण करता है और मनुष्य की तरह सुख-दुःख, राग-द्वेष, माया ममता आदि का अनुभव करता है। अलौकिक शक्ति संपन्न अवतार पुरुषों की जब यह हालत है तो साधारण मनुष्यों का नारी के संकेत पर नाचना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परमेश्वरी की महती माया का ही थोड़ा बहुत अंश संसार की प्रत्येक नारी में विद्यमान है। माया से लोकमंगल की साधना भी होती है। माया-ममता के बल पर ही संसार चलता है। इसको भी देवी की देन समझकर स्वस्थ मन से इसका सेवन किया जाए तो माया की यह तरंग हमारा तन नहलाकर और मन बहलाकर ऊपर ही ऊपर से पार हो जाती है। यह माया विश्वव्यापी है, इसलिए यह विष्णु माया है। विष्णु विश्व व्यापी हैं तो उनकी माया भी विश्व भर में फैली हुई है। असल में माता ही माया है, माया का ममतामय रूप है।

यह माया क्यों ? क्योंकि यह लीला है। यह सारा संसार प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, माया, ममता आदि दैवी भावनाओं की लीला है। जग-जननी को इस लीला में एक अनिवचंनीय आनन्द मिलता है। यह सारा संसार जिसका लीला-स्थल है, उसी का विलास यहां के कण कण में विलसित है। सांसारिक जीवन की प्रत्येक घटना में उन्हीं लीलामयी ललना का लालित्यपूर्ण विलास दिखाई देता है। श्रीमाता ललिता के इसी विलासमय स्वरूप की ओर संकेत करता है—इस श्लोक का अंतिम नाम—"विलासिनी"।

विश्व कला विलासिनी ललिता का लीलाधाम मनुष्य शरीर ही है

जो नश्वर होते हुए भी शाश्वत सत्य का सात्विक प्रकाश अपने भीतर समाए हुए रहता है। शरीर को प्राय: क्षेत्र कहा जाता है ओर इसके भीतर बसे हुए शरीरधारी जीव को क्षेत्रज्ञ। इस बसेरे को और बसने वाले को बसानेवाली मूल शक्ति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनों का पालन पोषण करती है। इसी क्षेत्रेश्वरी का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

क्षेत्र स्वरूपा क्षेत्रेशी क्षेत्र क्षेत्रज्ञपालिनी।
क्षयवृद्धि विनिर्मुक्ता क्षेत्रपाल समर्चिता ।।

समय की गति के अनुसार क्षीण हो जाना शरीर का धर्म है, लेकिन जब तक रहता है तब तक स्वयं मिटकर भी अन्दर की अक्षय आत्मा को त्राण और आवरण प्रदान करना भी शरीर का काम है। इसीलिए वह क्षेत्र कहा जाता है। यह क्षेत्र वास्तव में परमेश्वरी का ही रूप है। जैसे संसार के कण कण में सर्वेश्वरी की सत्ता छाई हुई है, वैसे शरीर के अंग अंग में देवी का अनंत लावण्य ससीम बनकर विराजमान होता है। मानव शरीर में जो भी सौंदर्य, सामर्थ्य और शोभा है, उसमें पर-मेश्वरी का ही अंश विद्यमान है। क्षेत्र या शरीर के रूप में हमें देवी का ही दिव्य तेज अपनी कृति और श्रुति के अनुरूप मिला हुआ है। इसलिए इस वरदान का यथोचित ओर यथेष्ट उपयोग करना प्रत्येक विवेकशील प्राणी का कर्तव्य है।

क्षेत्र के रूप में विराजमान "क्षेत्र स्वरूपा" देवी ही क्षेत्र की अधिष्ठात्री है। इसीलिए उनको "क्षेत्रेशी" भी कहा गया है। शरीर को क्षेत्र और शरीर के रहस्य को पहचाननेवाले को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। इन दोनों को, अर्थात्, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को अपनी अपनी भूमिका निभाने की क्षमता क्षेत्रेश्वरी से मिलती है। इसलिए उनको "क्षेत्र क्षेत्रज्ञ-पालिनी" कहा गया है।

केवल क्षेत्र ही क्षीण होता है, क्षेत्रज्ञ या क्षेत्रपाल नहीं। इसी प्रकार वृद्धि भी क्षेत्र की ही होती है। पल पलकर बढ़ना और गल गल कर मिटना शरीर का धर्म है। शरीर के भीतर जो जीवात्मा है और उस जीवात्मा को शासित, पालित और पोषित करने वाला जो परमात्मा है—ये दोनों इस बाहरी क्षय या वृद्धि से प्रभावित नहीं होते। वे न बढ़ते हैं, न घटते हैं। आत्मा अजर है, अमर है। केवल शरीर मिटता है। मिटने वाले शरीर के भीतर शरीर को क्षणिक आवरण बनाकर बसने वाली आत्मा क्षय और वृद्धि से मुक्त है। परमेश्वरी इसी आत्मा के रूप में शरीर में विराजमान होती हैं। इसलिए उनको "क्षयवृद्धि विनिर्मुक्ता" कहा गया है।

शरीर सबसे स्थूल वस्तु है। उससे भी सूक्ष्म तत्व मन, बुद्धि और अहंकार हैं। इन्हीं तत्वों का सम्मिश्रित रूप जीवात्मा है। जीवात्मा से भी सूक्ष्म परमात्मा हैं और परमात्मा की मायाविनी और लीलामयी शक्ति परमेश्वरी है। इसलिए क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ और क्षेत्रपाल इसी क्षेत्रेश्वरी की आराधना करते हैं। इस श्लोक का अन्तिम नाम "क्षेत्रपाल समर्चिता" इसी आशय को प्रकट करता है।

नश्वर शरीर के भीतर अविनश्वर आत्म तत्व के रूप में प्रतिष्ठित परमेश्वरी का साक्षात्कार कैसे हो, इस सम्बन्ध में कुछ दिशा-दर्शन सहस्रनाम के अगले श्लोक में मिलता है :

विजया विमला वंद्या वंदारुजन वत्सला।
वाग्वादिनी वामकेशी वह्निमंडल वासिनी॥

इस श्लोक का पहला नाम है—विजया। जिसकी हमेशा विजय होती है, उसको विजया कहा जाता है। इस माने में परमेश्वरी को विजया कहना सर्वथा उचित है। लेकिन परमेश्वरी का साक्षात्कार करने के लिए भी शरीरधारी को विजय की साधना करनी है। जीवन एक

संग्राम है जिसमें बाहरी और भीतरी शत्रुओं से निरन्तर लड़ना पड़ता है। इस संघर्ष में जो जीत जाता है, उसीका जीना सार्थक बन जाता है। लौकिक अथवा भौतिक जीवन में बाहरी शत्रुओं पर विजय पाना जितना आवश्यक है, आध्यात्मिक जीवन में भीतरी शत्रुओं को पराजित करना उससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। काम, क्रोध, लोभ आदि मनोविकारों पर जब तक नियंत्रण प्राप्त न किया जाए तब तक आंतरिक शान्ति नहीं होती। जब तक अन्तरतम प्रशान्ति निलय न बन जाए तब तक आध्यात्मिक सिद्धि या आत्म साक्षात्कार संभव नहीं है। इसलिए अपने आप पर विजय पाना अपने को पहचानने का सीधा-सादा और एकमात्र मार्ग है। "मन जीता तो जग जीता—" आध्यात्मिक जगत् का शाश्वत सत्य है।

जब साधक धीरे धीरे अपने तन-मन को स्वाधीन कर लेता है तब उसका मन निर्मल बन जाता है। निर्मल मन में आत्मा का आलोक उसी प्रकार स्पष्ट झलकता है जैसे निश्चल सरोवर में सूर्य और चन्द्र का प्रतिबिम्ब। इसलिए आत्म संयम के द्वारा अपनी इंद्रियों पर और मन पर विजय पाने के बाद अपने अन्तःकरण को निर्मल रखना आत्मानंद की प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विजया और विमला—परमेश्वरी के ये दोनों नाम साधनावस्था की इन दोनों सीढ़ियों की ओर संकेत करते हैं। यहां पर जय का मतलब आत्म विजय है और निर्मलता या विमलता का आशय सम्यक् ज्ञान के स्वच्छ प्रकाश से है। अज्ञान ही अशरीरी को शरीर के माया-मोह में डालने वाला मल है जिस के धुल जाने से अन्तःकरण निर्मल या विमल बन जाता है। लेकिन यह वैसे नहीं धुलता जैसे कपड़े का या शरीर का मालिन्य साबुन के पानी से धुल जाता है। जैसे रात का अंधकार प्रभात की कांति-किरणों को देखते ही गलकर प्रकाश में घुल-मिल जाता है, वैसे ही जीव का अज्ञान रूपी अन्धकार ज्ञान के प्रकाश में बदल जाता है। इसके लिए प्रभाकर की प्रभा चाहिए। परमेश्वरी की कृपा इसी प्रकार की प्रभा है।

मन की निर्मलता का एक बाहरी लक्षण विनम्रता है। निर्मल मन हमेशा विनम्र होता है और श्रद्धा की भावना के लिए अनुकूल बनता है। जो मस्तक जननी के चरणों में विनम्र भावना से नत होता है, उसके सामने सारा संसार नत मस्तक बन जाता है। विनम्रता विजय और विमलता की कुंजी है। नमस्कार में अद्भुत चमत्कार है। वंदना से देवी देवता तत्काल सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसी आशय को प्रकट करने वाले दो नाम—'वंद्या' और 'वंदारू जन वत्सला' वंदना की महिमा बताते हैं। आदि कवि वाल्मीकि के शब्दों में रामचंद्र की पत्नी सीता माता "प्रणिपात प्रसन्ना" हैं। एक बार श्रद्धा और भक्ति से जो नमस्कार करता है, उस पर वह प्रसन्न हो जाती हैं। तन का नमन मन में मनन का बीज बोता है। विश्व वंद्या देवी की वंदना करने से उनकी कृपा ही नहीं, बल्कि उनकी वात्सल्यमयी भावना वंदन करने वालों को अनुगृहीत करती है।

आत्म संयम, निर्मल मन और विनम्र आचरण के साथ साथ मंजुल वाणी का भी मधुर संयोग हो तो आत्मा अधिक आलोकित हो जाती है। यह वाणी भी माता की ही देन है। वाणी को वह वाणी प्रदान करती हैं। इसीलिए उनको "वाग्वादिनी" कहा गया है। वाक् से वाणी निकलवाने की क्षमता उन्हीं में है। वाग्देवी की अनुकंपा से प्राप्त वाणी के माध्यम से ही हम उनकी स्तुति करते हैं, वंदना करते हैं। संयत आचरण, निर्मल मन और परिमार्जित वाणी के सामंजस्य से साधक के चेहरे पर दिव्य तेज झलकने लगता है। इस वर्चस्विता का मूल स्रोत "वामकेशी" देवी है। "वाम" शब्द के दो अर्थ हैं—बायें और विकिरणशील। बाईं तरफ गुंथे हुए केश और विकिरणशील केश राशि—इन दोनों अर्थों में "वाम केशी" नाम सार्थक बन जाता है। स्त्रियों का सौंदर्य बहुत कुछ केश सज्जा पर निर्भर होता है। केश राशि की कोमलता, प्रचुरता, मृदुलता और सबसे बढ़कर विकिरणशीलता देवी की दिव्यता को प्रकट

करती हैं। "वाग्वादिनी" के बाद "वामकेशी" का नाम आने से देवी की दिव्य वाणी का ओज और केश राशि का तेज साथ-साथ उद्भासित होते हैं। इस ओज और तेज का उद्गम परमेश्वरी की द्युति या ज्योति है जिसका उल्लेख अगले नाम—"वह्नि मंडल वासिनी" में किया गया है। श्रीमाता हमेशा अग्निकुंड में रहती हैं। वैसे देवी का उद्गम स्थान भी चिदग्नि है। एक बाहर की अग्नि है और दूसरी भीतर की। यहाँ पर बाहर की अग्नि की ओर ही संकेत है। दोनों प्रकार की अग्नि शक्ति और ऊर्जा का प्रतीक है। ओज, तेज और द्युति का मूल स्रोत यही है। आग से ताप भी मिलता है और प्रकाश भी मिलता है। अमंगल की हानि के लिए ताप की आवश्यकता पड़ती है और मंगल के वर्द्धन के लिए प्रकाश की। दोनों देवी के वरदान हैं।

इस युगल कार्य को देवी कैसे सम्पन्न करती हैं, इसका उल्लेख अगले श्लोक में किया जाता है :

भक्तिमत्कल्प लतिका पशुपाश विमोचनी।
संहृताशेष पाषंडा सदाचार प्रवर्तिका॥

भक्तों के लिए भगवती की भावना पारिजात की लता की तरह मुंह मांगा वर देने वाली होगी और पशु तुल्य प्राणियों को भी यह भगवतीय भावना वासना के पाशों से मुक्त कर देती है। भावना मन में आनी चाहिए, बाकी सब भगवती का काम है। भावना अक्सर आचरण से भी बलवती होती है। हम क्या करते हैं, यह बात इतनी महत्वपूर्ण नहीं है जितनी कि इस आचरण के पीछे हमारी भावना क्या है। भवानी भावना को पहचानती हैं। अगर भावना सही है तो आचरण के दोष को वह माफ कर देती हैं। इसके विपरीत अगर भावना दूषित है और आचरण बाहर से अच्छा प्रतीत हो तो भगवती सच्चाई को पल भर में पकड़ लेती हैं और ऐसे पाखंडों को समाप्त कर देती हैं। कदाचार, दुराचार, अनाचार और अत्याचार को दूर कर लोगों में सदाचार की भावना

का संचार कराने का यही तरीका देवी अपनाती हैं। इस श्लोक के चारों नाम देवी के इसी दुष्ट शिक्षण और शिष्ट रक्षण की व्याख्या करते हैं। दुराचार के दमन से ही सदाचार पनपता है, अन्धकार के हट जाने पर ही प्रकाश फैलता है, अज्ञान के नष्ट होने पर ही ज्ञान की प्राप्ति होती है और असत् के निराकरण के बाद ही सत् का साक्षात्कार होता है।

---

१८. भक्त मानस हंसिका

जीव जगत् का प्रत्येक क्षण आनन्द की आकांक्षा लिए चलता है। यह आनन्द तीन प्रकार का होता है—भौतिक, मानसिक और आत्मिक। भौतिक या शारीरिक आनन्द क्षण भंगुर होता है, पर प्रत्यक्ष और सुग्राह्य होता है। यह प्रत्येक व्यक्ति की पहुंच के भीतर होता है। पर मानसिक आनन्द भीतर की ज्योति से प्राप्त होता है और इसका अनुभव पहुंचे हुए व्यक्ति ही कर सकते हैं जिनका जीवन-स्तर मानवीय भाव-भूमिका को पार कर दैवी जगत् में प्रवेश कर लेता है। इससे भी उच्च कोटि का आनन्द आत्मा के आलोकमय जगत् में विद्यमान होता है जो भावना के बल पर ध्यान के धनी और ज्ञान के अधिकारी ही अनुभव कर सकते हैं। आनन्द चाहे किसी भी प्रकार का हो और किसी भी स्तर का हो, श्रम, साधना या तपस्या के बिना सुलभ नहीं हो सकता। लौकिक आनन्द के लिए भौतिक ताप की आवश्यकता होती है, मानसिक आनन्द के लिए बौद्धिक साधना आवश्यक होती है और आध्यात्मिक आनन्द या आत्मानंद आंतरिक तपस्या के बिना सम्भव नहीं होता। इन तीनों में जो साधना निहित है, वह कभी ताप का रूप धारण करती है और कभी तपस्या का। साधक के दृष्टिकोण और संस्कार के अनुसार ताप ही तपस्या में परिणत हो जाता है। ताप और तपस्या में लगभग वही अन्तर है जो आग और चांदनी में है। आग किसी भी वस्तु को जलाती है और वही आग सूर्य की किरणों का सहारा लेकर प्रकाश देती है और कभी-कभी ताप भी देती है। वही ताप धूप बन जाता है। वही धूप चन्द्रमा में जाकर चांदनी का

रूप लेती है। जैसे सूर्य की किरणें अग्नि के ताप को चन्द्रमा की ज्योत्स्ना में परिवर्तित कर देती है, वैसे ही भानुमती माता की भावना के बल पर ताप भी तपस्या बन जाता है। यही बात श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में बताई जाती है :

तापत्रयाग्नि संतप्त समाह्लादन चंद्रिका।
तरुणी तापसाराध्या तनुमध्या तमोपहा।।

आनन्द की तरह सांसारिक दुःख या ताप भी तीन प्रकार का होता है—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। ये तीनों क्रमशः मानव प्राणी के शरीर, मन और आत्मा को पीड़ा पहुंचाते हैं। आम तौर पर हर व्यक्ति किसी भी प्रकार की पीडा से मुक्त रहना चाहता है। कोई भी जान-बूझकर पीडा को आमंत्रित नहीं करता। लेकिन आत्म-संयमी और योगी जान-बूझकर शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पीडा सहने में एक विशेष प्रकार का आनन्द पाते हैं। यम-नियम, व्रत-साधना, उपासना आदि के माध्यम से आत्म-योगी आत्मा के आलोक का दर्शन करते हैं। यह भी वस्तुतः ताप ही है। पर इच्छा से अपनाने के कारण यह ताप भी अच्छा लगता है और तभी वह तपस्या का रूप धारण करता है। भिखारी के भूखे रहने में और निष्ठावान् साधक के व्रत रखने में यही अन्तर है। साधकों के ताप को तपस्या में परिवर्तित करने वाली तरुणी तपस्वियों के लिए आराध्य बन जाती है। यही तरुणी श्री ललिता माता है जो लौकिक ताप की ज्वाला से झुलसने वाली जीव कोटि को मन बहलाने वाली चांदनी का सा आनन्द प्रदान करती है। आग में ही चांदनी छिपी हुई है। ताप में ही तपस्या का बीज विद्यमान है।

ताप और तपस्या के प्रसंग में परमेश्वरी को "तरुणी" कहने में एक रहस्य की बात छिपी हुई है। तरुणी का मतलब है—कम उम्र वाली या अभी-अभी यौवन के प्रांगण में पहुंची हुई बाला। प्रायः लोगों की आम

धारणा है कि तपस्या बुढ़ापे की चीज है, तरुण-तरुणियों का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भी देखने में आता है कि जब कभी कम उम्र के युवक और युवतियां संयम, साधना या तपस्या की बात करते या करती हैं तो माता-पिता और घर के बड़े लोग उनको डांटते-डपटते हैं और समझा-बुझाकर उनका मन लौकिक जीवन की ओर आकृष्ट करने का प्रयास करते हैं। पर वास्तव में तपस्या जीवन भर कीं साधना है। जन्म से लेकर अन्तिम समय तक यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। सुख-दुःख, संताप और संतोष जीवन में मिल-जुलकर आते हैं। उनको जगदीश्वर के शांतिदूत के रूप में स्वीकार करना ही तपस्या है। इसके लिए छोटे-बड़े सभी योग्य अधिकारी हैं। ध्रुव, प्रह्लाद आदि भक्त बचपन से ही भागवत भावना को अपने जीवन का अभिन्न अंग बना चुके थे। उमा की तपस्या लोक विदित है। इसलिए जन्म-जन्मान्तर के संस्कार से जो साधक कारण जन्मा होकर पैदा होते हैं, उनके लिए तपस्या एक आजीवन साधना है। जीवन का कोई भी क्षण तपस्या से शून्य नहीं है।

लेकिन यह तपो भावना इने-गिने व्यक्तियों में ही सम्भव है—लाखों में कोई एक व्यक्ति इस प्रकार का मिलता है। उनका मन उतना ही निर्मल होता है जितना कि सूर्य का प्रकाश। प्रकाश की किरणों के प्रवेश करते ही अंधकार दूर हो जाता है। अंधकार में हर चीज छिपी रहती है। पर प्रकाश में सब कुछ खुल जाता है, सब साफ-साफ दिखाई देता है। इसी प्रकार तपस्वियों के मन में कोई छिपाव-दुराव नहीं रहता। परमेश्वरी के दो नाम—तनुमध्या और तमोपहा—इसी सूक्ष्मता और स्पष्टता को प्रकट करते हैं। अंधकार अज्ञान का प्रतीक है तो प्रकाश ज्ञान का द्योतक है। प्रकाश की तरह ज्ञान भी बारीक होता है, सबकी समझ में नहीं आता। सुन्दर स्त्री की कमर की तरह वह सबकी पकड़ में नहीं आता। यही सूक्ष्मता और दुर्लभता तनुमध्या (पतली कमर वाली) नाम से प्रकट होती है। "तनु" शब्द भी विचित्र है। इसके दो अर्थ होते हैं—बारीक और फैलने वाला। शरीर को तनु इसलिए कहते हैं क्योंकि वह सूक्ष्म से स्थूल बनता

है। बीज से वृक्ष जिस प्रकार फैल जाता है, उसी प्रकार दो बूंदों के सम्मिलन से मानव शरीर बनता है और धीरे-धीरे बढ़ता है। परमेश्वरी के शरीर का मध्य भाग भी इसी प्रकार का है। संसार का केन्द्र भी इसी प्रकार शून्य भी है और पूर्ण भी है, सब कुछ है और कुछ भी नहीं है। सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ने वाले इस संसार का स्वामी इसीलिए सम्राट् भी कहा जाता है और विराट् भी।

इस विराट् भावना के पीछे चेतन प्राणी की चिंतनशीलता काम करती है। मन की जैसी भावना होती है, मन के सामने वैसा ही रूप दिखाई देता है। सामने जो कुछ है, वह न सत् है और न असत्, न सुन्दर है और न असुन्दर। मन जिसको जैसा समझता है, वह वैसा दिखता है। इसलिए संसार की समस्त सत्ता मन की मनस्विता पर आधारित है। चित् की चितनशीलता पर निर्भर है। मन से ही आनन्द का आविर्भाव होता है और मन में ही विषाद की छाया छा जाती है। इसी इच्छा शक्ति के चेतन विलास का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में पाया जाता है :

चितिस्तत्पद लक्ष्यार्था चिदेक रसरूपिणी।
स्वात्मानंदलवीभूत ब्रह्माद्यानंद संततिः ।।

इस श्लोक का पहला नाम है—चिति। यह बहुत ही सारगर्भित नाम है जिसको बड़ी सावधानी से समझने की आवश्यकता है। चिति, चित् और चित्त तीनों एक-दूसरे से मिलते-जुलते शब्द हैं जिनमें चेतना की भावना समान रूप से सम्मिलित है। चिति, चित्, चित्त और चेतना सबकी व्युत्पित्ति "चि" धातु से होती है जिसका मतलब है—चुनना, सार ग्रहण करना, सोचना, विचारना, मनन करना आदि-आदि। संक्षेप में निष्क्रियता से सक्रियता, निश्चलता से संचलता और जड़ से चेतन का आविष्कार ही चिति है। अनिश्चय में निश्चय का आलोक दिखाने वाली आंतरिक ज्योति ही चिति है। जीव जगत् की स्थिति को चितिमय बनाने वाली ज्योति भी यही है। इसीलिए मां ललिता को "चिति" कहा गया है। इसी में चित् भावना. चित्त की चेतनता और जीवन की उर्मिलता

निहित है। परमेश्वरी के इस नाम में जड़ जीवन के चितिमय प्रसाद की आभा है। चितिहीन जीवन की स्थिति भी गतिहीन और निरर्थक होती है। चित्त या मन मानव जीवन का आमोघ वरदान है। जो इस वरदान का सही और सार्थक उपयोग नहीं कर पाता, उसके लिए यह अभिशाप भी बन सकता है। चिति की साधना से स्थिति स्मिति में बदल जाती है। स्थिति, चिति ओर स्मिति सत् चित् और आनन्द के संघायक हैं। इन तीनों में बीच की कड़ी चित् या चिति है जिसमें परमेश्वरी प्रतिष्ठित रहती है।

इसी को तत्त्ववेत्ता "तत्" भी कहते हैं। तत् की भावना या तदीय भावना ही तत्त्व है। जो कुछ सामने है, आँखों के सामने दिखाई देता है और भौतिक या प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, वही सत् सत्ता या स्थिति है। इसके अलावा और इससे परे जो अप्रत्यक्ष सत्य है, वही चित् या तत् है। वास्तव में दोनों एक ही सत्ता के दो रूप हैं। वही यह है और यही वह है। एक मूर्त है और दूसरा अमूर्त। मूर्त के भीतर प्रतिष्ठित अमूर्त चिति को "तत्" शब्द से अभिहित किया जाता है। इससे जो भिन्न-सा दिखाई देता है, वही "तत" है। यही परतत्व का पर्यायवाची प्रतीक है। इसीलिए परमेश्वरी को "तत्पद लक्ष्यार्था" (तत्-शब्द से अभिध्वंजित अर्थ वाली) कहा गया है। परमेश्वरी से बढ़कर कोई परम तत्त्व नहीं है। वही सत्तात्मक जगत् की सारभूत तत्त्वमयी है। "तत्त्व-मसि"—यह वेद वेदांत का सारभूत वाक्य है। "वही तुम हो"—यही समस्त वेदांत का सार है। इसमें तत् और त्वं (वह और तुम) एक ही सत्ता के दो नाम हैं। तत् परमार्थ है और त्वं उस अर्थ को अभिव्यक्त करने वाला पद है। कोई भी शब्द अपने में सार्थक या निरर्थक नहीं होता। मन की भावना और चित्त की चेतना शब्द को अर्थ प्रदान करती है। यही ईश्वरीय सत्ता सभी शब्दों को सार्थक बनाने वाली क्षमता रखती है।

शब्द और अर्थ ही सब कुछ नहीं है। शब्द जड़ है और अर्थ चेतन है। दोनों को जड़ चेतन की जागतिक परिधि से ऊपर उठाकर आनन्द लोक में पहुंचाने वाली शक्ति रसमयी में है। सभी शब्द और अर्थ रस की दशा तक पहुंच नहीं पाते। तदीय भावना से अनुप्राणित शब्दार्थ अलौकिक आनन्द प्रदान करते हैं। यही भाषा का रस-स्वरूप है। जीवन में भी सत् और चित् को आनन्द में परिणत करने की शक्ति परमेश्वरी में है। इसीलिए उनको "चिदेक रसरूपिणी" कहा गया है। चित् का आनन्द ही रस में बदल जाता है। चित्त का लक्षण ध्यान है। तत् की सत्ता पर तदेक भावना से मनन करने से वास्तविक तत्त्व का बोध हो जाता है। ध्यान से ज्ञान की सिद्धि होती है और ज्ञान से आनन्द की प्राप्ति होती है। आनन्द ही रस है और रस ही परमेश्वरी है।

रसमयी परमेश्वरी की अनुकंपा से आत्मा के भीतर जो आनन्द मिलता है उसका अनुमान लगाना कठिन है। अनुभव से ही उसको पहचाना जा सकता है। उसकी मात्रा संसार की समस्त मापन इकाइयों से अधिक है। कभी-कभी आनन्द की सीमा को व्यक्त करने के लिए "ब्रह्मानन्द" शब्द का प्रयोग किया जाता है। लेकिन आत्मानन्द की तुलना में ब्रह्मानन्द भी अत्यन्त साधारण-सा लगता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में विभिन्न प्रकार के आनन्दों की तुलना प्रस्तुत करते हुए मनुष्य आनन्द से सौ गुना गन्धर्व आनन्द, उससे भी सौ गुना देव गन्धर्व आनन्द, उससे भी सौ गुना अधिक पित्रानन्द, उससे भी सौ गुना अधिक अजानज देवानन्द, उससे भी सौ गुना अधिक कर्म देवानन्द, उससे भी सौ गुना अधिक देवानन्द, उससे भी सौ गुना अधिक इन्द्रानन्द, उससे भी सौ गुना अधिक बृहस्पति आनन्द, उससे भी सौ गुना अधिक प्रजापति आनन्द और उससे भी सौ गुना अधिक ब्रह्मानन्द बताया गया है। आनन्द की इस मीमांसा से पता चलता है कि मानव मात्र के साधारण लौकिक आनन्द की तुलना में ब्रह्मानन्द कितना अधिक है। इससे भी करोड़ गुना अधिक आत्मानन्द है। आत्मानन्द के अनुभवी आराधक अमृतत्व के सहज अधि-

कारी बन जाते हैं। इस अधिकार की प्रदात्री परमेश्वरी आनन्द संतति की जनयित्री हैं।

संसार में जो भी आनन्द मिलता है, वह चार स्थानों में अनुभव किया जाता है—नाभि, हृदय, कंठ और रसना। आनन्द की भावना इन्हीं चार स्थानों में बोल उठती है। साधारण आनन्द जीभ के माध्यम से मुखरित होता है। उससे कुछ सूक्ष्म स्वभाव का आनन्द कंठ तक सीमित रहता है। उससे भी परिष्कृत और परिमार्जित आनन्द हृदय में स्पंदित होता है और सबसे आंतरिक आत्मानन्द नाभि कमल में खिल उठता है और आत्मा के अमर द्वार को खुलवा देता है। आनन्द की इस चतुरंग योजना को सहस्रनाम का अगला श्लोक वाङ्मय परिभाषा में प्रस्तुत करता है :

परा प्रत्यक् चितीरूपा पश्यन्ती परदेवता।
मध्यमा वैखरी रूपा भक्त मानस हंसिका॥

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी मानव प्राणी की वाणी के चार रूप हैं। परा वाक् सबसे सूक्ष्म है जो नाभि में निवास करती है। उससे स्थूल रूप में पश्यन्ती हृदय में निवास करती है। उससे भी स्थूल रूप में मध्यमा वाक् कंठ में संचरित होती है। सबसे स्थूल और प्रकट रूप में वैखरी बनकर वाणी मुंह से निकलती है। इन चारों रूपों में वाग्देवता ही प्रकट होती है। साधारण व्यक्ति केवल वैखरी वाक् से परिचित होते हैं। कंठगत, हृद्गत अथवा नाभिगत वाणी उनको सुनाई नहीं देती है। यही अन्तर्वाणी है जिसमें प्रकट शब्दों से अधिक मधुरिमा निहित होती है और शाश्वत सत्य बोल उठता है। वाणी के इस पदक्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मुख विवर से नाभि तक वाणी का महत्व धीरे-धीरे बढ़ता जाता है, पर इस महत्त्व को हृदयंगम करने के लिए साधक को ऊर्ध्वमुख होकर चिन्तन करना पड़ता है। मुंह से निकलने वाली बात को केवल कान सुन सकते हैं और इसकी प्रक्रिया मुंह और कान

तक ही सीमित रहती है। लेकिन कंठ में संचरित होने वाली मध्यमा को समझने के लिए आंखों का सहारा आवश्यक होता है। कान जिस आवाज़ को पकड़ नही पाते हैं, उसको आंखें पलक बिछाकर अपनाती हैं। आंखों से बहुत कुछ बताया जा सकता है और बहुत कुछ समझा भी जा सकता है। नेत्रों की यह भाषा कृष्ण की गोपियां बहुत अच्छी तरह से जानती थीं। तभी तो रत्नाकर ने कहा था—"नेकु कही बैननि अनेक कही नैननि सों, रही सही सोउ कह दीनी हिचकीनि सों।" (गोपियां कृष्ण से बहुत कुछ कहना चाहती थीं, पर मुंह खोलकर कुछ नहीं कह सकीं, पर आंखों से बहुत कुछ कहा और जो कुछ कहने के लिए रह गया, वह हिचकिचाहट के माध्यम से कहा।) हिचकिचाहट की भाषा आंखों की भाषा से भी अधिक सूक्ष्म होती है और वही हृदय को स्पंदित करने वाली पश्यन्ती भाषा है। यह हृदय की भाषा है जिसे हृदय ही समझ सकता है। इन सबसे परे बारीक से बारीक, पर उज्ज्वल से उज्ज्वल वाणी परावाक् बनकर नाभि में प्रतिष्ठित रहती है जिसको समझने के लिए ध्यान को ललाट पर केन्द्रित करना पड़ता है। यह आम अनुभव की बात है कि जब हम किसी बात पर बड़ी गम्भीरता के साथ सोचने लगते हैं तो हमारी उंगली अनायास ललाट पर पहुंच जाती है। वही चिति या चेतना का केन्द्र है। सबसे नीचे की वाणी को सुनने के लिए श्रोता को सबसे ऊपर अपना ध्यान आकृष्ट करना पड़ता है। इसीलिए वह प्रत्यगात्मा की वाणी होती है। वाणी और मन का यह विचित्र क्रम परमेश्वरी की लीला का परिचायक है। वाणी का रहस्य जानने के लिए साधक को अन्तर्मुख होना पड़ता है। अपने भीतर के चिद् रूप में उसे वाणी के सर्वस्व का पता चलता है। यही रहस्य परा, प्रत्यक्, चितीरूपा, पश्यंती, परदेवता, मध्यमा और वैखरी रूपा—इन नामों में व्यंजित होता है।

इस श्लोक का अन्तिम नाम है—भक्त मानस हंसिका। योगसाधना के मर्मज्ञ वाणी के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में विद्यमान परदेवता को ललाट, रसना, कंठ, हृदय, नाभि आदि स्थानों में प्रत्यक्ष करने का

प्रयास करते हैं। लेकिन भक्तों के लिए यह सहज सुलभ बन जाता है। भक्त हृदय में परमेश्वरी परम हंस का रूप धारण कर स्वयं संचरण करती हैं। मानस-मराल बनकर माता जब अपने भक्तों को ममता का माधुर्य प्रदान करती हैं तो दुर्लभ से दुर्लभ वस्तु भी निर्मल मन के लिए हथेली का आंवला बन जाती है। देवी को यहां पर मानस-हंसिका कहा गया है। भक्तों के मन में विवेक पैदा करने का काम देवी करती हैं। क्या अच्छा है, क्या बुरा है, क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, यह सब निर्णय करने का भार हम परमेश्वरी पर छोड़ दें तो वही सही रास्ता दिखाती हैं। रास्ता तय करना हमारा काम है, सही रास्ता दिखाना परदेवता का दायित्व है। रास्ता वही सही है जो उनकी इच्छा से मिले।

---

१९. रहस्तर्पण तर्पिता

परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में प्रत्येक प्राणी के भीतर प्रतिष्ठित वाणी की वैविध्यपूर्ण और विवेकवर्द्धिनी रूप माधुरी का वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम के पिछले श्लोक में किया जा चुका है। इस रहस्यमय वर्णन के अन्त में वाग्देवी को "भक्त मानस हंसिका" कहा गया है। निर्मल मानस के उर्मिल जल में मंद-मंद विचरने वाली मराल-बालिका की तरह कलभाषिणी वाणी भक्तों के भावुक मन में कोमलता और मंजुलता का मधुमय स्वाद भी भर देती हैं और साथ-साथ असत् से सत् को अलग कर अपनाने का आलोकमय विवेक भी प्रदान करती हैं। इसीलिए माता को "हंसिका" कहा गया है। ध्यान देने की बात है कि देवी को हंस न कहकर हंसिका कहा गया है। इससे यह संकेत मिलता है कि इस हंसिका के साथ एक हंस भी है। वही परम हंस, परमात्मा या परम प्राण है जिसको स्पंदित करने वाली नाड़ी ही श्री ललिता हैं। हंस और हंसिका की इस जोड़ी का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत किया जाता है।

कामेश्वर प्राण नाड़ी कृतज्ञा काम पूजिता।
श्रृंगार रस संपूर्णा जया जालंधर स्थिता॥

मानव मन में प्रज्ञा का प्रकाश फैलाने वाला परम हंस ही कामेश्वर है जिसकी प्राण नाड़ी कामेश्वरी हैं। मानव का मन समस्त कामनाओं का निलय है। यह भावपुरी बाहर से दिखाई नहीं देती है, पर बाह्य जगत् को संचालित करती हैं। मन कीं भावना ही वाणी के

रूप में प्रकट होती है और वही क्रिया या आचरण का रूप धारण कर लेती है। वाणी सुनाई पड़ती है और आचरण दिखाई देता है, पर मन की भावना न सुनाई पड़ती है और न दिखाई देती है। किन्तु वही वाणी और क्रिया का प्रेरक और पालक है। इसी मन में तरह-तरह की कामनाओं को उपजाकर मनस्वी मानस को मनमाने ढंग से नचाने वाले स्वामी ही कामेश्वर हैं और उन्हीं की मूल शक्ति कामेश्वरी हैं। मन की अन्यान्य भावनाओं की तरह कामवासना भी कामेश्वर की प्रेरणा से ही जागरित होती है। इसलिए वह अमंगल नहीं हो सकती। धर्म-सम्मत काम मंगलमय होता है। कोई भी कामना अपने आप में अच्छी या बुरी नहीं होती, उसके पीछे की भावना पर उसकी अच्छाई या बुराई निर्भर रहती है। यही विवेक कामेश्वर और कामेश्वरी की कृपा से प्राप्त होता है। मन की समस्त भावनाओं में काम ही सबसे प्रबल, प्रमुख और प्राकृतिक है। वही विभिन्न अवस्थाओं में श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का रूप धारण कर सकता है। यह मनुष्य को देवता भी बना सकता है और राक्षस भी। कामेश्वर की कल्याण भावना से कामवासना भी उपासना का उदात्त रूप धारण कर सकती है। पर इतना तो निर्विवाद है कि काम अपने में अमोघ शक्ति है और यह शक्ति मानव शरीर के मूलाधार चक्र में कमर के आसपास कुंडलिनी बनकर प्रतिष्ठित रहती है। इसीलिए मूलाधार को शक्तिकूट कहा जाता है।

यद्यपि यह शक्तिकूट कमर के पास होता है, फिर भी इसका नियंत्रण ऊपर से होता है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नाम के छह चक्रों से ऊपर मानस-मंदिर में सहस्रार कमल के भीतर खुलकर खेलने वाली हंस-दम्पत्ति ही मूलाधार के इस शक्ति-कूट को संचालित करती है। इसी दम्पत्ति को आदि शंकराचार्य अपनी "सौन्दर्य-लहरी" में "हंस द्वंद्व" की संज्ञा देते है जो महात्माओं के मानस में पैठकर गुण-दोष की विवक्षा करते हुए हृदय-कमल को विकसित करने

में सहयोग प्रदान करता है। पानी को पानी और दूध को दूध अलग-अलग करके दिखाना हंसों की विशेषता है। लेकिन ये दोनों हंस स्वयं इस तरह मिले-जुले रहते हैं कि उनको अलग-अलग करना कठिन है। इसीलिए कामेश्वरी को कामेश्वर की प्राण नाड़ी कहा गया है।

मानव शरीर में मेरुदण्ड या रीढ़ की हड्डी को "ब्रह्मनाड़ी" कहा जाता है जिसके माध्यम से प्राण शक्ति मज्जा से मूलाधार तक संचरित होती है। प्राण शक्ति के इसी संचरण को भावनोपनिषद् देवी की परिक्रमा मानती है। मेरुदंड के मार्ग से संचरित होने वाली यही प्राणशक्ति कामेश्वरी है और इसका साक्षी है कामेश्वर। भावनोपनिषद् में संवित् या सही बोध को कामेश्वर कहा गया है। भावना या कामना मन में कैसे उठती है, इसका सही-सही और सम्यक् बोध होना संचरणशील और संसरणशील प्राणी के लिए सम्भव नहीं है। भावना के बारे में सोचना भी स्वयं एक भावना है। इसलिए सोचने वाला सोचने की प्रक्रिया पर सोच नहीं पाता जैसे सोने की इच्छा रखने वाला सोने की प्रक्रिया का विश्लेषण नहीं कर पाता। अगर सोने पर सोचते रहें तो सोना सम्भव नहीं हो पाता। जैसे सोने का अनुभव सोकर ही प्राप्त किया जा सकता है, वैसे ही भावना या कामना का रहस्य उसमें एकाकार होने पर ही प्रकट होता है। यही संवित् और संविदा का सम्बन्ध है जो कामेश्वर और कामेश्वरी के प्रतीक हैं। ध्यान और ज्ञान का भी लगभग यही सम्बन्ध है। ध्यान में लीन प्राणी ध्यान के माध्यम से ध्यान के आलंबन या ध्येय को प्राप्त करता है और जब ध्येय की प्राप्ति होती है तब ध्यान ज्ञान में बदल जाता है। ध्यान, ध्येय और ध्याता समेकित होकर ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता बन जाते हैं। यही शिव शक्ति का सामरस्य है जो इस श्लोक के पहले नाम—कामेश्वर प्राण नाड़ी—में व्यंजित होता है। जैसे शरीर और नाड़ियों में कोई अन्तर नहीं है वैसे ही कामेश्वर में और उनकी प्राण नाड़ी कामेश्वरी में कोई अन्तर नहीं है। जिस प्रकार

नाड़ियों के संचालन के बिना शरीर में कोई संचलन उत्पन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार परमेश्वरी के सहयोग के बिना परमेश्वर में स्पंदन तक उत्पन्न नहीं हो सकता।

संसार में काम कला या प्रेम लीला ही समस्त क्रियाओं का मूल है। इसलिए कामेश्वरी सबके कामों का मर्म जानती हैं, सबके कृत्यों का आशय समझती हैं। शरीर के मर-मिटने पर भी शरीर के द्वारा किया-कराया गया कर्म संसार में अमर बन कर रह जाता है और इसे अंकित कर रखती है भक्तमानस हंसिका कामेश्वरी। इसीलिए उनको "कृतज्ञा" कहा गया है। जो अच्छा काम किया जाता है, वही सुकृत बनकर जन्म-जन्मांतर तक जीव का साथ देता है। बुरा काम उसे नीचे गिरा देता है। इसका निर्णय कभी बाद में और कहीं दूसरी जगह नहीं होने वाला है। यह तत्काल होता है और शरीर के भीतर भावना लोक में उसी क्षण अंकित हो जाता है। मानव मन की प्रत्येक भावना क्रिया में परिणत हो जाती है और प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया भावना-जगत् में होती है। भावना, क्रिया और फिर भावना का यह चक्र निरन्तर चलता रहता है और इसी से कर्मजीवी मनुष्य का भविष्य बनता-बिगड़ता रहता है। कर्म से ही मनुष्य बनता है, कर्म में ही पलता है और उसी कर्म में वह लीन होता है। कर्म-जगत् को संचालित करने वाले मानस हंस का रहस्य जब मनुष्य को मालूम हो जाता है, तब फिर कर्म का बन्धन उस पर लागू नहीं होता। इसलिए कहा गया है—"मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः" (मन ही मनुष्य के बंधन और मोक्ष का कारण है)। चांदनी की तरह समस्त आकाश को चमकाने वाले मानस कासार में बिना बादल की बिजली जैसी शोभा से आलोकित हंस युगल की देखरेख में ही मनुष्य की मानसिक, वाचिक और कायिक जीवन लीला चलती है। हम जो कुछ सोचते हैं, बोलते हैं और करते हैं, यह सब उस हंस युगल से छिपा नहीं रह सकता। वे सब कुछ देखते हैं और जो कुछ किया जाता है, उसका विधिवत् फल दिलाते हैं।

इसलिए देवी को यहां "कृतज्ञा" कहा गया है। कृतज्ञता में केवल साक्षी-भूत निरीक्षण की भावना ही नहीं, बल्कि शुभाशुभ कर्म का विधायन और गुण-दोष का निर्णय भी निहित है। ईश्वरीय भावना से किया गया कर्भ कभी निष्फल नहीं जाता। सत्कर्म का परिणाम सुखद होता है और दुष्कर्म का दुखद। इसीलिए प्रत्येक आचरण को परमेश्वरी के चरणों में समर्पित करके ईश्वरीय भावना से काम करने में ही श्रेय है।

अगला नाम है—"काम पूजिता"। कामदेव कामेश्वरी की पूजा करता है। कामेश्वरी की कृपा से ही कामदेव जीवित है। कामेश्वर ने जब कामदेव के शरीर को भस्म कर दिया था तो कामदेव की अर्द्धांगिनी रति ने पार्वती से पति को भिक्षा माँगी। पार्वती के अनुरोध पर परमेश्वर ने कामदेव को अशरीरी अस्तित्व प्रदान किया था। इसीलिए कामदेव को अनंग कहा जाता है। इसी कृतज्ञता की भावना से कामदेव कामेश्वरी की पूजा करता है। वास्तव में कामदेव ही संसार में सृष्टि, स्थिति और लय का बीज बोता है। इसलिए मंत्र शास्त्र के ज्ञाता काम शब्द में ककार (ब्रह्मा), अकार (विष्णु) और मकार (महेश्वर) का संयोग देखते हैं। इस दृष्टि से "कामपूजिता" का मतलब होगा—ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के द्वारा पूजित या आराधित। वास्तव में मूलाधार में स्थित ब्रह्मग्रंथि, मणिपूर में स्थित विष्णुग्रंथि और आज्ञाचक्र में स्थित रुद्रग्रंथि का विमोचन काम की धर्म सम्मत भावना या उपासना से ही सम्भव होता है। मूलाधार का काम नाभि में नाद का रूप धारण करता है और नाभि से निकला नाद या नाम जिह्वा पर पहुंचकर मुखरित होता है और यही नाम दोनों भौंहों के बीच भाल भाग पर केन्द्रित होकर प्रणवनाद-ओंकार-में परिणत हो जाता है। इस प्रकार काम, नाम ओम् का आधार काम ही है जिसकी अधिष्ठात्री देवी कामेश्वरी इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों के मार्ग में मूलाधार से सहस्रार तक संचरित होती रहती है।

मानव जीवन में आनन्द के दो प्रधान साधन हैं—प्रणय और प्रणव। प्रणय वासना की ओर प्रवृत्त होता है और प्रणव उपासना की ओर। दोनों में पांच भौतिक प्राणी अपने आपको भूलकर आनन्द लोक में विचरण करने लगता हैं। प्रणय का आनन्द क्षण भंगुर होता है जबकि प्रणव का आनन्द स्थायी, अखंड और आत्मबोधक होता है। दोनों में मनुष्य का मन रममाण होता है। दो का एक होना ही दोनों का समान लक्षण है। इसीलिए इसको रति या शृङ्गार की संज्ञा दी जाती है। कामदेव को पंचबाण कहा जाता है। उनके पांचों बाण पांचभौतिक प्राणी को फूल जैसे लगते हैं। ये बाण तोड़ते नहीं, जोड़ते हैं। लौकिक भाव भूमिका में जिस प्रकार कामदेव के बाणों से स्त्री और पुरुष का तन-मन एक बन जाता है, उसी प्रकार अलौकिक या आध्यत्मिक भाव भूमिका में कामेश्वरी की कृपा से जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है। दोनों प्रेम के ही दो विभिन्न रूप है। दोनों में शृंगार की भावना है। अलौकिक शृंगार अक्षय होता है। इसी अक्षय शृंगार का भंडार कामेश्वरी की कमनीय रूप माधुरी के कण-कण में भरा पड़ा है इसीलिए उनको "शृंगार रस संपूर्णा" कहा गया है। जहां देवी की दृष्टि फैल जाती है, वहां शृंगार ही शृंगार दिखाई देता है, सौंदर्य ही सौंदर्य लहर उठता है, रस ही रस बरस पड़ता है। वह रसमयी है, शृंगार की मूर्ति हैं और परिपूर्णता की प्रतिमूर्ति हैं। संसार में जो भी प्रेम, सौंदर्य और आनन्द दिखाई देते हैं, वे परमेश्वरी की अलौकिक प्रेमभावना, असाधारण शोभा और अपरिमेय आनन्द के प्रतिरूप हैं।

मां ललिता के उपर्युक्त चार नामों में कामेश्वर और कामेश्वरी की कमनीय रूप माधुरी का वर्णन किया जा चुका है। काम की यही कमनीयता नाम की मननीयता के माध्यम से उसी का संबल लेकर राम की रमणीयता में परिणत हो जाए, यही मानव जीवन की चरितार्थता और चरम ध्येय है। यहां तक काम कोटि के भावना-पीठ का वर्णन हैं।

आगे दो पीठ और हैं—ध्यान पीठ और ज्ञान पीठ। इन दोनो का आधार यही भावना-पीठ है। इसलिए सबसे पहले इसका उल्लेख किया गया है। "काम धरा की कोटि नहीं है, कोटि काम आराध्य धरा का"—यही काम कोटि के भावना-पीठ का संदेश है।

दूसरा पीठ ध्यान पीठ है जो नाम या नाद की महिमा पर आधारित है। इसी को जालंधर पीठ भी कहा जाता है। यह अनाहत चक्र के पास स्थित है और (अनहद) नाद से पुष्टि प्राप्त करता है। इस जालंधर पीठ पर देवी का जो रूप विराजमान होता है, वही "जया" है। इस श्लोक के अन्तिम दो नाम—ज़या और जालंधरस्थिता—इसी पीठ का वर्णन करते हैं। कामकोटि का भावना-पीठ शक्तिकूट में स्थित है तो जालंधरवासिनी जया का ध्यानपीठ मध्यकूट में प्रतिष्ठित है। शक्तिकूट में नाद आहत (दबा हुआ) होता है जबकि मध्यकूट में वक्षस्थल तक पहुंचकर वह अनाहत बन जाता है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि इस अवस्था पर काम पर नाम की विजय होती है। इसीलिए यहाँ पर प्रतिष्ठित देवी को "जया" कहा गया है। नश्वर शरीर में निहित अविनश्वर आत्म तत्व यहीं अनाहत जय जयकार से अभिनादित होने लगता है। जय की भावना अक्सर हृदय को प्रफुल्ल बना देती है। इस प्रकार जय की भावना से प्रफुल्ल हृदय ध्यान का निश्चल केंद्र बन जाता है। आत्मयोगी अपने अलौकिक आत्मवैभव का ध्यान अपने हृदय में ही करते हैं। अक्सर हम समझते हैं कि हम अपनी आँखें बन्द करके ही अन्दर ही अन्दर अपने आराध्य का ध्यान करते हैं। पर वास्तव में हमारी दाहिनी आँख में 'इंध' नाम का पुरुष होता है और बाईं आँख में उनकी 'अन्न' नाम की स्त्री होती है। ये दोनों स्वप्न और ध्यान की अवस्था में हृदय में जाकर मिलते हैं। इन दोनों के संयोग से सूक्ष्म शरीर को आराम मिलता है। स्वप्न में जो आराम मिलता है, उसके समाप्त होते ही यह जोड़ी फिर आँखों में आ जाती है और आँखें खुल जाती हैं। लेकिन

ध्यान या समाधि में जो आनन्द मिलता है, उस से यह जोडी हृदय से ऊपर निकलने वाली एक नाड़ी के माध्यम से ब्रह्म रंध्र में पहुंच जाती है जहां से अमृत की धारा बहती है। अमृतसर का यह अमृतरस आदमी को अमरत्व प्रदान करता है। इस साधना का केन्द्र हृदय है। इसी को अनाहत चक्र या जालंधरपीठ कहा जाता है। इसी को ध्यान-पीठ माना जा सकता है। जया इसकी अधिष्ठात्री देवी है। इस दशा पर पहुँचने के बाद साधक की विजय अवश्यंभावी है।

मूलाधार के भावना-पीठ और अनाहत पीठ से परे एक और पीठ है जिसको योगशास्त्र में ओड्याण पीठ कहा जाता है। इसी का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

ओड्याण पीठ निलया बिंदु मंडल वासिनी।
रहोयागक्रमाराध्या रहस्तर्पण तर्पिता॥

ओड्याण पीठ प्राणों का कूट है जो दोनों आंखों के ऊपर भौंहों के बीच में ललाट की ओर फाल भाग में स्थित है। यही आज्ञा चक्र का स्थान है। यहीं पर रुद्र ग्रंथि है। यही ज्ञान पीठ है जो कि भावना और ध्यान को सफल और सार्थक बना देता है। कुछ लोग इसको शक्ति कूट भी कहते हैं। वास्तव में मूलाधार का शक्ति कूट विशुद्धि चक्र के वाग्भवकूट से जुड़ा हुआ है। मेरु तंत्र के अनुसार कांची का काम कोटि पीठ देवी का नाभि स्थान है और इसी को वाग्भवकूट भी कहा जाता है। जो भी हो, मूलाधार वाणी और वासना दोनों का केन्द्र है और वहीं से ध्यान और ज्ञान का आधार बनता है। आज्ञा चक्र में जो ओड्याण पीठ है, वह प्रमुख रूप से ज्ञान का केन्द्र है और गौण रूप से ध्यान देने के लिए भी महत्वपूर्ण स्थान है। वास्तव में यही ध्यान और ज्ञान का संगम स्थल है जहां पर ध्यान की साधना ज्ञान की सिद्धि में बदलने लगती है। इसलिए इसको ध्यान और ज्ञान की "मिलन बिन्दु" माना जाता है।

स्त्रियाँ अपने ललाट पर जो बिन्दी लगा लेती हैं, वह इसी बिन्दुस्थल के पास है। बहुत से साधक भी अपने चेहरे पर इसी स्थान पर टीका लगा लेते हैं। यह कई तत्वों की मिलन-बिन्दु है, केवल ध्यान और ज्ञान की नहीं। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का भी यह संगम है। प्रकृति और पुरुष का भी यह मिलन-प्रांतर है। इसीलिए इसको 'बिन्दुमंडल' कहा गया है। ओड्याण पीठ या ज्ञान पीठ की अधिष्ठात्री देवी इसी बिन्दु मंडल में रहती हैं। यह बिन्दु नाद और कला का भी संगम स्थल है। मूलाधार नाद का उद्गम स्थान है जहाँ पर वह बिल्कुल सुप्त दशा में निद्राण रहता है। नाभि से यह नाद सजग होने लगता है और जीभ तक आकर प्रकट हो जाता है। अनाहत चक्र इस नाद के लिए बीच का पड़ाव है। यह सारा नाद आज्ञा चक्र में बिन्दु का रूप धारण करता है जो सहस्रार चक्र में जाकर सोलह कलाओं के रूप में विकसित होता है। नाद, बिन्दु और कला वाग्देवी के तीन नेत्र हैं जिनमें बिन्दु सुन्दर संधि के रूप में काम करती है। नाद का समाहार बिन्दु में होता है और उसका विकास कला में होता है। लेकिन ये तीनों रूप सबकी समझ में नहीं आते। साधारण व्यक्ति केवल नाद को पहचान सकता है, बिन्दु की कल्पना करना इने-गिने कुछ पहुंचे हुए लोगों के लिए ही संभव है। यहां से आध्यात्मिक रहस्य का अन्तःपुर आरम्भ होता है जहां पर सबकी पहुंच नहीं होती।

इसी रहस्य की ओर इस श्लोक के अन्तिम दो नाम संकेत करते हैं। पहला नाम है—रहोयाग क्रमाराध्या। मूलाधार की कामना, अनाहत का ध्यान और आज्ञाचक्र का ज्ञान क्रमशः कामकोटि जालंधर और ओड्याण पीठों के द्योतक हैं। इनकी भावना केवल रहस्यमयी साधना के द्वारा ही संभव है। भावनोपनिषद् में इसी को मानसिक पूजा कहकर इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। बाहर की भौतिक आराधना से भीतर की यह आध्यात्मिक साधना अधिक महत्वपूर्ण और तत्काल फल

प्रदान करने वाली होती है। पर साधक को इस रहस्य को समझने की योग्यता होनी चाहिए। उदाहरण के लिए बाहर और भीतर एक ही अखंड चेतना के विस्तार को हृदयंगम करना ही इस मानसिक पूजा में देवी को उचित आसन पर प्रतिष्ठित करना है। शिव और शक्ति के सामरस्य को समझना ही देवी के पैर धोना है। प्रत्येक अंग में परम सत्ता के अवतरण का अनुभव करना ही आचमन है। बाहरी प्रलोभनों से दूर रहकर सबमें निर्लिप्त भावना का अभ्यास करना ही फूल चढ़ाना है। सांस रोकना ही नैवेद्य है। प्राणशक्ति का स्वायत्त संचारण ही परिक्रमा है। परमेश्वरी के पावन चरणों में अपने को सर्वात्मना समर्पित करना ही सच्चा ध्यान है। ध्यान की इस अवस्था में तीन क्षण बिताने मात्र से ज्ञान की सिद्धि हो जाती है। यही रहस्यमयी साधना रहोयाग नाम से जानी जाती है। देवी की सच्ची उपासना का यही सही क्रम है। इसी से देवी सन्तुष्ट होती हैं। इसी लिए देवी को "रहस्तर्पण तर्पिता" कहा गया है जो कि इस श्लोक का अन्तिम नाम है।

चाहे कूटत्रय के रूप में हो, या पीठत्रय के रूप में, देवी की आराधना में रहस्य की भावना अनिवार्य रूप से निहित है। वासना और उपासना दोनों में रहस्य छिपा हुआ है। पहला रहस्य सीमित प्रयोजन को लेकर चलता है जबकि दूसरा असीम, अखंड और अलौकिक आनन्द की सिद्धि में सहायक होता है। इसी रहस्य की ओर संकेत करते हुए आचार्य शंकर कहते हैं—"सह रहसि पत्या विहरसि"।

---

२०. श्रीकंठार्द्धशरीरिणी

परा प्रकृति और परम पुरुष के रहस्यमय संगम का समाहित समीक्षण ही संसार की समस्त सात्विक साधना का सार है। लौकिक प्रेम में इसका शुद्ध पार्थिव रूप दिखाई देता है। प्रेम पार्थिव हो या अपार्थिव, रहस्य और एकांत की भावना दोनों में अपेक्षित होती है। एकांत में प्रेम का फूल खिलता है और ध्यान का द्वार खुलता है। प्रेम का पार्थिव रूप ही काम है और अपार्थिव या आध्यात्मिक रूप ही ध्यान है। लौकिक प्रेम में शरीर से मन का मिलन होता है और आध्यात्मिक प्रेम में मन का आत्मा से संयोग होता है। पहला शारीरिक होता है और दूसरा अशरीरी या आत्मिक होता है। शारीरिक मिलन से मिलने वाला आनन्द क्षणभंगुर होता है और अशरीरी या आत्मिक संयोग से शाश्वत और अखंड आनन्द की प्राप्ति होती है। लौकिक प्रेम मनुष्य को अन्धा बना देता है जबकि आध्यात्मिक रति में आराधक को आत्मा का अनन्त आलोक दिखाई देता है। लौकिक प्रेमी को सब लोग देखते हैं, पर वह किसी को देख नहीं पाता। लेकिन आत्मा के प्रेमी को सब कुछ दिखाई देता है, पर उसे कोई नहीं देख पाता। लौकिक प्रेम में शरीर का सुख भोगने के लिए मन वासना का सहारा लेता है जबकि आध्यात्मिक प्रेम में आत्मा का आनन्द पाने के लिए मन उपासना का आश्रय लेता है। वासना और उपासना दोनों तत्काल फल प्रदान करने वाली होती हैं। उपासना को सफल बनाने वाली मां ललिता का वर्णन सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है :

सद्यः प्रसादिनी विश्व साक्षिणी साक्षिवर्जिता ।
षडंग देवता युक्ता षाड्गुण्य परिपूरिता ।।

परमेश्वरी भक्त की भावना को बड़ी आसानी से पहचान लेती हैं और सच्चे दिल की सही पुकार सुनते ही वह प्रसन्न हो जाती हैं। अशोक वन में सीता माता की रखवाली करने वाली असुरांगनाओं से उनमें एक प्रबुद्ध नारी त्रिजटा कहती है कि मिथिला के राजा जनक की बेटी जानकी अपने चरणों की शरण लेने वाले प्रत्येक प्राणी पर तुरन्त प्रसन्न हो जाती हैं—"प्रणिपात प्रसन्ना हिं मैथिली जनकात्मजा।" इसमें तत्काल प्रसन्न होने वाली परदेवता की ओर संकेत है। देवी को प्रसन्न बनाने के लिए 'प्रणिपात' की भावना बहुत आवश्यक है। श्रीदेवी के श्रीचरणों में अपना सर्वस्व समर्पित करने की सात्विक भावना ही प्रणिपात की प्रक्रिया में अपेक्षित होती है। शरीर के सभी अंगों में चरण सबसे पवित्र होते हैं। इसीलिए बडों के पर छूना मंगलकर माना गया है। जब लौकिक जीवन में ही चरण स्पर्श की इतनी महिमा बताई गई है तब आध्यात्मिक भावना से परमात्मस्वरूपिणी परदेवता के पावन चरणों की वंदना करने से उनके तत्काल प्रसन्न होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसीलिए मां ललिता को यहां "सद्यः प्रसादिनी" कहा गया है। चरणों का स्पर्श करने मात्र से वह तत्काल प्रसन्न अवश्य होती है। पर समस्या केवल यही है कि उनके चरण हमारे हाथ लगें कैसे? कम से कम हमारी आंखों के सामने वे पैर दिखें?

इस प्रश्न का उत्तर मां ललिता के अगले दो नाम प्रस्तुत करते हैं। इनमें से पहला नाम है—विश्व साक्षिणी और दूसरा नाम है—साक्षि-वर्जिता। वह समस्त विश्व को देखती हैं, पर उनको देखने वाला संसार में कोई नहीं है। अगर कोई देख पाता है तो वह सबको दिखाई नहीं देता। यहां पर देखने की जो बात चल रही है, वह केवल लौकिक दृष्टि नहीं है जो भौतिक नेत्रों से सम्भव है। यह भौतिक वस्तुओं के पीछे

छिपी हुई आध्यात्मिक, अलौकिक और अविनश्वर सत्य का साक्षात्कार करने की दिव्य दृष्टि है जो देखते हुए भी कई चीजों को नहीं देखती है और न देखते हुए भी हर चीज़ को अपने अन्दर ही अन्दर देख पाती है। यही दिव्य दृष्टि भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को प्रदान की थी। यही दृष्टि भगवती के भव्य चरणों को देख पाती हैं। हमारी आंखें बाहर की ओर खुली हुई हैं। इसलिए उनको बाहर की चीजें ही दिखाई देती हैं। इस दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाने से बाहर के सौंदर्य से कई गुना श्रेष्ठ भीतर का सौंदर्य दिखाई देने लगेगा। लेकिन अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी बनाने के लिए आत्म संयम और आराधना की भावना चाहिए। इसी को ध्यान उपासना आदि की संज्ञा दी जाती है। सामान्य मानव के लिए यह कैसे सम्भव है ? इस पर सोच-विचार कर मनस्वी महर्षियों ने "मन्त्र" का आविष्कार किया है। मन्त्र केवल अक्षर, शब्द या वाक्य नहीं है। मनन के माध्यम से मन को आत्मा की ओर ले जाने वाले और आत्मा की अलौकिक आभा दर्शाने वाले पथ प्रदर्शक ही मन्त्र हैं। इसीलिए ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा कहा गया है। मन्त्र देखने की चीज़ हैं, केवल बोलने या सुनने की नहीं है। वास्तव में सुनने या देखने की क्रिया जितनी कम हो जाती है, उतनी ही देखने की प्रवृत्ति—विशेषकर आंतरिक विभूति देखने की क्षमता—बढ़ जाती है। इसीलिए हमारे यहां मन्त्र को गुप्त रखने का विधान है। मन्त्र के माध्यम से मां ललिता की ममता प्राप्त करने का मार्ग प्रस्तुत श्लोक में बड़ी रहस्यात्मक और मार्मिक शैली में दर्शाया गया है।

मंत्र का फल अचानक नहीं, बल्कि धीरे-धीरे मिलता है। साधना जितनी आगे बढ़ती है, उतना आंतरिक आनन्द मिलता है और इसी से देवी का प्रसन्न होना सूचित होता है। वह अपनी प्रसन्नता को प्रकट करने में पल भर भी विलम्ब नहीं करती हैं। साधना के अनुरूप फल तत्काल मिल जाए, इस बात को सुनिश्चित करने में माँ ललिता बहुत

ही तत्पर रहती हैं। इसीलिए उनको "सद्यः प्रसादिनी" कहा गया है। बच्चे की पुकार सुनते ही माँ दौड़ कर चली आती है और बच्चे को गोद में लेकर उसको जितनी भूख लगती है, उतना दूध पिलाती है। यही श्रीमाता की भी प्रवृत्ति है।

मंत्र से मन की आँखें खुलती हैं। भीतर के ध्यान-पीठ पर बैठे-बैठे ही मनस्वी साधक बाहर का सारा ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसमें मां ललिता बहुत मदद करती है। वह विश्व साक्षिणी हैं, समस्त संसार पर उनकी दृष्टि फैली रहती है। लेकिन सबको देखने वाली सर्वेश्वरी को कोई नहीं देख पाता। इसीलिए वह साक्षिवर्जिता हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि उनको कोई भी नहीं देख सकता। देखने वाले जरूर है, पर बहुत कम, करोड़ों में एक। इन्हीं को मंत्र द्रष्टा कहते हैं। मंत्र द्रष्टा ही सत्य द्रष्टा होते हैं। उनकी दृष्टि में सारा संसार सश्रीक है, श्री देवी की सर्वव्यापिनी शोभा से परिपूर्ण है।

इसी परिपूर्णता की ओर सहस्रनाम के अगले दो नाम संकेत करते हैं। पहला नाम है—षडंग देवता युक्ता। पहले बताया जा चुका है कि वाणी ही देवी हैं—चाहे वह मुखर हो या मौन। मंत्र की वाणी मौन होती है, फिर भी वाणी के सभी लक्षण, अवयव और परिणाम उसमें विद्यमान होते हैं। मानव शरीर में वाणी के छह उद्‌गम स्थान हैं—कंठ, तालू, मूर्द्धा, दंत, ओष्ठ और नासिका। इन्हीं स्थानों से सभी स्वर और व्यंजन निकलते हैं और ये ही मंत्ररूपिणी माता की परिचर्या करने वाली अंग देवताएं हैं। वैसे प्रत्येक मंत्र के छह अंग होते हैं—ऋषि, छंद, देवता, बीज, शक्ति और कीलक। इन सब के साथ ही किसी भी मंत्र का विनियोग होता है। इस दृष्टि से भी देवी को षडंग देवताओं से युक्त बताया गया है। इसके अलावा प्रत्येक मंत्र के विनियोग के पहले अंगन्यास और कर न्यास की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। मंत्र के विभिन्न

भागों को शरीर के छह भागों में विन्यस्त करना ही अंगन्यास कहा जाता है। हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र और अस्त्र ये ही छह अंग हैं। इनमें से प्रत्येक अंग में मंत्र का न्यास करते समय नमः, स्वाहा, वषट्, हुं, वौषट् और फट् नाम के छह प्रकार के सांकेतिक शब्दों का भी उच्चारण किया जाता है। इसी प्रकार अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका नाम की पांच उंगलियों के साथ साथ हथेली को भी सम्मिलित कर प्रत्येक मंत्र का करन्यास किया जाता है। इससे सारी मंत्र शक्ति साधक के अंगांग में आ जाती है। इस प्रकार मंत्र के माध्यम से मनन करने वाले मनीषी भी मंत्र में उद्दिष्ट देवता बन जाता है। वास्तव में मंत्र ही देवता है और मनन से मानव मंतव्य में एकाकार हो जाता है। श्री राधा की आराधना के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह माधव-माधव कहते-कहते स्वयं माधव बन जाया करती थी। यही महिमा प्रत्येक मंत्र के साथ है।

संस्कृत में कहा जाता है—"कृषितो नास्ति दुर्भिक्षं जपतो नास्ति पातकम्"। खेती करने से अकाल की आशंका नहीं रहती है और मंत्र का जाप करने से पाप का भय नहीं रहता। मंत्र की महिमा से मन में अच्छे-अच्छे लक्षण आ जाते हैं। आदमी गुणवान् बन जाता है। गुणवत्ता मानव का सबसे महान् लक्षण है। तपस्वी वाल्मीकि महर्षि नारद से आदर्श मानव के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करते हुए सबसे पहले पूछते हैं—"आजकल गुणवान् व्यक्ति कौन है ?" गुण शब्द में संसार की सारी भलाई आ जाती है। इसी आशय को लेकर प्रस्तुत श्लोक के अन्त में देवी को "षाड्गुण्य परिपूरिता" कहा गया है। देवी में सभी गुण हैं, यह बताने के लिए छह की संख्या प्रतीकात्मक रूप से कही गई है। "छहों गुण" कहने से सभी अच्छें गुण—यही मतलब निकलता है। वैसे किसी दैवी सत्ता के छह गुण माने जाते हैं—कीर्ति, समृद्धि, संपत्ति, विवेक, वैराग्य और धार्मिकता। "गुण" शब्द का मतलब धागा या

रज्जु भी होता है। परमेश्वरी सभी प्राणियों को अपनी ओर खींच लेती है—इन्हीं गुणों के माध्यम से। मानव शरीर में मूलाधार से लेकर आज्ञा तक जो छह चक्र हैं, इनमें भी परमेश्वरी के विशेष गुण विद्यमान हैं। संगीत के सात स्वरों में छह मूल स्वर हैं और पहला स्वर बाकी छह का समाहार है। इसीलिए उसको षड्ज (छह से उत्पन्न) कहा जाता है। यह मोर की आवाज से मिलता जुलता स्वर है। मोर शिव कुमार स्कंद का वाहन माना जाता है। स्कंद को भी षडानन (छह मुख वाला) माना जाता है। इससे यहाँ पर देवी के गुणों के संदर्भ में छह की संख्या का हवाला देने में व्यंजना की गहराई प्रकट होती है। वैसे कालचक्र की संवत्सर गति में प्रवर्तमान ऋतुओं की संख्या भी छह है। मीठा, नमकीन आदि रस तथा भैरव, मल्हार आदि राग भी संख्या में छह हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा को भी षड्दर्शन की संज्ञा दी जाती है। शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छंद, व्याकरण और ज्योतिष को वेद के छह अंग माना जाता है। इस प्रकार षट् (छह) संख्या में अनेक प्रकार के गुण शामिल हैं। षट् शब्द भी बहुत विचित्र है। वास्तव में शब्द "षष्" है। दो मूर्द्धन्य ध्वनियों के जोड़ से यह शब्द बनता है और वषट् शब्द का प्रयोग मंत्र शास्त्र में बार बार किया जाता है। श्री विष्णु सहस्रनाम में भगवान को "वषट् कार" कहा गया है। "व" अक्षर मंगलकर माना जाता है। छह बार "व" कार की आवृत्ति करने से भी "वषट् कार" सिद्ध होता है। इस प्रसंग में यह ध्यान देने की बात है कि कालिदास ने अपना रघुवंश और गोस्वामी तुलसीदास ने अपना रामचरितमानस "व" कार की आवृत्ति से ही आरम्भ किया है और ध्यान से देखने पर कालिदास के वाग्विलास में यह आवृत्ति छह बार दिखाई देती है। इस प्रकार "षट्" संख्या में संसार के समस्त गुणों का समाहार दिखाई देता है जो भगवती की भव्य मूर्ति में साकार बन जाते हैं। मंत्रात्मिका देवी में सभी गुण विद्यमान

हैं। इसीलिए उनको षाड्गुण्य (छह गुणों के समाहार) से परिपूर्ण बताया गया है।

श्रीमाता की इस गुणवत्ता का वर्णन अगले श्लोक में भी चलता है :

नित्यक्लिन्ना निरुपमा निर्वाण सुख दायिनी।
नित्या षोडशिका रूपा श्री कंठार्द्ध शरीरिणी ॥

"नित्यक्लिन्ना" शब्द में देवी की निरन्तर रसार्द्रता प्रकट होती है। वह दयामयी हैं। देवी की मुखमुद्रा में समस्त चराचर जगत् के प्रति निर्हेतुक करुणा या दया भावना निरन्तर दिखाई देती है। उनका चेहरा कभी सूखा या रूखा नहीं दिखाई देता। अन्यत्र देवी को करुणा-तरंगिताक्षी कहा गया है। वह सिर से पैर तक करूणा की तरंगों से लहराती हुई दिखाई देती हैं और विशेष कर उनकी आँखों में करुणा की लालिमा झलकती है। "नित्यक्लिन्ना" एक देवी का भी नाम है। प्रथमा से लेकर पूर्णिमा तक की जो तिथियां हैं, ये चन्द्रमा की कलाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। पन्द्रह तिथियों के बाद चन्द्रकला का परिपूर्ण रूप प्रकट होता है और यही षोडश कला है। इन सोलह कलाओं को नित्या नाम की संज्ञा दी गई है और इनको देवता माना गया है। इन नित्याओं में तीसरा स्थान "नित्यक्लिन्ना" को दिया गया है। तीज का त्यौहार बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। वैशाख शुक्ला तृतीया अक्षय तृतीया कहलाती है। नित्यक्लिन्ना नाम की देवी इसी तीज की अधिष्ठात्री हैं। इसलिए श्रीमाता को नित्यक्लिन्ना कहने में लौकिक अर्थ भी है और साथ-साथ मांत्रिक अर्थ भी।

अगला नाम है—निरुपमा। माता की उपमा और किसी से नहीं की जा सकती। इसलिए वह निरुपमा है। लौकिक जीवन में भी मां का स्थान और कोई स्त्री नहीं ले सकती। बहन हो, भाभी हो, पत्नी

हो, मौसी हो, बुआ हो, नानी हो दादी हो—कोई भी मां का प्यार नहीं दे सकती। मां केवल मां ही बन सकती है। इसीलिए यक्ष के प्रश्न के उत्तर में धर्मराज कहते है कि संसार का एकमात्र सत्य मातृत्व है। इस दृष्टि से मां ललिता को निरुपमा कहना सर्वथा समीचीन और सार्थक है।

इतनी प्यारी मां आखिर जीवन में हमको क्या देती है ? जन्म देती है, दूध देती है, अक्ल देती है, अपना सर्वस्व देती है और अपने में समा लेती है। यही श्रीमाता भी करती हैं। जैसे मां अपनी संतान को अपने गर्भ में स्थान देती है और निश्चित होकर सहज भाव से अपना काम-काज सम्भाल लेती है, वैसे ही श्रीमाता अपने भक्तों को अपनी सन्तान के समान पालती-पोसती और अन्त में अपने ही अन्दर समा लेती हैं। इसी को निर्वाण कहते हैं। जहां से आए, वहीं पहुंचना निर्वाण है। साधारण निधन में भी लगभग यही होता है। पर मर कर आदमी फिर जी सकता है, जबकि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति संसार में फिर वापस नहीं आता। वह अपने उद्गम और गम्य दोनों को पहचानता है। इसलिए वह केवल जाता है, फिर आता नहीं। इस प्रकार की सद्गति प्रदान करने वाली माता को यहां निर्वाण सुख दायिनी कहा गया है।

अगले नाम में फिर नित्या देवताओं का उल्लेख मिलता है। कामेश्वरी से लेकर महात्रिपुर सुन्दरी तक की जो सोलह नित्यायें हैं, वे सब परमेश्वरी के ही रूप हैं। वह स्वयं महानित्या हैं या सोलह कलाओं से युक्त षोडशी हैं। षोडश शब्द और सोलह की संख्या सौंदर्य और शोभा की प्रतीक है। कहा जाता है कि सोलह साल की अवस्था में कौआ भी परी की सुषमा से जगमगाता है। श्री ललिता हमेशा सोलह साल की तरुणी की तरह सोलह कलाओं से विभूषित होती हैं।

तभी तो वह अपने पति श्रीकंठ का कंठहार बनकर उनके शरीर में आधा हिस्सा लेकर स्वाधीन पतिका की सहज प्रतिष्ठा से सम्मानित

और पुलकित होकर उन्हीं की गोद में बैठी रहती हैं। इसीलिए उनको "श्री कंठार्द्धशरीरिणी" कहा गया है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से पांच भौतिक जगत् का प्रचरण और प्रसरण होता है। अन्यथा हवा में पत्ता तक नहीं हिल सकता। शिव और शक्ति का सामरस्य हो जीवन का रहस्य है।

---

२१. अप्रमेया स्वप्रकाशा

संसार में प्रत्येक प्राणी प्रकृत्या प्रकाश का प्रेमी होता है क्योंकि उसके भीतर सहज रूप से प्रेम का प्रकाश विद्यमान होता है। भौतिक जगत् में प्रकाश का जो स्थान है, लगभग वही स्थान मानव जगत् में प्रेम का है। प्रेम ही मानव जीवन का प्रकाश है जो उसे मानवता के धरातल से ऊपर उठा कर दिव्य जगत् के आलोकमय अस्तित्व से संपृक्त कराता है। जन-जीवन के पांच लक्षण हैं—अस्ति, भाति (प्रकाश), प्रियम् (प्रेम) नाम और रूप। इनमें नाम और रूप जीव लक्षण हैं और पहले तीन-अस्तित्व, प्रकाश और प्रेम—दिव्य जीवन की विशेषताएं हैं। इसलिए नाम रूपात्मक जगत् को चिरंतन अस्तित्व प्रदान करने वाले दो प्रधान तत्त्व हैं—प्रकाश और प्रेम। इन्हीं को शिव और शक्ति के प्रतिरूप मानना समीचीन लगता है। इसी मान्यता को लेकर श्री ललिता सहस्रनाम का अगला श्लोक परमेश्वरी को प्रकाश के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करता है :

प्रभावती प्रभारूपा प्रसिद्धा परमेश्वरी।
मूल प्रकृतिरव्यक्ता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी॥

इस श्लोक में देवी के सात नाम हैं जो प्रकाश की सतरंगी शोभा प्रदर्शित करते हैं। सूर्य का प्रकाश सफेद माना जाता है। चांद की चांदनी भी सफेद मानी जाती है। कैलाश पर्वत को भी बर्फ से ढका हुआ होने के कारण सफेद ही माना जाता है। पार्वती गौरी है और परमेश्वर गौरांग हैं। इन सब दृष्टांतों से स्पष्ट है कि प्रकाश का वर्ण सफेद माना गया

है। संसार में जितने रंग हमें दिखाई देते हैं, वे सब के सब इसी श्वेत वर्ण में समाविष्ट हैं। वास्तव में श्वेत वर्ण ही विभिन्न रंगों में विश्लेषित होकर दृष्टि-वैविध्य के अनुसार अलग-अलग रंगों का दिखाई देता है। रंग अनेक हैं, पर वस्तु एक है। इसी प्रकार प्रकाश के भी अनेक रूप हैं। कभी धूप, कभी चांदनी, कभी आग, कभी बिजली और कभी इन्द्र धनुष की सतरंगी सुषमा का रूप धारण करने वाला प्रकाश मूल रूप में एक ही है और वही प्रकाश परमेश्वरी की आत्मा है। इसीलिए उनको "प्रभावती" कहा गया है।

"प्रभा" शब्द प्रकाश का ही पर्यायवाची है, पर यह शब्द प्रकाश से अधिक सार-गर्भित है। इसमें मूल शब्द "भा" है जिसका मतलब है—प्रकाश, उजाला, कांति, शोभा, आदि। इस मूल शब्द "भा" से पहले प्रकृष्टता को सूचित करने वाला उपसर्ग "प्र" जुड़ा हुआ है। इस प्रकार "प्रभा" शब्द का मौलिक अर्थ होगा—प्रकृष्ट रूप से भासित, आभासित, प्रभासित और प्रतिभासित होने वाला प्रकाश। प्रकाश का प्राथमिक रूप जो बाद में परिस्थितिवश विभिन्न आकार-प्रकार अपना लेता है, प्रभा के अन्तर्गत आता है। संसार की समस्त शक्ति और ऊर्जा का मूल स्रोत भी यही प्रभा या प्रकाश है। प्रकाश का गतिशील रूप ही प्रभा है जो आधुनिक विज्ञान की मान्यता के अनुसार द्रव्य को ऊर्जा में परिणत कर देती है। प्रकाश के वेग से द्रव्य का विशिष्ट गुणन होने पर ऊर्जा उत्पन्न होती है, यही सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइनस्टीन का द्रव्य ऊर्जा समीकरण सिद्ध करता है। इसलिए इस पाँच भौतिक गतिशील और ऊर्जस्वल संसार में शक्ति का मूल स्रोत यही प्रभा है जिससे सम्पन्न होने के कारण ललिता परमेश्वरी को यहां पर प्रभावती का नाम दिया गया है। "प्रभा" या गतिशील प्रकाश के बिना संसार एक कदम भी आगे नहीं चल सकता, पेड़ का पत्ता तक हिल नहीं सकता और यहाँ तक कि प्रभा के बिना संसार में कुछ भी दिखाई नहीं देता और न कोई कुछ देख पाता। देखने-दखाने, करने-कराने, चलने-चलाने और बनने-बनाने वाली जो मूल-शक्ति

है, वह प्रकाश या प्रभा की ही देन है, अर्थात् प्रभावती परमेश्वरी का वरदान है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि भौतिक जगत् के पांच तत्त्वों में पृथ्वी और जल एक तरफ़ हैं तथा आकाश और वायु दूसरी तरफ है और बीच में प्रकाश का तत्त्व विद्यमान है। धरती और पानी दृश्यमान और मूर्त हैं जबकि आकाश और वायु दिखाई नहीं देने के कारण अमूर्त हैं, पर दोनों का अस्तित्व है। इन दोनों को जोड़ने वाला तत्त्व प्रकाश है। प्रकाश दिखाई भी देता है और नहीं भी दिखाई देता है। वह मूर्त भी है और अमूर्त भी है, व्यक्त भी है और अव्यक्त भी है। मूल रूप में वह अमूर्त है, पर स्थूल रूप से वह मूर्त है। बत्ती जलती है, बिजली चमकती हैं, सूरज हंसता है, चांद मुस्कुराता है, तारे टिमटिमाते हैं, चेहरा चमक उठता है—इन सबमें प्रकाश के विभिन्न रूप विद्यमान हैं। यह वास्तव में प्रेम का ही प्रकाश है। आकाश से धरती पर दौड़-दौड़ कर आने वाली किरणों में न मालूम इस धरती के प्रति कितना प्रेम भरा हुआ है, यह केवल समझने से समझ आने वाली बात है। आकाश की अपनी कोई सीमा नहीं है और हवा के लिए अपना कोई निवास नहीं है। ये दोनों असीम, अनन्त और अखंड आत्मा के प्रतीक हैं। इसके विपरीत धरती और पानी ससीम, साकार और सांप्रत तत्त्व हैं। इन दोनों के बीच की कडी प्रभा धरती को आकाश से जोड़ देती है, व्यक्ति को शक्तिशाली बनाती है और द्रव्य को ऊर्जस्वित बनाती है। इस श्लोक का पहला नाम "प्रभावती" परमेश्वरी की इसी प्रकाश-सम्पन्नता को प्रकट करता है।

परमेश्वरी केवल "प्रभावती" ही नहीं, बल्कि "प्रभारूपा" भी हैं। वह केवल प्रकाश से सम्पन्न ही नहीं है, बल्कि स्वयं प्रकाश हैं। प्रकाश से युक्त होने के कारण वह प्रभावती हैं और प्रकाश के रूप में विद्यमान होने के कारण वह प्रभारूपा भी हैं। यही इस श्लोक का दूसरा नाम "प्रभारूपा" बताता है। वास्तव में प्रत्येक प्रकाशवान पदार्थ स्वयं प्रकाश

ही बन जाता है। जैसे एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाते समय पहला दीपक जो जल रहा है, प्रकाश का ही रूप है और दूसरा दीपक जो पहले से प्रकाश ग्रहण करता है, प्रकाश पाने के बाद स्वयं प्रकाश बन जाता है। इसलिए दोनों दीपक पहले प्रकाश युक्त या प्रकाशवान् बन जाते हैं। और बाद में स्वयं प्रकाश के स्रोत बन जाते हैं। इसी प्रकार परमेश्वरी प्राणि-जगत् को प्रकाश देती हैं और बाद में स्वयं प्रकाश बन कर रहती हैं। दूसरों को प्रकाश देने से उनका मूल प्रकाश नहीं घटता, बल्कि बढ़ता है। वह अविकल, अविचल और अक्षुण्ण बना रहता है। वह प्रकाश की अक्षय निधि हैं।

जब परमेश्वरी को प्रभारूपा मान लिया गया तो जहां प्रकाश का प्रसार है, वहाँ परमेश्वरी का सानिध्य पाया जा सकता है। वह सर्वत्र विद्यमान हैं और उनके अस्तित्व में कोई संदेह नहीं हो सकता। इसी लिए उनको "प्रसिद्धा" कहा गया है। जहां साधना है, वहाँ सिद्धि अपने आप हो जाती है। प्रकाश को पाने की उत्कट कामना प्रकाश को पल भर में उपलब्ध कराती है। प्रकाश के सहारे बाहरी और प्रेम के सहारे आंतरिक जगत् में समरसता पैदा हो जाती है। अन्धकार में हर एक आदमी अपने को अलग अनुभव करता है और जागृति से सुषुप्ति में पहुंच जाता है। पर प्रकाश के प्रकट होते ही सब एक दूसरे को देख पाते हैं, एक दूसरे के साथ आपसी व्यवहार शुरू हो जाता है। इसी प्रकार प्रेम का प्रकाश भी प्राणि-जगत् को आत्मीयता का आनन्द प्रदान करता है। प्रकाश है तो संसार है और प्रेम है तो प्राणी है। प्रकाश और प्रेम ही परमेश्वरी की प्रसिद्धि के प्रबल प्रमाण हैं। जिस प्रकार प्रकाश और प्रेम स्वतः सिद्ध हैं, उसी प्रकार परमेश्वरी का अस्तित्व भी स्पष्ट है।

"परमेश्वरी" इस श्लोक का चौथा नाम है। परमेश्वर की सहचरी होने के कारण वह परमेश्वरी हैं। ईश्वर की प्राण शक्ति ही ईश्वरी है। दोनों एक ही तत्व के दो पहलू हैं। परमेश्वर द्रव्य है तो परमेश्वरी ऊर्जा है। परम शिव की पराशक्ति ही परमेश्वरी है। जिस प्रकार सूर्य को

धूप से, चांद को चांदनी से, आग को ताप से, रूप को सौंदर्य से, प्रेमी को प्रेम से और द्रव्य को ऊर्जा से अलग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार परमेश्वर को परमेश्वरी से अलग नहीं माना जा सकता। जहाँ शिव है, वहाँ शक्ति है। ये दोनों भौतिक जगत् की समस्त वस्तुओं और सत्ताओं के मूल आधार हैं।

यही बात परमेश्वरी का अगला नाम "मूल प्रकृति" सिद्ध करता है। प्रकृति समस्त कृति का आधार है। गीता में कहा गया है कि परम पुरुष की अध्यक्षता में परा प्रकृति समस्त चराचर जगत् की सृष्टि करती है। सृष्टि करने वाली प्रकृति है और सृष्टि की प्रेरणा प्रदान करने वाला पुरुष है। फिर भी प्रेरणा को भी प्रेरित करने वाली मूल शक्ति परा-शक्ति परमेश्वरी में है। इसलिए उनको मूल प्रकृति कहा गया है।

इस मूल रूप में परमेश्वरी "अव्यक्ता" हैं। वह प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती हैं क्योंकि बीज रूप में वह बारीक से बारीक रूप धारण किए रहती हैं। जैसे बीज से वृक्ष का विकास होता है, वैसे परा प्रकृति से समस्त संसार का विस्तार होता है। वह समस्त शक्ति का मूल स्रोत है। स्रोत हमेशा सूक्ष्म होता है और उससे प्रसूत और प्रभूत सामग्री स्थूल होती है। इसलिए कठोपनिषद् में "अव्यक्त" को "महत्" से भी परे बताया गया है। इसी को माया या महामाया की भी संज्ञा दी गई है। सूक्ष्म से स्थूल का यह विस्तार संसार की सबसे बड़ी विचित्रता है। पर यह प्रत्यक्ष सत्य है। अमूर्त से मूर्त, अव्यक्त से व्यक्त, असीम से ससीम का प्रभव, प्रसार और प्राभव कैसे हो रहा है, यही "मूल प्रकृति" की परिकल्पना का रहस्य है। समस्त प्रकृति का वही मूल है। उसका और कोई मूल नहीं है। संसार में शक्ति या ऊर्जा के प्रत्येक रूप का कुछ न कुछ स्रोत या मूल दर्शाया जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक रूप का मूलाधार खोजते खोजते हम एक ऐसे बिंदु पर पहुंच जाते हैं जहाँ पर हमारी तर्कना जवाब देती है। वहाँ पर यह मानना पड़ता है कि इस

का कारण यही है। यही कार्य कारण का संगम स्थल है। यही प्रकृति-पुरुष की समासीनता है।

इस मूल बिंदु पर समस्त रेखाएं मिल जाती हैं, प्रकाश की सभी तरंगें विलीन हो जाती हैं। उसका अस्तित्व साध्य है, इसलिए वह व्यक्त है। पर वह परिलक्षित नहीं है, इसलिए वह अव्यक्त है। व्यक्त और अव्यक्त दोनों रूपों में प्रतिभासित होने वाली परमेश्वरी को इसी मूल बिंदु पर प्रतिष्ठित करने वाला सुन्दर नाम है—व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी। परमेश्वरी का यह परात्पर रूप बिंदु और सिंधु का भी मिलन है। माँ ललिता एक बूंद के समान है और सारी दुनियां उसी बूंद से निकला महान् सागर है जिसका प्रत्येक कण उसी बूंद का प्रकट रूप है। वह कहीं भी प्रकट नहीं हैं और सर्वत्र फैली हुई हैं।

अमुक स्थान से अनेक प्रांतों में असंख्य रूपों में व्याप्त परमेश्वरी के सार्वत्रिक सान्निध्य को सहस्रनाम का अगला श्लोक सुन्दर नामों में प्रस्तुत करता है :

व्यापिनी विविधाकारा विद्याविद्यास्वरूपिणी।
महाकामेशनयन कुमुदाह्लादकौमुदी॥

परमेश्वरी की भावना "दीप्ति" से प्रारम्भ होती है, "व्याप्ति" में विकसित होती है और "प्राप्ति" में पर्यवसित होती है। दीप्ति (प्रकाश) की भावना पिछले श्लोक में विस्तार से वर्णित है। अब "व्याप्ति" (फैलाव) का वर्णन आरम्भ होता है। देवी हर जगह पहुंच जाती हैं। जैसे सूर्य का प्रकाश कुछ ही क्षणों में धरातल पर पहुंच जाता है, वैसे ही परमेश्वरी की प्रभा-भासिनी शोभा संसार के कोने कोने में फैल जाती है। केवल भावना के बल पर देवी के इस दिव्य सान्निध्य का अनुभव किया जा सकता है। "व्यापिनी" का शब्दार्थ है—विशिष्ट या विस्तृत रूप से फैलने वाली। स्मरण, मनन और ध्यान के सहारे सर्वत्र विद्यमान परम सत्ता का साक्षात्कार सम्भव है।

इस परम सत्ता के अनेक रूप हैं। प्रेम, सौंदर्य और आनन्द देवी के ही दिव्य रूप हैं। इच्छा, ज्ञान और क्रिया भी एक ही मूल चेतना के स्थूल रूप हैं। धुंआ, आग, धूप, किरण, तारे, चन्द्रमा, सूर्य और समस्त ब्रह्माण्ड एक ही प्राग्ज्योति के प्रकट रूप हैं। धरती, पानी, आग, हवा और आकाश एक ही मूल तत्त्व से निकले हुए आनुषंगिक तत्त्व हैं। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध वासना और उपासना के बीच मानव मन को सक्रिय भूमिका सिखाने वाले सांसारिक विषय हैं, जो परमेश्वरी के ही वरदान हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि संसार में हम जो कुछ करते हैं, कहते हैं, सुनते हैं, देखते हैं और पाते हैं, उन सबमें परमेश्वरी की परम सत्ता विद्यमान है। बाह्य जगत् में जितनी प्राकृतिक शक्तियां हैं, ऊर्जा के जितने रूप हैं, उन सबमें ऊर्जस्विनी देवी की ऊर्जा ही प्रकट होती है। इसीलिए उनको ',विविधाकारा" कहा गया है।

परमेश्वरी का रूप-वैविध्य केवल सद्रूप तक ही सीमित नहीं है, अविद्या, अन्धकार आदि असद् रूपों तक भी व्याप्त है। जहां वह समस्त प्राणियों में श्रद्धा के रूप में प्रतिष्ठित हैं, वहां निद्रा के रूप में भी प्रकट होकर प्राणियों को आवश्यक विश्राम प्रदान करती हैं। वह विद्या भी है और अविद्या भी। इसलिए उनको "विद्याविद्यास्वरूपिणी" कहा गया है। विद्या और अविद्या दोनों एक-दूसरे के विरोधी तत्त्व हैं जिनका सामंजस्य परमेश्वरी की परम पावन भावना के साथ सम्भव है। विद्या विवेकशील व्यक्ति को आत्मा की ओर ले जाती है और अविद्या नश्वर शरीर की तुच्छ वासनाओं की ओर प्रवृत्त करती है। लेकिन मानव जीवन विद्या और अविद्या का सम्मिश्रित रूप है। अविद्या या अज्ञान के आवरण को हटाने पर ही विद्या या ज्ञान के आंगन में प्रवेश मिल सकता है। वास्तव में आत्म साक्षात्कार की साधना की ये दो अपरिहार्य अवस्थाएं हैं। शरीर यात्रा को नियमित रूप से निभाए बिना मानसिक उन्नयन सम्भव नहीं है और मानसिक निर्मलता के बिना आत्मा का आलोक नहीं मिलता। इसलिए वासना की दलदल को पार कर ही

उपासना में प्रवेश पाया जा सकता है। इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए ईशावास्य उपनिषद् में कहा गया है कि अविद्या के सहारे मृत्यु को पार कर विद्या के बल पर अमरत्व को प्राप्त करना चाहिए। यह बड़ी जटिल साधना है और इसी के अनुरूप मानव को नश्वर शरीर में अविनश्वर आत्मा का उपहार दिया गया है। परमेश्वरी की कृपा से ही अविद्या या विद्या से परे की आत्मानंद लहरी का अवबोध, आस्वादन और आत्मसात्करण सम्भव हो सकेगा।

इस आनन्द-लोक में परमानन्द-बिन्दु के रूप में विराजमान आनन्द-मयी परमेश्वरी की आलोक मधुर शोभा समस्त संसार को शीतलता और शान्ति प्रदान करने वाली होती है। काम को जलाकर महान् संयम का आदर्श प्रस्तुत करने वाले कामेश्वर का मन भी परमेश्वरी के इस पावन रूप को देखकर प्रसन्न हो जाता है। इस श्लोक का अन्तिम नाम इसी बात की ओर संकेत करता है। यही नाम काफी लम्बा है—"महा-कामेश नयन कुमुदाह्लाद कौमुदी"। महाकामेश की आंखें परमेश्वरी को देखकर उसी प्रकार प्रसन्न हो जाती हैं जिस प्रकार रात को खिलने वाला फूल चांदनी के स्पर्श से सिहर उठता है। यहां पर महाकामेश शब्द में केवल परमेश्वर ही नहीं, बल्कि आत्मसंयम से कामवासना पर विजय पाने वाले साधु-सन्तों की ओर भी संकेत है। जीवन में सांसारिक सुखों का प्रलोभन एकदम छोड़कर पारलौकिक आनन्द के लिए प्रयत्न-शील तपस्वियों को अपनी तपस्या के फलस्वरूप आत्मस्वरूपिणी देवी के दर्शन होते ही अपरिमेय आनन्द का अनुभव होता है। उस समय देवी के सुन्दर मुख का मन्दहास चांदनी की तरह मन बहलाने वाला होता है। इस दर्शन का आनन्द नेत्रों को सबसे अधिक मिलता है। ध्यान देने की बात है कि यहां पर नेत्रों के लिए "नयन" शब्द का प्रयोग किया गया है। नयन केवल देखने दिखाने के लिए ही नहीं, बल्कि चलने और ले चलने के भी साधन हैं। परमेश्वरी के पास ले चलने का काम ये नयन ही करते हैं। इसी को "उपनयन" भी कहा जा सकता है। देवी का

दर्शन करने वाले ये नयन दर्शक को कहां और कैसे ले चलते हैं, इसका वर्णन अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

भक्त हृद तमोभेद भानुमद्भानुसंततिः ।
शिवदूती शिवाराध्या शिवमूर्तिः शिवंकरी ।।

जैसे सूर्य की किरणों से संसार का अन्धकार पल भर में दूर हो जाता है, वैसे ही परमेश्वरी के दर्शन से भक्तो के हृदय में जन्म-जन्मातर से जमा हुआ अज्ञान का अन्धकार समाप्त हो जाता है और ज्ञान का प्रकाश फैल जाता है। एक सूर्य नहीं, अनेकों सूर्यों के उदय का प्रभाव पड़ता है—परमेश्वरी के प्रादुर्भाव से। पिछले श्लोक में देवी की शोभा को चांदनी के समान बताया गया है और नेत्रों पर उसका सुखद प्रभाव दर्शाया गया है। प्रस्तुत श्लोक में देवी के प्राकट्य को सूर्य सन्तति के समान प्रभावशाली बताया जा रहा है और हृदय को उससे आलोकित चित्रित किया जा रहा है। ये दोनों नाम सोलह-सोलह अक्षरों के हैं और दोनों का सम्बन्ध शरीर के दो प्रधान भागों—नेत्र और हृदय—से है। इससे यह संकेत मिलता है कि देवी के दर्शन के पहले आंखें तृप्त हो जाती हैं और बाद में हृदय प्रेम और ज्ञान के प्रकाश से प्रफुल्लित हो जाता है। वास्तव में आंखें बन्द करते ही ज्ञान का केन्द्र हृदय में पहुंच जाता है। परमेश्वरी का सौंदर्य सोलह कलाओं से परिपूर्ण होता है। इसलिए सोलह अक्षरों के नाम यहाँ प्रस्तुत हैं।

मां के दर्शन से आंखें तृप्त हों और मन प्रसन्न हो, बस यही काफी नहीं है। इससे लोक-कल्याण और आत्मकल्याण की भावना सिद्ध होनी चाहिए। तभी यह साधना पूर्ण रूप से सफल मानी जाएगी। यही शिव भावना अगले चार नामों में व्यक्त की गई है—शिवदूती, शिवाराध्या, शिवमूर्ति और शिवंकरी। देवी शिव या मंगल का संदेश लेकर आती हैं। लोक-माता प्रसन्न हैं तो परम पिता अपने आप अनुकूल हो जाएंगे। असल में परम शिव भी परमेश्वरी की आराधना करते हैं। शिवानी

और शिव में ऐसा कोई भेदभाव नहीं है। शिव की आकृति, प्रकृति और प्रवत्ति से शिवानी का व्यक्तित्व इतना मेल खाता है कि दोनों एक ही मूर्ति में रचे हुए लगते हैं, एक ही ढांचे में ढले हुए प्रतीत होते हैं। शिव की जो इच्छा होती है, उसकी पूर्ति शिवानी बड़ी तत्परता के साथ करती हैं। शिवात्मक भावना को लेकर परिभावित इन चार नामों में शिव संकल्प की महिमा का भी मंजुल गायन है। जो कुछ शिव है, शुभ है, भलाई कारक है, वह शिवानी के लिए अभीष्ट है।

इसी शिव तत्त्व की व्याख्या अगले श्लोक में भी प्रस्तुत है :

शिवप्रिया शिवपरा शिष्टेष्टा शिष्टपूजिता।
अप्रमेया स्वप्रकाशा मनोवाचामगोचरा॥

शिव की परम प्रेयसी शिवानी निरन्तर शिव साधना में लगी रहती हैं। "शिव" शब्द को यहां शिष्टता के अर्थ में समझना चाहिए। परमेश्वरी दुष्टों से दूर रहती हैं और शिष्टों को पास बुलाती हैं। जिसके मन में कल्याणकारी, रचनात्मक और विवेकशील विचार उत्पन्न होते हैं और जिनका आचरण नियमित और विनीत होता है, उन्हीं को शिष्ट कहा जाता है। ऐसे लोग ही परमेश्वरी का स्मरण, मनन और सेवन करते हैं। इसीलिए देवी को "शिष्टेष्टा" (शिष्टों के लिए इष्ट या शिष्टों के द्वारा आराधित) और "शिष्टपूजिता" कहा गया है। शिष्ट जनों का एक और लक्षण यह होता है कि वे दूसरों की नियत की परवाह किए बिना सबके साथ अच्छा व्यवहार करते हैं। वे शत्रुओं को भी मित्र समझते हैं और निन्दक का भी अभिनन्दन करते हैं। इसीलिए शिष्टजन सबको अच्छे लगते हैं ओर परमेश्वरी तो सब पर अहेतुक अनुकम्पा प्रदर्शित करने वाली होती हैं।

देवी की शिव भावना अलौकिक है। उसमें शिष्टता के साथ-साथ निर्लिप्तता और अनिर्वचनीयता भी है। उनकी शिवात्मक भावना किसी

बाह्य परिस्थिति या परिवेश पर निर्भर नहीं रहती । वह प्रकृत्या कल्याण-कारिणी हैं । वह अपने आप प्रकाशित होने वाली स्वयंप्रभा की मूर्ति हैं। इसलिए उनको ठीक-ठीक समझना कठिन है । जिनकी प्रेरणा से मन और वाणी का संचालन होता है, उनको मन समझ नहीं पाता, उनको वाणी परिभाषित नहीं कर सकती । वह मन और वाणी से परे हैं । जिस परतत्त्व के बारे में उपनिषदों ने कहा है—"यतो वाचो निवर्तंते अप्राप्य मनसा सह" (जिसको पाने के प्रयास में सफलता प्राप्त किये बिना मन और वाणी वापस चले आते हैं) उसी की मूर्ति हैं—श्री ललिता परमेश्वरी । वही शिव हैं और वही शिवा हैं । वही साधना और वही सिद्धि हैं । वही प्रकाश और प्रभा हैं, द्रव्य और ऊर्जा हैं, सत् और चित् हैं और परमानन्द बिन्दु हैं ।

---

२२. तत्त्वासना तत्त्वमयी

सर्वांतयामिणी सर्वेश्वरी संसार में सर्वत्र विराजमान होती हैं, पर सबकी समझ में नही आतीं, सबको दिखाई नहीं देती। पांच भौतिक प्राणी का पार्थिव मन उस अपार्थिव सत्ता की रूप कल्पना नहीं कर पाता। सीमित शब्द जीवी की वाणी उस असीम सौंदर्य को सही और समग्र रूप में साक्षर नहीं कर पाती। फिर भी मन और वाणी के माध्यम से मर्त्यजीवी उस अमरत्व को आत्मसात् करने का प्रयास निरन्तर करता रहता है क्योंकि उसके पास इससे प्रबल साधन और कुछ भी नहीं है। इन दोनों साधनों के सहारे साधक अपने साध्य और आराध्य तक कैसे पहुंच पाता है, इसी का वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम का अगला श्लोक करता है :

चिच्छक्तिश्चेतना रूपा जड शक्तिर्जडात्मिका।
गायत्री व्याहृतिः संध्या द्विज वृन्द निषेविता॥

इस श्लोक का पहला नाम है—चिच्छक्ति। "चित्" के भीतर छिपी हुई जो शक्ति है, वही परमेश्वरी की परा शक्ति है। "चित्" से ही चेतना उत्पन्न होती है। चेतना जीव लक्षण है। चलने-फिरने, देखने-सुनने, बोलने-चालने और कुछ करने-कराने की मनुष्य मात्र में ही नहीं, प्राणी मात्र में जो सहज प्रवृत्ति होती है, उसी को "चेतना" कहा जाता है। इस चेतना का आधार ही "चित्" है। प्राणी के भीतर का यह "चित्" हमेशा ज्वलनशील होता है और इसी ज्वाला की चिच्छक्ति के रूप में परमेश्वरी का प्रादुर्भाव होता है। इसीलिए सहस्रनाम के प्रारम्भिक

श्लोक में ही श्रीमाता को चिदग्निकुंड संभूता कहा गया है। आग की भट्टी के समान जलती रहने वाली "चित्" से समस्त संसार को संचालित करने वाली अपार शक्ति प्रकट होती है। यह सारा संसार इसी चित् या मन की लीला का ही मूर्त रूप है। "चित्" के संयोग से ही "सत्" आनन्ददायक सिद्ध होता है। जड़ जगत् को चेतनता प्रदान करने वाली यही चिच्छक्ति संचरणशील और संसरणशील जीवन की मूल शक्ति है।

यह मूल शक्ति जड़-चेतन दोनों में विद्यमान होती है। जड़-चेतन और गुण-दोष विश्वात्मा की ही विभूतियां हैं। इसलिए विश्वमाता की चेतनता जैसे चेतन में वैसे जड़ में भी विद्यमान होती है। इस सम्बन्ध में भक्त प्रह्लाद का कथन स्मरणीय है। अपने पिता हिरण्यकशिपु के पूछने पर प्रह्लाद निस्संकोच इस बात की घोषणा करता है कि भगवान् सर्वत्र विराजमान है। इस बात को सत्यापित करने के लिए जब हिरण्य-कशिपु सामने के खम्भे को तोड़ देता है तो उसी में से नरसिंह के रूप में भगवान् प्रकट होते हैं। जड़ में जडात्मिका और चित् में चेतना का रूप धारण कर परम सत्ता की पराशक्ति हमेशा हर जगह विद्यमान होती है। अवसर पाकर वह शक्ति प्रकट होती है। वैसे देखा जाये तो प्रत्येक प्राणी का कलेवर जड़ ही है। उसमें परम चैतन्य का अंश विराजमान होने के कारण ही वह चेतन दिखाई देता है। जड़ में और चेतन में एक ही अखंड और आनन्दमय चैतन्य विराजमान होता है। परिवेश और परिभाषा के भेद से हम उसे जड़ या चेतन कहते हैं। जैसे कालिदास का यक्ष मेघ के जड़ीभूत और घनीभूत आकार में भी कोमल हृदय का भावुक संदेश वहन करने की क्षमता प्रत्यक्ष कर लेता है, वैसे ही आत्मा के अनन्त आनन्दमय चैतन्य का साक्षात्कार करने वाले द्रष्टा की दृष्टि में जड़-चेतन का कोई भेद परिलक्षित नहीं होता। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी एक व्यवस्थित रूप में संघटित होकर पांच भौतिक प्राणी का पार्थिव रूप प्रस्तुत करते हैं। इस रासायनिक संयोग में जड़-चेतन

का सामरस्य आसानी से देखा जा सकता है। यह सब चिच्छक्ति का विलास है।

वास्तव में सकल चराचर सृष्टि सत् और चित् का सम्मिश्रित रूप है। मन और वाणी की मनमानी क्रीड़ा या लीला ही जीवन है। यह लीला मनमानी है, इसीलिए मन और वाणी की पहुंच से परे हो जाती है। फिर भी मन और वाणी की संयत साधना से इस महती सत्ता का तत्त्व धीरे-धीरे समझ में आता है। जैसे मन का सूक्ष्म रूप "चित्" में घनीभूत हो जाता है, वैसे ही वाणी का रमणीय और वरणीय रूप वेद-माता गायत्री में स्वनीभूत हो जाता है। चिदाकाश के मनन के द्वारा चिन्मयी का साक्षात्कार हो जाता है और गायत्री मन्त्र के निस्वन गायन से परम वरेण्य प्रकाश आराधक के अन्तरंग को आलोकित कर देता है। इसीलिए गायत्री को परमेश्वरी का रूप माना गया है। गायत्री मन्त्र के प्रारम्भ में प्रणव के साथ जो सात व्याहृतियां होती हैं—ओंम् भूः, ओं भुवः, ओं सुवः, ओं महः, ओं जनः, ओं तपः, ओं सत्यम्—इनको भी परमेश्वरी के प्रतिरूप बताया गया है। गायत्री मन्त्र के जाप के लिए संध्या का समय सबसे उपयुक्त माना जाता है। दिन में तीन संध्याएं होती हैं—प्रातः संध्या, मध्याह्न संध्या और सायं संध्या। सूर्योदय, सूर्यास्त और इन दोनों का मध्यकाल गायत्री मन्त्र के उच्चारण, मनन और ध्यान के लिए अत्यन्त अनुकूल हैं। इसलिए संध्या भी परमेश्वरी का नाम है। इस प्रकार वेदमाता गायत्री, गायत्री के परिवेश को प्रकट करने वाली सात व्याहृतियां और गायत्री मन्त्र के जाप, मनन और ध्यान के उपयुक्त संध्या समय—इन तीनों को यहां पर परमेश्वरी के नाम बताये गए हैं।

गायत्री मन्त्र चौबीस अक्षरों का है जो कि चौबीस तत्त्वों के प्रतीक हैं। पृथ्वी, जल आदि पांच भूत, शब्द, स्पर्श आदि पांच विषय, पांच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ मन, बुद्धि, अहंकार और महत्

नाम की अन्तःकरण प्रवृत्तियों को मिलाकर चौबीस तत्त्व बनते हैं। गायत्री मन्त्र के चौबीस अक्षर इन्हीं चौबीस तत्त्वों के प्रतीक हैं। भूः, भुवः, सुवः, महः, जनः, तपः और सत्यम् नाम की सात व्याहृतियां इन्हीं तत्त्वों की सात भूमिकाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन्हीं भूमिकाओं को लोक की संज्ञा दी जाती है। जैसे भूलोक में, वैसे इन सातों लोकों में प्रकाशात्मा प्रभाकर का परम वरेण्य आलोक फैला हुआ है। भीतर और बाहर के अन्धकार को मिटाकर सर्वत्र आलोक फ़ैलाकर अन्तरंग को प्रबुद्ध करने वाले इसी प्रभापुंज से प्रार्थना की जाती है—गायत्री मन्त्र में। इसीलिए प्रकाश के संधिकाल में इस प्रकार की प्रार्थना करने का नियम निर्धारित किया गया है। वेद के सभी मन्त्रों में गायत्री को सबसे उत्कृष्ट और प्रभावशाली कहा जाता है। इसमें प्रकाश को ही परदेवता माना जाता है और उसी से परमगति की आशा की जाती है। इससे जड़ और चेतन, स्थिति और गति, अन्धकार और प्रकाश, मूर्त और अमूर्त तथा सत् और चित् का अद्भुत सामंजस्य प्रस्तुत है। केवल गायन से त्राण या अभय प्रदान करने वाली देवी गायत्री हैं। इसलिए यह सबके लिए सुलभ साध्य है।

गायत्री की आराधना करने वालों को "द्विज" कहा जाता है। "द्विज" का शब्दार्थ है—दो बार जन्म लेने वाले। गायत्री के मनन से यह द्विजत्व प्राप्त होता है। कालान्तर में द्विज शब्द ब्राह्मण का पर्याय-वाची हो गया है। वास्तव में ब्राह्मण शब्द भी सिद्धि पर आधारित है, जाति या कुल पर नहीं। इस दृष्टि से ब्रह्म ज्ञान से युक्त व्यक्ति ही ब्राह्मण होता है और उसको द्विज कहने में कोई अनुचित बात नहीं है। प्रत्येक ज्ञानी दो बार जन्म लेता है। माता के गर्भ से जन्म लेना प्रत्येक प्राणी के लिए सहज रूप से सिद्ध है। लेकिन ज्ञानी अपने ज्ञान के सहारे अपने को एकदम नये परिवेश में, नये संसार में और नये आलोक में अवतरित (उतर आया) पाता है। यही दूसरा जन्म है। इस प्रकार दुबारा जन्म लेने वाले द्विजों के समूह से सेवित होने के कारण गायत्री

या परमेश्वरी को "द्विज वृन्द निषेविता" कहा गया है। यही इस श्लोक का अन्तिम नाम है।

पक्षियों को भी द्विज कहा जाता है क्योंकि वे पहले अण्डे के रूप में पैदा होते हैं और बाद में पंखों के बल उड़ने वाले पक्षी का रूप धारण कर लेते हैं। अक्सर देखा जाता है कि संध्या के समय चिड़ियां बड़े उत्साह के साथ चहचहाने लगती हैं। अनायास उनके मन में आनन्द की लहर उछल पड़ती है। चिड़ियों की चहचहाहट के साथ-साथ सारी प्रकृति लाल-लाल कपोलों पर कोई अपूर्व आनन्द का आभास प्रकट करती है। लगता है सारा संसार संध्या की सुनहरी शोभा में अपने आपको भूल जाता है और किसी अनिर्वचनीय आनन्द का अन्दर ही अन्दर अनुभव करते हुए फूला नहीं समाता है। प्रकृति की इस सहज प्रफुल्लता को देखने पर कोई भी प्राणी चाहे वह कितना भी जड़ीभूत क्यों न हो, चेतनता के इस अजस्र स्रोत में निष्णात हुए बिना नहीं रह सकता। संध्या ही गायत्री है और गायत्री ही मानव वाणी का वरणीय और वरेण्य रूप है।

मन और वाणी के रूप में मानव मन को मादक बनाने वाली मनोरमा देवी की अपार-महिमा का वर्णन अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

तत्त्वासना तत्त्वमयी पंच कोशांतरस्थिता।
निस्सीम महिमा नित्य यौवना मदशालिनी ॥

ऊपर बताया जा चुका है कि गायत्री मन्त्र के चौबीस अक्षर चौबीस तत्त्वों के प्रतीक हैं। इन्हीं में देवी विराजमान हैं। इसीलिए उनको "तत्त्वासना" कहा गया है। तत्त्वों को आसन बनाकर उन पर विराजमान देवी उन्हीं तत्त्वों में समा जाती हैं, एकाकार हो जाती हैं। इसीलिए वह "तत्त्वमयी" हैं। इन तत्त्वों से वह अलग नहीं हैं। आसमान, हवा, आग, पानी और मिट्टी में वह सर्वत्र छाई हुई हैं। वही हमें आवाज़

देती हैं, स्पर्श का अनुभव कराती हैं, सौंदर्य की शोभा दिखाती हैं, रस का आस्वादन कराती हैं और गन्ध का आघ्राण कराती हैं। हम जो कुछ करते हैं और जो कुछ हमारी समझ में आता है, सब उन्हीं की कृपा से सम्भव होता है। हम उन्ही के बल पर सोचते हैं और उन्ही के बारे में, उन्हीं के सहारे और उन्हीं की प्रेरणा से सोचने का प्रयास करते हैं। उन्हीं के पथ-प्रदर्शन से हम असत्-मार्ग को छोड़कर सत्पथ का आश्रय लेते हैं। वही हमारे भीतर अहं की भावना भरती हैं और आत्म प्रत्यय के सहारे आत्मदर्शन भी कराती हैं। वही सबकी अधिष्ठात्री हैं और सब में समाविष्ट हैं। इस प्रकार तत्त्वमयी देवी के साथ तादात्म्य की भावना जब स्थापित हो जाती है तब तत्त्ववेत्ता कहता है, "तत्, त्वं, अयि" (वही तुम हो)। संसार में जो कुछ है, वह सब वही है, वही नब कुछ है।

कुछ लोग इस शब्द को तत्, त्वम्, अयी तीन भांगों में विभाजित कर तीन नामों में भी गिनते हैं। विभाजन चाहे जैसा भी हो, तत्त्व तो वही है। तदीय भावना और त्वदीय भावना में सामंजस्य स्थापित करने वाली तत्त्वमयी के साथ तादात्म्य की भावना स्थापित करना ही पांच भौतिक प्राणी के पार्थिव जीवन का परमार्थ है।

तत्त्वमयी देवी जैसे चौबीस तत्त्वों के भीतर और उनसे परे भी विद्यमान है वैसे शरीर के पांच कोशों के भीतर और उनसे परे भी विद्यमान है। इसीलिए उनको 'पंच कोशांतरस्थिता' कहा गया है। मानव शरीर के भीतर पांच प्रकार के कोश हैं—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। अन्नमय कोश केवल भौतिक और जड़ तुल्य है। अन्न से इस कोश का निर्माण होता है। अन्न ही शरीर का आधार है। लेकिन मानव केवल अन्नजीवी नहीं हैं। अन्न की आवश्यकता उसे तब तक होती है, जब तक उसके अन्दर प्राण हैं। असल में प्राण बनाये रखने के लिए ही अन्न आवश्यक होता है। इसीलिए अन्न से अधिक महत्वपूर्ण है—प्राण। यह प्राणमय

कोश मानव शरीर का दूसरा कोश है। अन्नमय कोश से यह अधिक सूक्ष्म है। लेकिन इन दोनों कोशों के सहारे मानव केवल खाता, पीता, सोता और आखिर मर जाता है। जीवन में यही सब कुछ नहीं है। इससे भी आगे कुछ और करना है। इसके लिए मन की आवश्यकता होती है। जीवी को सोचने की शक्ति मन से मिलती है। मन के बिना आदमी अकेला ही जीता है। सोचने, समझने और चाहने, न चाहने से प्रेम, ममता, दया आदि अच्छी प्रवृत्तियों के साथ ईर्ष्या, द्वेष, निष्ठुरता आदि आसुरी प्रवृत्तियां भी पैदा हो जाती हैं। मानव की सामाजिक और सामूहिक चेतना जाग पड़ती है। जड़ को चेतन बनाने वाली शक्ति इसी मन में है। इसलिए मनोनय कोश पहले दो कोशों से अधिक सूक्ष्म और महत्वपूर्ण है। इससे भी महत्वपूर्ण विज्ञानमय कोश है। इसी कोश के सहारे मानव को सत् और असत्, विद्या और अविद्या, प्रेय और श्रेय के बीच का अन्तर मालूम पड़ता है। वह अपने को पहचान पाता है, अपने परिवेश को समझ पाता है और अपने आपको परम सत्ता का अभिन्न अंग मान लेता है। इसी से आनन्द की भावना निष्पन्न होती है। यह आनन्द लौकिक नहीं है, इसलिए क्षणभंगुर नहीं होता। अलौकिक आनन्द अखंड और अनन्त होता है। यही जीवन का चरम ध्येय है। इस प्रकार अन्न से लेकर आनन्द तक जो पांच विभिन्न कोश हैं, उन सबमें परमेश्वरी प्रतिष्ठित हैं। सबका समान महत्त्व है और सबके समन्वय से ही शाश्वत आनन्द की सिद्धि हो सकती है।

परमेश्वरी की महिमा असीम और अपार है। इसीलिए उनको "निस्सीम महिमा" कहा गया है। आनन्द की कोई सीमा नहीं होती। इसी प्रकार आनन्दस्वरूपिणी देवी की महिमा की भी कोई सीमा नहीं हो सकती।

वह नित्य यौवना है। सुबह, शाम हर दिन संध्या की लालिमा चिर नवीन दिखाई देती है। प्रतिवर्ष वर्षा होती है, सर्दी पड़ती है, वसंत

आता है। पुराने पत्ते झर जाते हैं, नये पत्ते निकल आते हैं। प्रकृत्ति का सौंदर्य कभी फीका नहीं पड़ता। वह चिर सुन्दर है, नित्य यौवना है। उसके यौवन का श्रृंगार प्रतिदिन होता है और बराबर होता रहता है। वह अक्षय और अनन्त भंडार की स्वामिनी हैं। इसीलिए प्रकृति में हमेशा एक अपूर्व मादकता दिखाई देती है। इस चिर नवीन और परम पुरातन प्रकृति के अक्षय सौंदर्य को भीतर ही भीतर अनुभव करने वाला तात्विक भी इसी प्रकार अपने आनन्द में आप मस्त रहता है। आत्मानन्द की इसी मादकता की ओर संकेत करता है, इस श्लोक का अन्तिम नाम—"मदशालिनी"।

इसी अनन्त यौवन, अद्भुत सौंदर्य और अनिर्वचनीय मादकता से मुग्ध मनोहर लगने वाली देवी का लावण्य अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

मदघूर्णित रक्ताक्षी मद पाटल गंडभूः।
चदन द्रव दिग्धांगो चांपेय कुसुम प्रिया॥

देवी की आंखें इस मादकता के कारण लाल लाल दिखाई देती हैं। वैसे किसी की भी आंखों में सफ़ेद, काला और लाल—तीनों रंग अलग-अलग अनुपात में होते हैं। लाल रंग आंखों के कोने में होता है जो नासिका के मूल में छिपता-सा दिखाई देता है। कहा जाता है कि यह लालिमा हृदय तक फैल जाती है। आंखें जब बन्द हो जाती हैं तब यह लालिमा दिल में जाकर विश्राम करती है। योगी लोग जब समाधिस्थ हो जाते हैं तब यह लालिमा हृदय से सहस्रार तक जाकर अमृत बरसाती है। लालिमा का यही अभियान परमेश्वरी के नाम "मदघूर्णित रक्ताक्षी" से अभिव्यंजित होता है।

परमेश्वरी के कपोलों पर भी इसी प्रकार की लालिमा छाई हुई होती है। इस लालिमा के कारण उनके कपोल गुलाब के फूल जैसे दिखाई पड़ते हैं। यह प्रेम का लक्षण है और देवी का प्रेम सार्वभौम

व सार्वकालिक है। कण-कण से वह प्यार करती हैं। इसीलिए कण-कण में वह प्रेम झलकता है।

देवी का शरीर चन्दन के लेपन से सुन्दर, सुरभिल और सुमधुर दिखाई देता है। यह चन्दन आनन्द का प्रतीक है। नस-नस में आनन्द का रस भरा हुआ होता है। उनको चम्पा का फूल अच्छा लगता है। चम्पा के फूल में पांच पंखुड़ियाँ होती हैं। ये पंखुड़ियां ही पांच कोश या पांच तत्त्व हैं। परमेश्वरी स्वयं एक कुसुम हैं। कुसुम (कु-सुम) शब्द का अर्थ होता है—धरती का फूल। धरती को फूल का-सा मन्द हास प्रदान करने वाली देवी स्वयं एक कुसुम हैं, इसीलिए कुसुम उनको अच्छा लगता है। लेकिन जो फूल देवी को प्रिय लगता है, वह सवेरे खिलकर शाम को मुरझाने वाला साधारण कुसुम नहीं हैं। वह युग-युग तक प्रजागर रहकर जग को उजागर करने वाला जपा-पुष्प या मंत्र-पुष्प है। जो इस रहस्य को जानता है, वह स्वयं पुष्पित हो जाता है—

"पुष्पवान् प्रजावान् भवति—य एवं वेद"

———

२३. नंदिनी विघ्ननाशिनी

कुशलता, कोमलता और कर्मठता सकल कला की अधिष्ठात्री कुवलयेश्वरी के तीन प्रधान लक्षण हैं। कुवलय में जो चराचर दृश्यमान जगत् है, वह सारा का सारा योग शास्त्र की परिभाषा में कुल वा शरीर के भीतर समाविष्ट है। शरीर संसार का संक्षिप्त रूप है और सच्चा प्रतिरूप भी है। नश्वर शरीर के भीतर की अविनश्वर ईश्वरीय शक्ति ही कुवलयेश्वरी या कुलेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध है। इसी कुलेश्वरी की गुणत्रयी-कुशलता, कोमलता और कर्मठता-का मननीय वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

कुशला कोमलाकारा कुरुकुल्ला कुलेश्वरी।
कुल कुंडालया कौल माग तत्पर सेविता ॥

इस श्लोक का पहला नाम है—कुशला। किसी काम को अच्छी तरह से करना या किसी बात को भली-भाँति समझना या कहना लौकिक अर्थ में प्रायः कुशलता या कौशल कहा जाता है। यही कौशल आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में योग बन जाता है। इसलिए श्रीमद् भगवद् गीता में कुशलतापूर्वक कार्य करने को योग (योगःकर्मसु कौशलम्) कहा गया है। उपनिषद् के आचार्य भी अपने अंतेवासी को यही उपदेश देते हैं कि कुशलता या कौशल के मामले में कभी प्रमाद या आलस्य की भावना नहीं आनी चाहिए (कुशलान्नप्रमदितव्यम्)। काम करने की क्षमता के अलावा, कुशल शब्द भलाई, मंगल या पुण्य भावना के अर्थ में भी प्रयुक्त

होता है। वास्तव में "कु", "कुश" और "कुशल" बहुत ही सारगर्भित शब्द हैं। "कु" का अर्थ होता है पृथ्वी और साथ-साथ बुराई। कुत्सित या बुराई को कम करने वाला होने से दूब (एक प्रकार की घास) को कुश कहा जाता है। धरती में अपने को छिपाकर रखने वाली होने के कारण भी दूब को "कुश" कहा जाता है। सारी घास कुश नहीं कहलाती। उसमें कुछ विशिष्ट तत्व के समाविष्ट होने से उसको "कुश" कहा जाता है। इसकी नोक बहुत पतली होती है और यह हर चीज को पवित्र करती है। इसलिए धार्मिक अनुष्ठान में कुश और कुशासन के प्रयोग का विशेष महत्व बताया जाता है। लौकिक प्रतिभा अथवा मेधा के अर्थ में भी कुशल शब्द का प्रयोग होता है। उत्कृष्ट बुद्धिमत्ता से युक्त व्यक्ति को "कुशाग्र बुद्धि" कहा जाता है। इस प्रकार अमंगल का निवारण कर मंगल को बढ़ावा देने वाला और मेधा को प्रखर और प्रचुर बनाने वाला गुण ही कुशलता है।

कुशलता के साथ कोमलता का संयोग सोने में सुगन्ध का काम देता है। अच्छा काम करने वाला देखने में भी अच्छा हो और बात करने में विनम्र, मधुर और मृदुल हो, तो उनकी कुशलता का महत्व और बढ़ जाता है। अत्यन्त कुशल व्यक्ति भी अगर स्वभाव से मृदुल नहीं है तो उसका सारा कौशल निरर्थक बन जाता है। कुशलता आंतरिक है और कोमलता बाहरी है। परमेश्वरी में पारमार्थिक कौशल है, इसलिए वह कुशला है। बाहर से उनकी आकृति अत्यन्त कोमल है, इसलिए वह "कोमलाकारा" हैं।

कुशलता और कोमलता के साथ साथ कर्मठता भी आवश्यक है। परमेश्वरी के अगले नाम "कुरुकुल्ला" में इसी कर्मठता की ओर संकेत है। श्री विद्या की परिभाषा में कुरुकुल्ला एक देवता का नाम है जो श्री चक्र में विमर्शमय सरोवर की अधिष्ठात्री हैं। प्रकाश शिव का प्रतीक है तो विमर्श शक्ति का प्रतीक बनता है। प्रकाश अव्यक्त, अमूर्त और

सूक्ष्म होता है जबकि विमर्श उसी का साकार, प्रायोगिक और स्थूल रूप होता है। "कुरुकुल्ला" परम सत्य की इसी सात्विक अभिव्यक्ति का प्रतीक है।

कुशला, कोमलाकारा और कुरुकुल्ला—इन तीनों नामों में मानव जीवन के जो मूल तत्त्व बताए जा चुके हैं, उन्हीं को सामूहिक अथवा सामासिक रूप में "कुल" कहा जाता है जिसकी अधीश्वरी देवी को "कुलेश्वरी" की संज्ञा दी गई है। मूलाधार की कुंडलिनी से लेकर सबसे ऊपर के सहस्रार तक चेतनता की जो चिन्मय धारा है, उसको संचालित करने वाली सुषुम्ना नाडी ही यह कुलेश्वरी है। परतंत्र शरीर के भीतर की स्वतंत्र चेता आत्मशक्ति के संचालन-तंत्र का ही नाम कुल है। मूलाधार इसका आधार है। इसलिए मूलाधार को इस कुल का कुंड कहा जाता है। यही कुल-कुंड शक्ति का केंद्र है और सुषुम्ना रूपी देवी का आलय है। यही बात "कुलकुंडालया" नाम से स्पष्ट होती है। शरीर में शक्ति के दो प्रधान केंद हैं—मूलाधार और ललाट। मूलाधार में कुल-कुंड है और ललाट में चिदग्नि कुंड है। पहला प्रायः निद्राण और निश्चेष्ट रहता है जिसको जाग्रत करगे से चिदग्नि कुंड की चेतना जाग उठती है। इस प्रकार कुल-कुंड से चिदग्नि कुंड का सतत, सजग, सात्विक और स्वाभाविक सम्बन्ध है। इन दोनों को एक दूसरे से जोड़ने वाली सुषुम्ना नाडी ही कुलेश्वरी या कुल कुंडालया है। इसी को कौलिनी भी कहा जाता है।

इस कौलिनी की कुशलता, कोमलता और कर्मठता को हृदयंगम करके आंतरिक कुल और बाह्य कुवलय के बीच सामरस्य को आत्मसात् करने की आध्यात्मिक साधना को कौल मार्ग कहा जाता है। इसी को वामाचार भी कहा जाता है। तांत्रिक साधना में दो प्रकार के आचार या मार्ग प्रसिद्ध हैं—दक्षिणाचार और वामाचार। इन्हीं को क्रमशः समयाचार और कौलमार्ग भी कहा जाता है। समयाचार अथवा दक्षिणा-

चार में संयम प्रधान होता है। सांसारिक वासना को एकदम त्याग कर पारमार्थिक भावना से परम तत्त्व की उपासना करना ही दक्षिणाचार या समयाचार है। वामाचार या कौलमार्ग में इसके विपरीत लौकिक भोग और वासना का सेवन निर्लिप्त और निरपेक्ष भाव से किया जाता है। स्त्री का सहवास ही नहीं, बल्कि मांस, मदिरा या मत्स्य का सेवन भी कौलमार्ग के अनुयायियों के लिए निषिद्ध नहीं है। संसार में जितनी भोग की वस्तुएं हैं, उनको परमात्मा की देन समझ कर परिमित मात्रा में परमार्थ की साधना के रूप में स्वीकार करना कौल मार्गियों का लक्षण है। गृहस्थ और संन्यास आश्रम में जो अन्तर है, लगभग वही अन्तर कौल मार्ग और समयाचार में है। गृहस्थ का सांसारिक जीवन धर्म, अर्थ और काम के संतुलित सेवन से पावन बन जाता है। धर्म सम्मत काम को मंगलमय माना जाता है। काम वासना जब तक प्रेम-साधना में सहायक होती है, तब तक उसमें कोई बुराई नहीं है। लेकिन जब वह उचित मर्यादा को पार कर आतंक, अत्याचार और विश्रृंखलता का रूप धारण करती है, वह मानव को पशुतुल्य बना देती है। इसलिए सांसारिक भोग में जहाँ नर को नारायण बनाने वाला सहज सात्विक और सच्चा आनन्द मौजूद है, वहाँ वह नर को जानवर भी बना सकता है। यही खतरा कौल मार्ग में भी है। मार्ग में कोई दोष नहीं है, दोष मार्ग की मनोवृत्ति में है। इसलिए तत्परता और सतर्कता के साथ चलने से कौल मार्ग भी मंगलकर सिद्ध हो सकता है। समयाचार में इस प्रकार का कोई खतरा नहीं है और न कोई गलतफहमी भी है। कठिनाई केवल कठोर संयम के पालन में है। कठोर से कठोर और कर्मठ से कर्मठ तपस्वी भी कमज़ोरी के एक क्षण में परमार्थ के पथ से फिसल जाते हैं। समयाचार की साधना में इसी बात की सावधानी अपेक्षित है। दोनों मार्गों की तुलना करने पर दोनों मंगलकर मालूम पड़ते हैं और दोनों में सावधानी की आवश्यकता प्रतीत होती है। लेकिन भारतीय अध्यात्म और तंत्र के इतिहास में समयाचार अपेक्षाकृत अधिक सुगम और निरा-

पद पाया गया है जबकि वामाचार या कौल मार्ग की साधना में फिसलन और उलझन की गुंजाइश अधिक दिखाई पड़ती है। परन्तु परमेश्वरी दोनों मार्गों के अनुयायियों पर अपनी कृपा दृष्टि रखती हैं। इसलिए यहां पर देवी को "कौल मार्ग तत्पर सेविता" (कौल मार्ग के द्वारा तत्परता के साथ सेवित होने वाली) बताया गया है। इसी प्रकार इसी सहस्रनाम में अन्यत्र श्रीमाता को "समयाचार तत्परा" भी कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि मार्ग चाहे कुछ भी हो, तत्परता प्रधान है। काम से प्रेम महान् है और प्रेम से परम प्रेम रूपा भक्ति प्रधान है। सकाम प्रेम से निष्काम प्रेम अधिक मंगलकर है और शाश्वत सुख प्रदान करने वाला होता है। यही शाश्वत सुख दोनों मार्गों का ध्येय है। अन्तर केवल इतना ही है कि एक काम-सापेक्ष है और दूसरा काम-निरपेक्ष। काम रहित प्रेम दैवी लक्षण है जबकि प्रेम रहित काम आसुरी लक्षण है। प्रेम की विभिन्न भाव-भूमिकाओं को पार करने के बाद ही परमार्थ के परमा-नन्दमय भव्य भवन में प्रवेश मिलता है।

इस प्रकार परमेश्वरी की गोद में बैठकर इस परमानन्द का अनुभव करने वाले दो धन्य जीवियों का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

कुमार गणनाथांबा तुष्टिः पुष्टिर्मतिर्धृतिः।
शांतिः स्वस्तिमती कांतिर्नंदिनी विघ्ननाशिनी॥

आदि दम्पत्ति पार्वती और परमेश्वर के दो तेजस्वी पुत्र हैं—कुमार और गणेश। दोनों का जन्म अलौकिक, अस्वाभाविक जैसी परिस्थितियों में होता है। परमेश्वर के वीर्य से पार्वती की अपेक्षा के बिना गंगा और अग्नि के संयोग और सहयोग से कुमार का जन्म होता है और परमेश्वरी के संकल्प मात्र से परमेश्वर की जानकारी के बिना और उनकी अनुपस्थिति में गणेश का जन्म होता हैं। दोनों की आकृति भी विचित्र है।

कुमार के छह मुख हैं और गणेश का मुख हाथी के आकार का है। इसलिए उनको क्रमशः षडानन और गजानन कहा जाता है। कुमार को षडानन, षण्मुख, स्कन्द, सेनानी, कार्तिकेय, सुब्रह्मण्य आदि कई नामों से अभिहित किया जाता है। इसी प्रकार गणेश को गणपति, गणनाथ, विनायक, विघ्नेश्वर, विघ्नराज आदि कई नामों से प्रस्तुत और संस्तुत किया जाता है। दोनों की आराधना की जाती है। दोनों की उपासना विशिष्ट शास्त्रीय रीति से की जाती है। कुमार देव-सेना के प्रसिद्ध गणों के स्वामी हैं जबकि गणेश कैलास पर्वत के प्रथम गणों के अधिपति हैं। एक सेनापति हैं और दूसरे गणपति हैं। एक प्रतिरक्षा का कार्य भार संभालते हैं और दूसरे गृह कार्य संभालते हैं। दोनों में कौन माता-पिता के अधिक प्रिय हैं, यह कहना कठिन है। फिर भी मां के प्यारे गणेश, पिता के प्रिय कुमार से अधिक वरेण्य और पूज्य माने जाते हैं। इसीलिए किसी भी देवता की पूजा करते समय सबसे पहले गणेश की पूजा की जाती है। इसी परम्परा के कारण "श्री गणेंश" शब्द भी किसी कार्य के शुभारम्भ का द्योतक बन गया है। वास्तव में गणेश प्रणव के प्रतीक हैं। हाथी सूंड़, लम्बोदर, लम्बे-लम्बे कान, चूहे की सवारी, मोदक का स्वाद, सांप का जनेऊ, आदि इसी प्रणव तत्त्व की महिमा के परिचायक हैं। संसार की समस्त वाणी के प्रशस्त वर्णों का मूल प्रणव नाद है जो गजानन के मुंह से निकलता है। इस प्रणव तत्त्व के प्रचारक, प्रसारक और प्रबोधक हैं —कुमार स्वामी या सुब्रह्मण्य स्वामी। गणेश परब्रह्म के प्रतीक हैं तो कुमार उसके प्रतिपादक और प्रबोधक हैं। विश्व की विशाल विभूति के दो केन्द्र हैं—कुमार और गणेश। इन्हीं दो विशिष्ट पुत्रों की जननी परमेश्वरी को यहां पर "कुमार गणनाथांबा" कहा गया है।

इन दोनों को अपनी सन्तान के रूप में पाकर परमेश्वरी अपने आप में सन्तुष्ट रहती हैं, अपने को परिपुष्ट अनुभव करती हैं और अन्दर ही अन्दर आंतरिक आनन्द का अनुभव करती हैं। इस श्लोक

के सभी नाम इसी गुणावली को प्रकट करते हैं। "कुमार गणनाथांबा" पहला नाम है। उसके बाद तुष्टि, पुष्टि, मति, धृति, शान्ति, स्वस्ति, कान्ति आदि नाम आते हैं जो मां परमेश्वरी और उनकी दिव्य सन्तान की विशिष्टता को स्पष्ट करते हैं।

तुष्टि या सन्तोष जीवन में सफलता की बुनियाद है। इसी से पुष्टि भी मिलती है। अगर सन्तोष की भावना नहीं है तो चाहे कितनी भी सम्पत्ति का संग्रह किया जाए तो भी मन प्रसन्न नहीं रह सकता। प्रसन्न मन में ही परमार्थ का चिन्तन पल सकता है। उसी से जीवन में स्थिरता या धृति की भावना आ जाती है। सहज रूप में जो कुछ मिल जाए, उससे सन्तुष्ट होकर मन को प्रसन्न रखकर धीर-गम्भीर भावना से जीवन-यापन करने वाले प्राणी को ही शान्ति मिल सकती है।

यह शान्ति आन्तरिक है, बाहरी नहीं। बाहर के सुख से जो शान्ति मिलती है, वह क्षणभंगुर होती है। पर आन्तरिक गुण गरिमा और प्रसन्नता से जो शान्ति मिलती है, वप शाश्वत होती है, यह "स्वस्ति-मती" है। अस्ति (है) की भावना इसकी आधारशिला है। मैं हूं, यह है, इन सबके मूल में एक अविनश्वर आत्म तत्त्व है, वही आत्मा, पर-मात्मा का प्रतिरूप है। वास्तव में मैं उसी परमात्मा का अंश हूं, उसी से निकला हूं और उसी में लीन होना मेरा लक्ष्य है, वही इस जीवन की सार्थकता है और इस नश्वर शरीर की ईश्वरीय चरितार्थता है—इस प्रकार की भाव लहरी "स्वस्तिस्मती" की कृपा से प्रकट होती है। शांति पाठ और स्वस्त्ययन वेदों के अध्ययन के अभिन्न अंग हैं। प्रत्येक उप-निषद् के प्रारम्भ में और अन्त में शान्ति पाठ होता है। प्रत्येक शुभ कार्य के प्रारम्भ में स्वस्त्ययन किया जाता है। प्रणव नाद शान्ति पाठ का आलम्बन है और "अस्ति" की भावना स्वस्त्ययन का सार है। "ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः"; "स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्वदेवाः" आदि वैदिक मन्त्र इसी शान्ति और स्वस्ति की भावना को

उजागर करते हैं। इसी के उच्चारण, मनन और निदिध्यासन से शरीर में कान्ति आ जाती है, इससे आनन्द मिलता है और इसी से सारी विघ्न-बाधाएं दूर हो जाती हैं। इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में शान्ति, स्वस्ति-मती, कान्ति, नन्दिनी और विघ्ननाशिनी—ये जो पांच नाम हैं, इनसे परमेश्वरी की यही विजयी और विघ्ननाशिनी भावना प्रकट होती है। कुमार और गणेश की अनुकम्पा से साधक परमेश्वरी का साक्षात्कार कर सकता है। इसलिए वेद में गणेश को "उपमश्रवस्तम" परमार्थ या परमतत्त्व की निकट से निकट व्याख्या करने वाला सुभग, सुखद और सुकृत रूप) कहा गया है :

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे
कविं कवीनां उपमश्रवस्तमम्
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पति
मानश्रृण्वन्नूतिभिः सीदसादनम्

---

२४. सिद्धमाता यशस्विनी

प्रकाश और प्रेम की प्रतिमा परमेश्वरी की पावन भावना संसार की समस्त विघ्नबाधाओं को पल भर में दूर कर देती हैं। जहां विमल प्रकाश है, वहां अन्धकार प्रवेश नहीं कर सकता। जहां विशुद्ध प्रेम है, वहां ईर्ष्या, द्वेष, वासना आदि मलिन भावनाएं मन को कलुषित नहीं कर सकती हैं। परमेश्वरी का सान्निध्य प्रकाश और प्रेम के प्रसार में सहायक होता है क्योंकि वह स्वयं प्रकाश हैं, अपने ही प्रकाश से आलोकित हैं और उसी प्रकार से सारा संसार भी आलोकित होता है और प्रेम से पुलक उठता है। प्रेम और प्रकाश के इसी विस्तार का वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

तेजोवती त्रिनयना लोलाक्षी काम रूपिणी।
मालिनी हंसिनी माता मलयाचल वासिनी॥

पहला नाम है—तेजोवती। तेज प्रकाश का ही रूप है। तेज शारीरिक भी हो सकता है, मानसिक भी हो सकता है और आध्यात्मिक भी। शरीर की जो बाहरी सुषमा या शोभा है, वह प्रकाश या तेज का स्थूल रूप है। मानसिक तेज इससे सूक्ष्म होता है और भीतर हीं भीतर झलकता रहता है। विचारधारा, वाग्वैखरी और मुख-मुद्रा में तेज का यह मानसिक रूप प्रकट होता है। लेकिन इन दोनों से भी सूक्ष्म और प्रच्छन्न रूप से अन्दर ही अन्दर आलोक-मधुर आनन्द में अपने आपमें परिपूर्णता का अनुभव करने वाला एक अलौकिक तेज होता है जिसको

आध्यात्मिक कहा जा सकता है। इस प्रकार शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक-तीन उत्तरोत्तर उदात्त भूमिकाओं में प्रकट होने वाले तेज से विराजमान होने वाली होने के कारण परमेश्वरी को यहाँ 'तेजोवती' कहा गया है। इन्हीं तीन रूपों को क्रमश: ओज, तेज और द्युति भी कहा जाता है।

तेज या प्रकाश के ये तीन रूप ही देवी के तीन नेत्र या नयन हैं। इसीलिए उनको "त्रिनयना" कहा गया है। शंकर को भी त्रिनयन कहा जाता है। शंकर की सहचरी होने के कारण शांकरी को भी त्रिनयना कहा गया है। "नयन" शब्द केवल नेत्र का द्योतक नहीं है, बल्कि आगे बढ़ना, चलना और चलाना भी नयन कहा जाता है। आगे कदम रखने में मदद करने वाले होने के कारण ही नेत्रों को या आंखों को नयन कहा जाता है। परमेश्वरी के तीनों नयन इसी अर्थ में साधकों को साधना के पथ में आगे ले चलने वाले दिशा-दर्शक बनते हैं। साधना के मार्ग प्रमुख रूप से तीन हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। नि:स्वार्थ और निष्काम भावना से किया गया कर्म भी कर्मयोगी को जीवन के लक्ष्य की सिद्धि के योग्य बना सकता है और यह काम विवेकशील मन में उदित ज्ञान के सहारे भी सम्भव हो सकता है। कर्म ओर ज्ञान के द्वारा जो लक्ष्य सिद्ध होता है, वह विराट् प्रेम या भक्ति भावना के बल पर भी प्राप्त किया जा सकता है। जो भी मार्ग चुन लिया जाए, परमेश्वरी का सहारा उसी दिशा में और उसी रूप में साधना के स्वरूप और साधक के स्वभाव के अनुरूप मिल जाता है। तीनों मार्ग माता के लिए समान रूप से प्रिय हैं। ये तीनों उनकी तीन आंखों के समान है। लेकिन आंखों की ज्योति का सम्यग् विकास तभी सम्भव है जब तीनों आंखें समान रूप से विकसित हों और तीनों की चमक समान अनुपात में द्रष्टा को मिले। कर्म, ज्ञान और भक्ति का संतुलित और समरस संयोग ही सिद्धि के मार्ग को प्रशस्त और फलप्रद बना सकता है।

तीनों मार्गों को एक साथ और समान रूप से आलोकित करने के कारण श्रीमाता की आखें स्पंदनशील, गतिशील, चंचल या लोल दिखाई देती हैं और जिस दृष्टि से हम उनकी आंखों को देखते हैं, उसी रूप में वे हमें दिखाई देते हैं। यही बात लोलाक्षी और कामरूपिणी नामों से स्पष्ट होती है। कुछ लोग "लोलाक्षी कामरूपिणी" को एक ही नाम मानते हैं। वैचारिक एकसूत्रता ही इसका कारण है। जिस प्रकार घड़ी का लोलक दांईं, बांईं और बीच की बिन्दुओं को छूता हुआ डोलता रहता है और जल्दी-जल्दी घुमाने से सर्वत्र विराजमान-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार परमेश्वरी की दृष्टि साधना और ध्यान की तीनों बिन्दुओं में से गुजरती हुई दिखाई देती है। प्रातः, मध्याह्न और सायं की सूर्य कान्ति भी इसी प्रकार कर्म की निर्मलता, ज्ञान की प्रखरता और भक्ति की रंजकता को व्यक्त करती-सी लगती है।

तेजोवती माता के तीनों नयन सूर्य, चन्द्र और अग्नि के भीतर विभिन्न रूपों में विराजमान एक ही अभिन्न और अखंड तेज के तीन रूपों की ओर भी संकेत करते हैं। सूर्य के बिना दिन दयनीय बनता है और चन्द्रमा के बिना निशा नीरस लगती है। दिन-रात बाहर और भीतर अनेक रूपों में प्रज्वलित रहने वाली अग्नि के बिना संसार में एक क्षण भी सार्थक नहीं बन सकता। प्रकाश या तेज की ऊर्जा के ये तीनों रूप तेजोवती के तीन नयन हैं। एक ही प्रधान तेज कभी सूर्य का रूप धारण कर लोक को आलोक प्रदान करता है, कभी चन्द्रमा में चांदनी बनकर संसार को सुधा के सार का रसास्वादन कराता है और वही अखंड तेज आग बनकर अपनी उज्ज्वल ऊर्जा से उर्वी को उर्वर बनाता है। कर्मसाक्षी सूर्य सत्कर्म की ओर संसार को प्रेरित करता है तो सुधाकर चन्द्रमा वसुधा को प्रेम और भक्ति की सुधा से रसाप्लावित करता है और ज्वालमाला ज्ञान की ज्योति जगाकर जग के पग-पग को जगमगाती है। ये तीनों तत्त्व एक साथ विराजमान होते हैं। इसीलिए तेजोवती माता को लोलाक्षी भी कहा गया है और काम रूपिणी भी।

वह दोनों रूप एक साथ धारण करती हैं ।

मानव शरीर में तीन स्थानों से तेज का आविर्भाव देखा जा सकता है । सबसे प्रकट रूप से आंखों से तेज चमकता-सा दिखाई देता है । किसी वस्तु को देखने के लिए बाहर सूर्य का प्रकाश और आंखों में निसर्ग जनित निजी तेज आवश्यक है । जिनकी आंखों में यह तेज विद्यमान नहीं होता, उनको कुछ भी दिखाई नहीं देता । इसलिए आँखों की दृष्टि तेज का प्रधान स्थान है । दूसरा स्थान वाणी है । बात करते समय भीतर का तेज बाहर प्रकट होता है । वेदों में तो अक्षर को आलोक का अक्षय स्रोत बताया गया है । दृष्टि और वाणी के अतिरिक्त शारीरिक तेज का एक और अवस्थान है जो इन दोनों से अधिक सूक्ष्म है और वही निरन्तर चलने वाली सांस है । उच्छ्वास और निश्वास के रूप में मानव शरीर में दिन-रात चलने वाली सांस भी आंतरिक तेज का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है । इस प्रकार हमारी आंखों में, वाणी में और सांस में प्रकट होने वाला तेज भी तेजोवती माता को "त्रिनयना" सिद्ध करता है । इतने रूपों में, इतने स्थानों में एक साथ विराजमान होने वाली दीप्तिमती केवल लोलाक्षी और कामरूपिणी ही नहीं, बल्कि सारे शरीर को भीतर ही भीतर सुशोभित करने वाली माला या मालिनी भी हैं ।

माला पहनने वाली स्त्री को मालिनी कहा जाता है । यहां पर देवी को 'मालिनी' कहा गया है । इसलिए यह प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी माला है जो देवी पहने हुंई हैं । यह साधारण फूल माला या स्वर्णमाला या रत्नहार नहीं है । यह वर्णमाला है जिसमें संसार की समस्त भाषाओं के सभी स्वर पिरोये गए हैं । मानव की वाणी के ये सभी स्वर रंग-बिरंगे फूल हैं जबकि इन फूलों को हार का आकार प्रदान करने वाला धागा ही सांस है जो नाक के दोनों छेदों से बाहर निकलती और भीतर पहुंचती रहती है । सांस के रूप में चलने वाली हवा के बल पर ही आवाज़ निकलती है । यह हवा मूलाधार से लेकर नाक के रन्ध्रों

तक आने-जाने का एक रास्ता बनाकर चलती है। यह रास्ता हार का आकार लिए रहता है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाम की तीन नाड़ियों से यह सांस भीतर से बाहर और बाहर से भीतर चलती रहती है। यह रास्ता समय-समय पर बदलता भी रहता है। कभी सूर्यनाड़ी चलती है और कभी चन्द्रनाड़ी चलती है। इन दोनों को संचालित और नियन्त्रित करने वाली मुख्य नाड़ी सुषुम्ना है। योगी लोग इन तीनों नाड़ियों के संचालन को देख सकते हैं। योग दृष्टि से इसे देखने पर ऐसा लगता है कि कोई सुन्दर मराली या हंसिनी किसी सरस सरोवर में थिरकती-सी, नाचती-सी, बल खाती इठलाती चल रही है। इसीलिए इस बारीक आकार में चलने वाली देवी को "हंसिनी" कहा गया है। मालाकार में चलने वाली इसी मराली की ओर संकेत करते हुए इस सहस्रनाम के आरम्भ में कहा गया था—"मराली मन्दगमना महालावण्य शेवधि:"। बाद में इसी मराली को भक्तों के मानस में विचरण करने वाली हंसिका (भक्त मानस हंसिका) कहा गया है और यहां पर "हंसिनी" कहकर उसी अन्तरंगिणी की ओर संकेत किया जा रहा है।

मूलाधार से लेकर सहस्रार तक चलने वाली यह हंसिनी सबकी मां है, सबका पालन-पोषण करती हैं। जीवन तभी तक चलता है, जब तक सांस चलती है। इसलिए शरीर के भीतर ही जीवन के आधारभूत श्वास के रूप में श्रीमाता विराजमान् हैं। यहां पर देवी को श्रीमाता विश्व-माता आदि न कह कर केवल "माता" कहा गया है। मापने वाले व्यक्ति को भी माता कहा जा सकता है, चाहे वह पुरुष हो या स्त्री। हमारे भीतर श्वास के रूप में बैठी हुई मां हमारी सांसों को गिनती रहती हैं और माप पूरा होने के बाद माला चलाना बन्द कर देती हैं। इसलिए भी वह माता हैं। यह कितनी अजीब बात है कि जन्म देने वाली और पाल-पोस कर सब तरह से रखवाली करने वाली मां ही एक दिन अपनी सन्तान से मुंह मोड़ लेती है। मां की ममता भी काल की गति के सामने लाचार हो जाती है। पर जब तक सांस चलती है, मां का प्यार बराबर

मिलता है और इतना आनन्द आता है कि हम कहीं चन्दन के वन में स्वच्छंद समीर का स्वाद लेते हुए आराम से चल रहे हैं। जीवन का मधुर मोह जितना जिया जाए, उतना और जीने की ओर प्रेरित करता है। इसी मधुर मोह की ओर संकेत करता है, इस श्लोक का अन्तिम नाम—"मलयाचल वासिनी"।

श्रीमाता मलय पर्वत पर रहती हैं जहां चन्दन के पेड़ जगह-जगह पर लगे हैं। पहाड़ में पत्थर भी होते हैं। लेकिन चन्दन की सुगन्ध के कारण पत्थर भी परिमल का भंडार बन जाता है। यह मलयाचल कहीं सहस्रार तो नहीं है जहां से सिद्ध योगी अमृत की धारा को प्राप्त करते हैं और जी भरकर उसका रसास्वादन करते हैं। जहां देवी का निवास है, वह मलय पर्वत ही बनता है।

इस प्रकार प्रत्येक प्राणी के शरीर को मलयाचल बनाकर स्वयं ममता की मूर्ति बनकर विराजमान होने वाली श्रीमाता का चिन्मय सौंदर्य सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

सुमुखी नलिनी सुभ्रूः शोभना सुरनायिका।
काल कंठी कांतिमती क्षोभिणी सूक्ष्म रूपिणी॥

वह "सुमुखी" हैं, देखने में सुन्दर हैं और आराधना करने वाले साधकों के लिए सर्वदा और सर्वथा अनुकूल रहती हैं। वह केवल सुन्दर ही नहीं, बल्कि कोमल भी हैं, कमल जैसी कोमल। इसलिए उनको "नलिनी" कहा गया है। वह रस की खान हैं। देवी की सुन्दरता और कोमलता का सारा रहस्य उनकी भौंहों में है। उनकी भौंहें काली-काली और खूब सजी हुई लगती हैं। उनको देखने से दर्शकों के मन में पूज्य भावना का संचार होता है। माता का सौंदर्य शिशु के निर्मल मन में निर्लिप्त आनन्द का संचार कराता है। वास्तव में भौंहें ललाट और आंखों की शोभा बढ़ाती हैं। ऐसा लगता है कि ललाट के भीतर विराजमान

रुद्र-ग्रंथि से इन भौंहों का कोई रहस्यात्मक सम्बन्ध है। अगर ललाट रूद्र का लीलाधाम है तो भौंहें उस रूद्र के हाथ का धनुष तो नहीं है ? हो सकता है, भगवान् राम ने जिस धनुष को तोड़ कर विश्वमाता सीता को अपनी जीवन संगिनी बना ली, वह यही शिवचाप हो। इसीलिए देवी के सौंदर्य के सबसे प्रधान अंग के रूप में यहां भौंहों का वर्णन किया गया है और उनको "सुभ्रू" कहा गया है।

वह सब प्रकार से शोभा की निधि हैं, शुभ की भावना बढ़ाने वाली और अशुभ की भावना मिटाने वाली हैं, इसलिए वह "शोभना" हैं। वह समस्त संसार की शोभा बढ़ाने वाली हैं। वह समस्त देवी-देवताओं में अग्रणी या नायिका हैं। इसलिए उनको "सुर नायिका" कहा गया है। "सुर" शब्द स्वर का भी बोधक बन सकता है। तीनों नाडियों में जो स्वर चलता है, उसको संचालित करने वाली होने के कारण भी "सुर नायिका" नाम सार्थक सिद्ध होता है। अकारादि स्वरों का नेतृत्व करने वाली होने के कारण भी वह "सुर नायिका" कही जा सकती हैं। "सुर" शब्द तैंतीस संख्या का भी वाचक है। इसलिए तैंतीस करोड़ देवताओं की नायिका के रूप में भी देवी को यहां समझा जा सकता है।

स्वर का उद्‌गम कंठ होता है। कंठ से कमर तक का भाग शरीर का मध्य कूट कहा जाता है। इसी मध्यकूट में मलयाचल वासिनी का संचार होता है। मूलाधार से विशुद्धि चक्र तक के जो पांच चक्र हैं, वे क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश का प्रतिनिधित्व करते हैं। आकाश का रंग नीला होता है और यह विशुद्धि चक्र का मूल तत्त्व है। इसलिए विशुद्धि चक्र के पास अवस्थित होने के कारण कंठ भाग को नील कंठ या काल कंठ कहा जाता है। नील कंठ या काल कंठ शिव का द्योतक है तो "काल कंठी" नाम शिवानी या भवानी का वाचक बन जाता है। नीलिमा या कालिमा आकाश के अनंतत्व की ओर संकेत करती है। काल की तरह आकाश भी अनन्त है। इसी अनंत काल की नीलिमा से शोभित

सुन्दर कंठ से युक्त होने के कारण परमेश्वरी को "कालकंठी" कहा गया है।

कांति या प्रकाश आकाश का लक्षण है। इसलिए आकाश की तरह प्रकाशित होने वाली देवी को "कांतिमती" कहा गया है। अन्धकार को चीर कर कांति प्रकट होती है। निशा के साथ संघर्ष करके उषा दिन को जन्म देती है। इसलिए प्रकाश, कांति या तेज के प्रादुर्भाव के लिए संघर्ष या क्षोभ आवश्यक होता है। संध्या की लालिमा इसी संघर्ष या क्षोभ को प्रकट करती है। यह क्षोभ भी शोभामयी की ही देन है। इसलिए वह क्षोभिणी हैं। जब तक मूलाधार में विचलन, विक्षोभ और विवेक पैदा न हो तब तक विशुद्धि चक्र में विशुद्धता नहीं आती है। समस्त चेतना के मूल में यही विक्षोभ काम करता है, जिसको सूक्ष्म-रूपिणी परमेश्वरी अपने इष्ट जनों को अनुग्रह के रूप में प्रदान करती हैं। इसीलिए कहा जाता है कि जीवन में जो भी संकट आता है, वह विजय, मंगल और शुभ का सूचक होता है। संक्षोभ के बिना संतोष का स्वाद नहीं मिलता है।

इस प्रकार की चिकित्सा में परमेश्वरी वज्र का सा हृदय लेकर काम करती है। विषम परिस्थितियों के माध्यम से जीवन की सुषमा को प्रदर्शित करने वाली सिद्धमाता की यशस्विनी लीला का वर्णन अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

वज्रेश्वरी वामदेवी वयोवस्था विवर्जिता।
सिद्धेश्वरी सिद्धविद्या सिद्धमाता यशस्विनी ।।

अव्यक्त और सूक्ष्म रूप में सभी व्यक्तियों के साथ रहकर वज्र की तरह अभेद्य दृढ़ता के साथ सबकी रक्षा करने वाली देवी को वज्रेश्वरी कहा गया है। वह सभी विघ्नबाधाओं को दूर कर विषम को सुषम बनाती हैं, इसलिए वह 'वामदेवी' हैं। वही जीवन में पीड़ा देती है और वही पीडा को दूर भी करती हैं। वही दर्द हैं और दवा भी वहीं हैं।

काल सबको निगल लेता है, पर कालकंठी काल को भी अपने कंठ में समा लेती हैं। इसलिए अवस्था, आयु आदि भेद उन पर लागू नहीं होते। वह चिर यौवना हैं, समय निरपेक्षिणी हैं।

सभी सिद्धियों की अधिष्ठात्री, धात्री और प्रदात्री होने के कारण श्रीमाता को सिद्धेश्वरी, सिद्ध विद्या और सिद्धमाता कहा गया है। परमेश्वरी की भावना अपने आप में सिद्धि की परिचायिका है। संसार की समस्त विद्याओं का फल प्रदान करने वाली परमेश्वरी विद्याओं की तरह निरंतर बढ़ती ही रहती है। सिद्धि मार्ग में बढ़ना ही बढ़ना होता है, घटने का नाम तक नहीं होता।

"न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति।"

---

२५. समस्त भक्त सुखदा

संसार में सबकी समझ में आने वाला एक ही प्रत्यक्ष सत्य है और वह है—मातृत्व। मातृत्व को सिद्ध करने के लिए किसी बाहरी प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती है। वह प्रत्यक्ष प्रमाण है और स्वयं सिद्ध अस्तित्व है। जैसे प्रत्येक प्राणी को जन्म देने वाली एक जननी या माता होती है. उसी प्रकार समस्त संसार को जन्म देने वाली एक जगन्माता भी है जो सब की माँ है, मां की भी मां है, सबसे बड़ी मां है, सबका पालन-पोषण करती हैं और सबके साथ सबके भीतर और सबके चारों तरफ हमेशा रहती हैं। यही हमारी श्री माता हैं जिनकी सर्वांतर्यामिता को सिद्धेश्वरी, सिद्ध विद्या और सिद्धमाता कहकर स्वयं सिद्ध घोषित किया गया है। स्वयं सिद्ध सत्य के रूप में प्रत्येक प्राणी के भीतर प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में विद्यमान परमेश्वरी के पार्थिव और अपार्थिव स्वरूप की सांगोपांग व्याख्या श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक से प्रारम्भ होती है।

विशुद्धि चक्र निलया रक्त वर्णा त्रिलोचना।
खट्वांगादि प्रहरणा वदनैक समन्विता॥

जो देवी संसार के कण कण में आकाश, हवा, आग, पानी और मिट्टी में समाकर समासीन है, वही हमारे पाँच भौतिक शरीर के भीतर भी विराजमान हैं। बाहर की आँखों से बाहर की देवी दिखाई देती है और भीतर की आंखों से भीतर की देवी को आत्मसात् किया

जा सकता है । इस अंतर्दृष्टि से सम्पन्न आत्मयोगी इसी मिट्टी के शरीर में आत्मा का अविनश्वर रूप देख लेते हैं । सबसे पहले योगी का ध्यान कंठ पर जाता है जहां से आवाज निकलती है । हर प्राणी संसार में आते समय अपनी आवाज़ साथ लेकर आता है और जाते समय फिर अपनी इस आवाज़ को साथ लिए चलता है । आवाज़ और केवल आवाज़ उस की अपनी सम्पत्ति है । यही शोध और शुद्धि का आधार है और इसी में श्रीमाता अपना विशुद्धि चक्र बनाकर विराजमान होती हैं । मानव की चेतना में शोध, बोध और जिज्ञासा की भावना जगाकर उसको शुद्ध, बुद्ध और ज्ञानी बनाने वाली शक्ति उसकी वाणी में है । इसीलिए प्रत्येक प्राणी में वाणी के रूप में विराजमान परमेश्वरी के वर्णन के साथ इस प्रकरण का आरम्भ होता है ।

शरीर के उस भाग को जहां से आवाज़ निकलती है और जहां से व्यक्ति का व्यक्तित्व वाणी के माध्यम से व्यक्त होता है, विशुद्धि चक्र की संज्ञा दी गई है जहां पर परमेश्वरी एक ऐसा चक्र बनाकर रहती हैं जो बाहर से दिखाई नहीं देता है, पर मन की आंखों से देखने पर सोलह दलों का कमल जैसा दिखाई देता है । यह चक्र या कमल आकाश की तरह साफ खुला, खिला और रसोज्ज्वल दिखाई देता है । इसी चक्र में परमेश्वरी रहती हैं । इसीलिए उनको इस श्लोक के पहले नाम में "विशुद्धि चक्र निलया" बताया गया है । अगले नाम में इस विशुद्धि चक्र में विराजमान देवी का रूप रंग बताया जाता है । वह "आरक्त वर्णा" है । वह कोने में लाल हैं या कोने तक लाल हैं । जैसे दिन के आरम्भ में और अन्त में आसमान लाल रंग का हो जाता है, उसी प्रकार आकाश का प्रतिनिधित्व करते हुए प्राणी के शरीर में कंठ भाग में प्रतिष्ठित परमेश्वरी भी "आरक्त वर्णा" है । लालिमा देवी के लावण्य का लक्षण है । बाकी सभी रंग इसी के भीतर और इसी के आसपास हैं । कभी नीला, कभी सफेद और कभी इन्द्रधनुष की बहुरंगी शोभा प्रदर्शित करने वाला आकाश मूलतः लाल है जो सुबह शाम अपनी

लाली दिखाकर योगियों को ध्यान-मग्न बना देता है।

अगला नाम है—"त्रिलोचना"। विशुद्धि चक्र में आकाश के तत्व को अपने भीतर समाकर वाणी के रूप में विराजमान देवी की तीन आंखें हैं—दो देखने के लिए और एक दिखाने के लिए। वैसे देखने के लिए एक ही आँख काफी है, पर प्रत्येक प्राणी को दो आंखें दी गई हैं। एक से सत्य दिखाई देता है और दूसरी आँख सौंदर्य का साक्षात्कार करती है। सुंदर सत्य कितना अच्छा लगता है। अगर इस में शिव तत्व का भी समावेश हो तो सत्य और सौंदर्य लोक कल्याणकारिणी शिव साधना में सार्थक बन जाते हैं। यह काम परमेश्वरी की तीसरी आंख करती है। इस प्रकार देवी की तीन आंखों में मनुष्य की वाणी के तीन मंगलमय तत्व—सत्य, सौंदर्य और शिवात्मकता—प्रकट होते हैं।

वागीश्वरी देवी जैसे वाणी के विलास में सहयोग देती हैं, वैसे आसुरी शक्तियों से उसकी रक्षा भी करती हैं। वर्णमाला के जो स्वर हैं और मानव के मुंह से जो स्वर निकलते हैं, ये ही सुर या देवता हैं। जो भी मंगलमय विचार होते हैं, वे स्वर की शोभा बढ़ाते हैं और अमंगलमय विचार वाणी को कलुषित बनाते हैं। इन आसुरी और अमंगलकर प्रवृत्तियों से वाणी की रक्षा करने के लिए परमेश्वरी खट्वाँग जैसे आयुध धारण करती हैं। मानव शरीर की खोपड़ी को खट्वांग कहा जाता है। खट्वांग नाम का एक साधक श्रीमद्भागवत में दिखाई देता है जिस के मन में पल भर में महान् परिवर्तन होता है और आत्म ज्ञान की प्राप्ति होती है। मानव के मस्तिष्क में देवता बनने की शक्ति भी है और राक्षस बनने का खतरा भी। परमेश्वरी की कृपा से मानव अपने मस्तिष्क के बल पर महान् बन सकता है।

अगला नाम है—"वदनैक समन्विता"। विशुद्धि चक्र में विराजमान देवी का एक ही मुख है। यही आकाश है। आकाश ही उन का

आनन या बदन है। शब्द आकाश का लक्षण है और वही परमात्मा का परिधान है। कंठ से कमर तक इस प्रकार के पाँच चक्र या कमल होते हैं जिनका उल्लेख अगले श्लोकों में होता है। इन पाँच चक्रों में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के तत्त्व विद्यमान होते हैं। इनमें पहला तत्त्व आकाश विशुद्धि चक्र में उपस्थित होता है।

एक मुंह, तीन आंखें, लाल रंग खट्वांग आयुध आदि लक्षणों से युक्त परमेश्वरी के आहार, विहार और व्यवहार के बारे में अगला श्लोक कुछ और जानकारी प्रस्तुत करता है :

पायसान्नप्रिया त्वक्स्था पशुलोक भयंकरी।
अमृतादि महाशक्ति संवृता डाकिनीश्वरी।

विशुद्धि चक्र की देवी को खीर से बहुत प्यार है। इसलिए उनको खीर या पायस का नैवेद्य चढ़ाया जाता है। हो सकता है, खीर या पायस के सेवन से शुद्ध वाणी की सिद्धि होती हो।

मानव शरीर में त्वचा, रक्त, माँस आदि सात जीवाँश या तत्व हैं जो परमेश्वरी के विभिन्न स्थानों को विशेष रूप से आवासित करते हैं। विशुद्धि चक्र में इन में से पहला तत्व—त्वचा या चर्म रहता है। त्वचा के रूप में यहाँ परमेश्वरी रहती हैं। लेकिन इस त्वचा में पशुता नहीं है, पेशलता है, कोमलता है, दिव्यता है। कंठ भाग की त्वचा की यही विशेषता है। उसमें अमृत भरा रहता है। तभी तो कंठ से सुरीली आवाज़ निकलती है जो मानव के मन से पशुता को भगाकर उस में मधुरिमा भर देती है। इसीलिए यहां की देवी को "त्वक्स्था" (त्वचा में रहने वाली) और "पशुलोक भयंकरी" (पशुजगत् को डराने वाली) कहा गया है।

पाशविकता को नष्ट करने के साथ-साथ विशुद्धि चक्र की देवी अमृतमयी भावना के माध्यम से मर्त्य को अमर बना देती है। अमृता-

कर्षिणी एक योगिनी का नाम है जो परमेश्वरी का साथ देती हैं। इस प्रकार की अन्य सहयोगिनियां भी हैं जो संख्या में सोलह हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, चित्त, धैर्य, स्मृति, नाम, बीज, आत्मा, अमृत, शरीर, काम, बुद्धि और अहंकार की ये अधिष्ठात्री देवताएं हैं जो विशुद्धि चक्र के आस-पास सोलह दल वाले कमल में रहकर परमेश्वरी की पारमार्थिक भावना में सहयोग देती हैं। इसीलिए देवी को "अमृतादि महाशक्ति संवृता" कहा गया है।

प्रत्येक चक्र में देवी किसी एक विशिष्ट अक्षर या वर्ण के साथ संपृक्त होती हैं। इसी वर्ण के अनुसार उन का नाम डाकिनी, राकिनी, लाकिनी आदि हो जाता है। इसी क्रम में विशुद्धि चक्र में देवी "डाकिनी" के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसीलिए इस श्लोक का अंतिम नाम "डाकिनीश्वरी" है।

विशुद्धि चक्र के बाद अनाहत चक्र आता है जो कंठ से नीचे हृदय के आसपास होता है। इसी से अनहद नाद निकलता है। सारे शरीर में रक्त और प्राण का संचार यहीं से होता है। एक प्रकार से यह शरीर रूपी क्षेत्र के लिए सिंचाई का स्रोत है। दिल की धड़कन में यह अनाहत नाद सुनाई देता है। वाल्मीकि रामायण में पंपा सरोवर का वर्णन इसी अनाहत के रहस्य को उद्घोषित करता है। इस अनाहत चक्र का वर्णन सहस्रनाम के अगले दो श्लोकों में प्रस्तुत है :

अनाहताब्ज निलया श्यामाभा वदन द्वया।
दंष्ट्रोज्वलाक्षमालादिधरा रुधिर संस्थिता॥
काल रात्र्यादि शक्त्यौघवृ स्निग्तधोदन प्रिया।
महावीरेन्द्र वरदा राकिन्यंबा स्वरूपिणी॥

हृदय के आस पास रुधिर सरोवर में निवास करने वाली परमेश्वरी श्याम वर्ण की होती हैं। ठंडे मौसम में गरमी और गरमी के मौसम में

ठंडाई पहुंचाने वाली और सुनहली शोभा से युक्त सुन्दर नारी को श्यामा कहा जाता है। हृदयेश्वरी में इसी प्रकार की विशेषता है। शरीर के प्रत्येक कण में आवश्यकतानुसार अपेक्षित मात्रा में रक्त और प्राण वायु का संचार करनेवाली देवी को यहां "श्यामाभा" कहा गया है।

यहां की देवी के दो मुख हैं—आकाश और वायु। हृदय में जो शून्य स्थान है, यही दहराकाश है। फेफड़ों में जो हवा भरती और निकलती रहती है, वही वायु तत्व है। आकाश से शब्द और हवा से स्पर्श का अनुभव होता है। इसलिए शब्द और स्पर्श यहां की देवी के दो चेहरे हैं जिन को ये दोनों तत्व आकाश और वायु से मिलते हैं।

अनाहत चक्र की देवी के दांत बहुत चमकीले होते हैं और वह अपने गले में रुद्राक्ष आदि मालाएं धारण किए रहती हैं। इसीलिए उन को "द्रंष्ट्रोज्वला और "अक्षमालादिधरा" कहा गया है।

वह रक्त में रहती हैं। हृदय तो रुधिर का ही सरोवर है और इसी कारण से वह अनुराग या अनुरक्ति को बढावा देता है। विशुद्धि चक्र में त्वचा की प्रधानता है तो अनाहत में रुधिर की प्रचुरता है। इसीलिए अनाहत कमल में रहनेवाली देवी को "रुधिर संस्थिता" कहा गया है।

"काल रात्रि" आदि बाहरी शक्तियों से यह देवी आवृत रहती हैं। इन्हीं शक्तियों से परमेश्वरी काल का संचालन करती हैं। दिल की धड़कनों की संख्या पर भी ये शक्तियां काबू रखती हैं। काली रात और सुनहली शाम दोनों को घटित करने की शक्ति परमेश्वरी में है जो हृदय को अपना सदन बना कर जीवन की घड़ियों पर निगरानी रखती हैं।

अनाहत की देवी को स्निग्ध भोजन (घी से भीगा पकवान) अच्छा लगता है। स्नेह से स्निग्ध बनता है। "स्नेह" शब्द के दो अर्थ हैं—तेल और प्रेम। तैलाक्त या घी से बना हुआ अन्न खाने से देवी में खिलाने वाले के प्रति प्रेम या अनुराग पैदा होता हैं। यह भी एक सनातन सत्य है कि स्नेह देने से स्नेह मिलता है। प्रेम से प्रेम पलता है और

बढ़ता है। प्रेम और स्नेह की भावना हृदय में ही पनपती है और यह हृदय प्रेम देवी का प्रिय मन्दिर है।

जिन के मन में प्रेम होता है, उनकी बातें भी मीठी होती हैं, महान् होती हैं। इस प्रकार की उदात्त वाणी से संपन्न व्यक्तियों को यहां "महावीर" कहा गया है। "वीर" शब्द केवल पराक्रम का ही नहीं, बल्कि पद-सम्पदा का भी द्योतक है। विशिष्ट ईरण (वाणी) से सुशोभित होने के कारण इन को 'वीर' कहा जाता है। ऐसे महान वीरों के स्वामियों को भी परमेश्वरी अपने अभय हस्त से वरदान देती हैं। देवी के वरदान से महामनीषियों की वाणी महती प्रतिभा का प्रकाश फैलाती है। "महावीरेन्द्र वरदा"—इस नाम से यही संकेत मिलता है।

अन्त में अनाहत कमल की अधिवासिनी देवी को राकिनी माँ कहा गया है। विशुद्धि चक्र की डाकिनी अनाहत में राकिनी बन जाती है। राकिन्यंबा स्वरूपिणी में अग्नि का बीज होता है। इसलिए वह र-कार के द्वारा उपास्य है।

इसके बाद नाभि स्थान में निवास करनेवाली देवी को मणिपूर की सुमंगली के रूप में प्रस्तुत किया जाता है:

मणिपूराब्ज निलया वदनत्रय संयुता।
वज्रादिकायुधोपेता डामर्यादिभिरावृता॥
रक्त वर्णा मांस निष्ठा गुडान्न प्रीतमानसा।
समस्त भक्त सुखदा लाकिन्यंबा स्वरूपिणी॥

मणिपूर का चक्र नाभि-कमल के पास रहता है। यहां की अधिष्ठात्री देवी के तीन मुख हैं—आकाश, वायु और अग्नि। इनके तीन लक्षण हैं—शब्द, स्पर्श और रूप। शब्द और स्पर्श पहले के दो—विशुद्धि और अनाहत—चक्रों में भी विद्यमान हैं। मणिपूर चक्र में रूप तत्व अतिरिक्त बन कर आया है। रूप अग्नि का लक्षण है। जब पेट में

जठराग्नि प्रज्वलित होती है तभी हमें भूख लगती है। यह जठराग्नि नाभि के पास ही है। जठर की विशेषता यह है कि यह आग भी है और पानी भी है। दोनों का मिला जुला सह अस्तित्व मणिपूर में होता है। पहले के दो चक्रों से आकाश और वायु के तत्व भी इस में सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार मणिपूर की भद्र महिला "वदनत्रय संयुता" बन जाती हैं।

इस देवी के पास वज्र-तुल्य आयुध हैं। वज्राघात से लोग एकदम भयभीत होते हैं। आदमी को जब डर लगता है तब मणिपूर चक्र या नाभि कमल पर चोट सी लगती है। इस देवी के चारों तरफ डामरी जैसी दस शक्तियाँ निवास करती हैं। डमरू की ध्वनि जैसी महिमा से ये शक्तियां सम्पन्न होती हैं। भोग और रोग का यही केन्द्र है।

इस देवी का रंग लाल है। विशुद्धि चक्र की देवी का रंग भी लाल है। पर वह आरक्त वर्ण है और यह रक्त वर्ण है। उसमें रक्त की छाया है और इसमें रक्त ही रक्त है। उसके कोने में रक्तिमा है और इसके कण-कण में लालिमा है।

जैसे विशुद्धि चक्र में त्वचा और अनाहत में रूधिर प्रधान हैं, वैसे मणिपूर में मांस प्रधान है। माँस के रूप में माता यहां पर बैठी रहती हैं—बड़ी निष्ठा के साथ। मांस के संवर्द्धन के लिए देवी गुडान्न को बहुत प्यार से खाती हैं। गुड से बना हुआ कोई भी खाद्य मणिपूर की देवी के लिए अत्यन्त प्रिय है। जो उनको गुड खिलाते हैं, उनको वह प्रसन्न रखती हैं और जो नहीं खिलाते हैं, उनकी भी वह उपेक्षा नहीं करतीं। सबको वह समान भाव से देखती हैं और सबको प्रसन्न रखती हैं। मणिपूर की इस महिषी का नाम है—"लाकिनी"। ल—कार के लावण्य और लालित्य से वह भरपूर रहती हैं।

इसके बाद स्वाधिष्ठान चक्र की अधिष्ठात्री देवी काकिनी का वर्णन

प्रस्तुत होता है :

स्वाधिष्ठानांबुजगता चतुर्वक्त्र मनोहरा।
शूलाद्यायुध सम्पन्ना पात वर्णातिगर्विता॥
मेदो निष्ठा मधुप्रीता बन्दिन्यादिसमन्विता।
दध्यन्नासक्त हृदया काकिनी रूपधारिणी॥

नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र रहता है जिसमें देवी चतुर्मुखी बन कर सुशोभित होती हैं। आकाश, हवा और आग के साथ-साथ पानी भी यहाँ मिल जाता है और इन्हीं तत्त्वों से शब्द, स्पर्श, रूप और रस के विषयों की यहां निष्पत्ति हो जाती है। ये ही देवी के चार मुख हैं। यह चतुरानना देवी शूल आदि आयुधों के सहारे अपनी पीठ की रक्षा करती हैं। रस तत्त्व की प्रधानता होने से देवी की आकृति अत्यन्त सरस दिखाई देती है और पीत वर्ण से यह नैसर्गिक शोभा और भी बढ़ जाती है। पीले-पीले रंग और मांसल शरीर से अपने सौंदर्य को निखरा हुआ पाकर वह भीतर ही भीतर पुलकित हो जाती हैं। उनको अपने सौंदर्य पर गर्व होता है। लेकिन यह सारा सौंदर्य मांसल है। मांस-पेशियों की यह मादकता मधु के सेवन से पोषण प्राप्त करती है। जो भी मधुर है, वह देवी को प्रिय है। लेकिन ममता का यह मधुर मोह मानव को बंधन में डाल देता है। इसीलिए मेदोनिष्ठ स्वाधिष्ठान में प्रतिष्ठित देवी को चारों ओर बंदिनी आदि देवताएं घेर कर रहती हैं। यहां की देवी को दही-भात वहुत अच्छा लगता है। दही-भात से पेट में ठंडक पहुंचती है और कभी-कभी तोंद के बढ़ जाने का भी डर रहता है। इसीलिए यहां देवी को "मेदोनिष्ठा" कहा गया है। इस देवी का नाम है—"काकिनी"। कौए को भी दही अच्छा लगता है। 'क' से काकिनी शब्द बनता है। क—कार ब्रह्म का वाचक है। इसलिए काकिनी समस्त सृष्टि की कार-यित्री बन जाती है।

अन्त में सबसे नीचे कमर के पास विद्यमान मूलाधार चक्र का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है :

मूलाधारांबुजारूढ़ा पंच वक्त्रा स्थि संस्थिता ।
अंकुशादि प्रहरणा वरदादि निषेविता ॥
मुद्गोदनासक्तचित्ता साकिन्यंबा स्वरूपिणी ॥

डेढ श्लोकों में और छह नामों में यहां मूलाधार का वर्णन है । मूलाधार समस्त योग साधना का आधार है । यहीं पर कुंडलिनी शक्ति गहरी नींद में मस्त पड़ी रहती है । जब तक इसको जगाया नहीं जाता तब तक भीतर की दैवी शक्ति का पता तक नहीं चलता । इसमें पांचों तत्त्व होते हैं । पर पृथ्वी तत्त्व प्रधान होता है । आकाश आदि पहले चार तत्त्व विशुद्धि आदि चार चक्रों में विद्यमान हैं । मूलाधार में पृथ्वी तत्त्व नया है । ये पांच तत्त्व ही मूलाधार कमल में रहने वाली देवी के पांच मुख हैं । इन पांच तत्त्वों में अन्तिम तत्त्व पृथ्वी का लक्षण 'गंध' है और यही मूलाधार का विशिष्ट लक्षण है । सुगन्ध या दुर्गन्ध या तो मुंह से निकलती है या मूलाधार से । मूलाधार की दुर्गन्ध को विशुद्धि की सुगन्ध में बदल लेना ही संसार की समस्त साधना का ध्येय है ।

मूलाधार कमल की देवी अस्थियों के रूप में रहती हैं । अंकुश इनका प्रमुख आयुध है । अंकुश के प्रहार से प्रगाढ़ निद्रा में प्रसुप्त कुंडलिनी शक्ति जाग्रत होती है । जैसे ही कुंडलिनी का जागरण होता है, परमेश्वरी का वरद हस्त साधक को प्राप्त होता है । ये ही वरद आदि देवताएं है, जिनसे देवी हमेशा घिरी हुई रहती हैं ।

मूलाधार की देवी को मूंगदाल की बनी खिचड़ी बहुत अच्छी लगती है । हो सकता है, इसमें तमोगुण को सात्विक बनाने की शक्ति मौजूद हो । यहां की देवी का नाम रखा गया है—साकिनी ।

इस प्रकार विशुद्धि चक्र से लेकर मूलाधार तक परमेश्वरी का रूप

सूक्ष्म से स्थूल की ओर अभियान करता हुआ दिखाई देता है। आकाश से पृथ्वी, शब्द से गन्ध, त्वचा (चर्म) से अस्थि (हड्डी), खीर से मूंग और डाकिनी से साकिनी का जो सोपान-क्रम है, यह विशेष ध्यान देने योग्य है। विशुद्धि चक्र की शब्द चेतना तक जब मूलाधार की पार्थिव वासना पहुंच जाती है तब वासना उपासना बन जाती है।

---

२६. पुण्य कीर्ति : पुण्य लभ्या

मानव-शरीर को माता का मंगल धाम मान कर साधना-पथ पर आगे बढ़ने की प्रवृत्ति श्री ललिता परमेश्वरी के चिन्मय आराधकों में विशेष रूप से पाई जाती है। शरीर के विभिन्न अंगों में देवी के विशिष्ट स्वरूपों की परिकल्पना इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। इस रूप-कल्पना में ललाट में आज्ञा-चक्र की भावना विशेष महत्त्व की है। यह भी ध्यान देने की बात है कि श्री ललिता सहस्रनाम में इन चक्रों के वर्णन-क्रम में आज्ञा-चक्र का वर्णन विशुद्धि, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधार के बाद आता है। इस प्रकार यह छठा चक्र होता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर इन छहों चक्रों में आज्ञा चक्र ही सबसे ऊपर का प्रतीत होता है और इस प्रकार इसका वर्णन नीचे के पांच चक्रों के बाद में करने में कुछ औचित्य का बोध नहीं हो पाता। पर वास्तविकता यह है कि कंठ से लेकर कमर तक जिस प्रकार विशुद्धि से लेकर मूलाधार तक आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के तत्त्व विद्यमान् होते हैं, लगभग उसी प्रकार कंठ से ललाट तक इन्हीं तत्त्वों का सूक्ष्म रूप गोचर होता है। कंठ में आकाश, मुख विवर में वायु, अग्नि और जल तथा नासिका में पृथ्वी तत्त्व के लक्षण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध का अनुभव किया जा सकता है। इन्हीं पांच तत्त्वों से परे दोनों भौंहों के बीच फाल भाग के आस-पास आज्ञा चक्र का कमल भीतर से खिला हुआ प्रतीत होता है। क्रोध और क्षमा दोनों का यह विलक्षण केन्द्र है। यहीं पर असंयत अवस्था में क्रोधानल और संयत तथा समाधिस्थ दशा में योगानल प्रकट होता है। शरीर के समस्त व्यापार इसी केन्द्र के आदेश, निदेश और अनुदेश पर संचालित होते हैं। दोनों आंखों को बन्द

करने पर मन के भीतर की यह तीसरी आंख खुल जाती है। इसी को रूद्र ग्रंथि का अवस्थान माना जाता है। मूलाधार के कामानल और मणिपूर के जठरानल पर जब काबू पाया जाता है, तब आज्ञा का योगानल प्रज्वलित होकर साधक के मुख को उज्ज्वल बना देता है। चिंतन, मनन और ध्यान के अभ्यास से आज्ञा चक्र का कमल खिलता है और उसके ऊपर प्रतिष्ठित सहस्रार का द्वार खुलता है। इसी आज्ञा-चक्र का वर्णन सहस्रनाम की अगली तीन पंक्तियां प्रस्तुत करती हैं :

आज्ञा चक्राब्ज निलया शुक्ल वर्णा षडानना।
मज्जा संस्था हंसवती मुख्य शक्ति समन्विता।
हरिद्रान्नैक रसिका, हाकिनी रूपधारिणी॥

पहले के पांच चक्रों की भांति आज्ञा चक्र को भी कमल बना कर रहने वाली कमलालया देवी यहां पर बिल्कुल सफेद रंग में दिखाई देती हैं। वास्तव में देवी का अपना कोई रंग नहीं होता। वह जहां रहती हैं, उसी का रंग वह अपना लेती हैं। कहीं लाल, कहीं पीली, कहीं नील और कहीं श्यामल दिखाई देने वाली परमेश्वरी समस्त शरीर को अपनी आज्ञा के अधीन संचालित करने वाले आज्ञा चक्र में शुक्ल वर्ण से अपनी धवलपुरी को और भी अधिक स्वच्छ, शुभ्र और सित हसित बनाती हैं। सफेद रंग सभी रंगों का समाहार प्रस्तुत करता है। इसीलिए यह श्वेत कमल देखने में पांडुर होने पर भी भीतर से वह बहुरंगी शोभा को अपने में समाए रहता है। यही शुक्ल वर्ण सहस्रार में जाकर "सर्व वर्ण" बन जाता है।

इस कमल में प्रतिष्ठित देवी के छह: मुख हैं। विशुद्धि से लेकर मूलाधार तक इन मुखों की संख्या एक-एक बढ़ जाती है और इस प्रकार आज्ञा चक्र में जाकर वह छह बन जाती है। पहले पांच मुख पांच तत्त्व या पांच तन्मात्राओं के द्योतक हैं जबकि आज्ञा चक्र के छह मुख काम, क्रोध आदि छह विकारों के प्रतीक हैं। इन सभी विकारों का उद्गम

यही है और यही इन विकारों को संस्कार प्रदान करने वाला परिशोधक और परिमार्जक साधन है। इस प्रकार साधना का सक्रिय सदन यही आज्ञा चक्र है। षडानन शब्द शिव के पुत्र कुमार स्वामी के लिए भी प्रयुक्त होता है। शिव कुमार भी सेनानी है और आज्ञाचक्र में प्रतिष्ठित देवी भी भीतर का संग्राम बड़ी कुशलता के साथ चलाती हैं और अन्त में धर्म की विजय कराती हैं। इसी अन्तर्युद्ध को कभी-कभी देवासुर संग्राम की संज्ञा दी जाती है। यह युद्ध मानव के ललाट पर स्पष्ट झलकता है। इसीलिए मन के समस्त विकार और विकास माथे पर प्रतिबिम्बित होते हैं।

यह सारी लड़ाई परमेश्वरी हमारे मन में बैठ कर चलाती हैं। इसीलिए उनको "मज्जा संस्था" कहा गया है। त्वचा, रक्त, मांस, मेदस् और अस्थि की तरह मज्जा भी शरीर की धातुओं में से एक है। माथे के भीतर इसका संचार होता है। यही आज्ञा देवी का आवास्य स्थान है। सोचना-विचारना, अच्छा-बुरा समझना मज्जा का लक्षण है। विचार मग्न व्यक्ति में यह मज्जा सक्रिय बन जाती है। इसीलिए मज्जा को "चिद्बिल्वफल" कहा जाता है। चित्त रूपी बेल का यह विलक्षण फल आज्ञा देवी को अत्यन्त प्रिय लगता है।

आज्ञा देवी के आश्रय में उनकी आज्ञा को सिर आंखों पर रखकर उनके इशारे पर काम करने वाली अनेक शक्तियों में हंसवती और क्षमावती प्रधान हैं। हंसवती उच्छवास और निश्वास के रूप में परम हंस परमात्मा की प्रतिनिधि बनकर व्यक्ति को विवेक प्रदान करती हैं और क्षमावती संयम और संतुलन का पाठ पढ़ाती हैं।

आज्ञा देवी को हल्दी का अन्न अच्छा लगता है। हल्दी शरीर को ही नहीं, बल्कि मन को भी निर्मल, नीरोग और निर्विकार बनाती है। हल्दी से मिश्रित अन्न का सेवन करने से इस देवी का नाम हाकिनी बन गया है।

आज्ञा चक्र में जिस कमल को हाकिनी देवी आवासित करती हैं, उसके दो ही दल हैं। इससे इस बात का आसानी से अनुमान लगाया जा सकता है कि "स" और "ह" ही ये दो दल हैं। यह स्मरणीय है कि विशुद्धि चक्र में सोलह, अनाहत में बारह, मणिपूर में दस, स्वाधिष्ठान में छह, मूलाधार में चार और आज्ञा में दो दल वाले कमल कमलालया देवी के आसन बन जाते हैं। इस प्रकार ये कुल मिलाकर पचास दल बन जाते हैं जो वर्णमाला के पचास अक्षरों के द्योतक हैं। अन्तिम दो दल "स" और "ह" के सहारे "सोऽहं" "सोऽहं" की हंस ध्वनि का मनोहर गीत सुनाते हैं। जो इस संगीत का आनन्द लेते हैं, उनके लिए सहस्रार कमल का मार्ग खुला मिलता है।

अगली तीन पंक्तियों में इसी सहस्रार का संक्षिप्त वर्णन है :

सहस्रदल पद्मस्था सर्व वर्णोपशोभिता।
सर्वायुध धरा शुक्ल संस्थिता सर्वतोमुखी ॥
सर्वौदन प्रीत चित्ता याकिन्यबा स्वरूपिणी ॥

इस वर्णन में सबसे पहले हज़ार दलों के कमल का वर्णन है। वास्तव में इस कमल के दलों की संख्या अनंत है। हज़ार केवल इस अनंतता का बोधक मात्र है। यहाँ की भाषा में असंख्य वर्ण समा जाते हैं और यहाँ की परिभाषा में संसार की समस्त परिकल्पनाएं परिणत बन जाती हैं। ललाट के ऊपर ब्रह्म रंध्र के नीचे खिले हुए इस कमल में सहस्र-परमा-देवी निवास करती हैं। उनके भीतर विशुद्धि चक्र से लेकर आज्ञा चक्र तक की सभी देवियों का रूप प्रत्यक्ष कर लिया जा सकता है। छह चक्रों से ऊपर मूर्द्धा में प्रतिष्ठित यह देवी सभी वर्णों से सुशोभित होती हैं। कोई रंग-रूप उनको सीमित या परिभाषित नहीं कर सकता। संसार के जितने अस्त्र-शस्त्र हैं, साधन-प्रशासन हैं और शक्ति-स्रोत हैं, सब उनके लिए स्वाधीन हैं। वह शुक्ल धातु में संचार करती हैं। शरीर को खड़ा करने वाली त्वचा, रक्त, मांस आदि सात धातुओं में शुक्ल सबसे सशक्त और तेजोवर्द्धक है। शरीर की वर्चस्विता इसी पर निर्भर रहती है।

ब्रह्मचर्य के नैष्ठिक अनुष्ठान से इसी की श्रीवृद्धि होती है और वास्तव में यही समस्त आध्यात्मिक साधना और तपस्या की बुनियाद है। मूलाधार में मनुष्य को उत्तेजित करने वाली काम वासना को जितना काबू में लाया जा सकता है, उतना ही ऊर्जस्वित उसका व्यक्तित्व बन जाता है और यही ऊर्ध्वरेता तपस्वियों की उर्वर ऊर्जा का आधार है। एक शब्द में कहना हो तो शुक्ल ही सत्त्व का सार है, शक्ति का स्रोत है और रस का रहस्य है। इसी शुक्ल में परमेश्वरी प्रतिष्ठित हैं।

"शुक्ल संस्थिता" देवी के अनेक मुख हैं। वह सब को सभी दिशाओं से देख सकती हैं। हम जिधर से देखें, वह हमें उधर से हमारी ही तरफ देखती हुई दिखाई देती हैं। इसीलिए उनको "सर्वतोमुखी" कहा गया गया है। सर्वतोमुखी देवी का आहार भी सर्वतोव्यापी है। विशुद्धि में पायस, अनाहत में घी, मणिपुर में गुड, स्वाधिष्ठान में दही, मूलाधार में मूंग और आज्ञा में हल्दी को पसन्द करने वाली देवी यहाँ पर सब कुछ पसन्द करती हैं। विभिन्न प्रकार के आहार का सार असल में यहीं पर पहुंच जाता है।

सहस्र दल वाले कमल में प्रतिष्ठित इस सर्वेश्वरी को "याकिनी माता" कहा जाता है। "या" कहने मात्र से इस देवी के कानों में आवाज़ पहुंच जाती है। जिस देवी को "सर्वभूतेषु" (सभी प्राणियों में) विद्या, श्रद्धा, लज्जा, निद्रा आदि कई रूपों में प्रतिष्ठित मान कर स्मरण, मनन और ध्यान किया जाता है, वही "या देवी" यहाँ पर "याकिनी" के रूप में प्रत्यक्ष होती हैं। इस देवी के वर्णन में एक श्लोक प्रसिद्ध है :

मुंड व्योमस्थ पद्मे दशशत दलके कर्णिका चंद्र संस्था।
रेतो निष्ठां समस्तायुध कलित करां सर्वतो वक्त्र पद्मा।

आदि क्षांतार्णं शक्ति प्रकट परिवृतां सर्व वर्णां भवानीं।
सर्वान्नासक्त चित्तां परशिव रसिकां याकिनीं भावयामः॥

वह मनुष्य के मस्तिष्क रूपी आकाश में निरन्तर विचरण करती हैं, हज़ार दल वाले कमल के भीतर चन्द्रमा की चन्द्रिका की तरह स्वच्छ और स्वच्छन्द शोभा से विराजमान होती हैं, व्यक्ति के सत्व सार में प्रतिष्ठित होकर वह सब प्रकार के आयुध अपने हाथ में लिए रहती हैं, वह सभी दिशाओं में एक साथ अपनी दृष्टि का प्रसार करती हैं, अ-कार से लेकर क्ष-कार तक की वर्णमाला में अमृत से लेकर क्षमा तक की जो अनंत शक्तियां हैं, सबको वह संकेत मात्र से प्रकट करती हैं, अनेक रूपों में और अनेक वर्णों में प्रकट होने वाली वह भवानी सब प्रकार के अन्न खाती हैं और परम शिव के साथ आनन्द की सहभागिनी बनकर समस्त जगत् को आनन्द का अनुभव कराती हैं।

चाहे किसी भी चक्र में हो, किसी भी रूप में हो देवी की आत्मा एक है, वही स्वात्मा है। अपनी आत्मा ही सब की आत्मा है और वही सर्वात्मा है। इस सार्वत्रिक भावना को देवी के स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास सहस्रनाम के अगले श्लोक में पाया जाता है :

स्वाहा स्वधा मतिर्मेधा श्रुतिस्मृतिरनुत्तमा।
पुण्य कीर्तिः पुण्य लभ्यां पुण्य श्रवण कीर्तनां ॥

देवताओं को संतुष्ट करने के लिए अग्नि में जो आहुति दी जाती है, उसके साथ "स्वाहा" शब्द का उच्चारण किया जाता है। प्रत्येक मंत्र का हवन में प्रयोग करते समय भी इसी मंत्र का उच्चारण किया जाता है। यह वास्तव में देवी देवताओं की परिभाषा में निबद्ध दिव्य मंत्र है। शरीर के विभिन्न अंगों में देवी के दिव्य स्वरूप की भावना करने के बाद "स्वाहा" के रूप में यहाँ देवी को प्रस्तुत किया जा रहा है। इस से स्पष्ट होता है कि यह भी एक भाव यज्ञ का रूप है। अपने सर्वस्व को सर्व मंगला के मंगलमय चरणों में अर्पित करते हुए यहाँ "स्वाहा" शब्द का प्रयोग किया गया है। देवी को भी अपनी ही आत्मा का अलौकिक और आदर्श रूप समझ कर देवी का उपासक यहाँ पर आत्म

समर्पण करता है। वास्तव में यह समर्पण अपने ही प्रति है और अपने ही द्वारा है। "स्व" (अपना) और "पर" (पराया) का भेद-भाव जहाँ मिट जाता है, वहीं पर यह "स्वाहा" की भावना संभव है। यह भी ध्यान देने की बात है कि यहाँ पर होता (हवन करने वाला) भी आत्मा है, हवि (हवन सामग्री) भी आत्मा है और देवता (आहुति स्वीकारने वाला) भी आत्मा है। आत्मा के प्रति आत्मा के द्वारा यह आत्म समर्पण अंतरंग की ऐच्छिक भावना से होता है।

इसी प्रकार पितरों को संतुष्ट करने वाले हवन में "स्वधा" शब्द का प्रयोग होता है। यह "स्वधा" भी देवी का स्वरूप है। स्वाहा और स्वधा आत्म समर्पण, आराधना और अनन्य भावना के द्योतक हैं। जब साधक को साध्य के साथ इस प्रकार के तादात्म्य की सिद्धि हो जाती है, तब वह "अमति" बन जाता है। उसे सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। अगर वह सोचना भी चाहे तो किस के बारे में सोचे। जिस के बारे में वह सोचने का प्रयास करता रहा, उसको वह अपने से अभिन्न समझ गया है। उसे बोध हो गया कि सोचने वाला और सोचा जाने वाला एक ही है। इस दशा में सोचने की क्रिया अपने आप बन्द हो जाती है। यही "अमति" है या मनस्विता के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली अमनस्क दशा है जिस को समाधि के समकक्ष माना जा सकता है। भक्ति भावना के माध्यम से भी यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है और ज्ञान, ध्यान और योग के माध्यम से भी। इसी माध्यम की ओर अगले दो नाम संकेत करते हैं।

परमेश्वरी की एकान्त भावना श्रुति के द्वारा भी संभव है और स्मृति के द्वारा भी। जो कुछ सुनने में आता है, वही श्रुति है। वेद वाङ्मय को अक्सर श्रुति की संज्ञा दी जाती है। भौतिक कानों से लौकिक बातें सुनने में आती हैं। महर्षियों के मन के कानों में महनीय और मननीय बातें और जीवन ची शाश्वत निधियां सुनाई देती हैं। यही "श्रुति" है।

सुनने योग्य बातें सुनने के बाद जो बातें याद रहती हैं और जिनको याद रखना आवश्यक और उपादेय समझा जाता है, वही "स्मृति" है। मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों के रूप में प्रसिद्ध हैं। परमेश्वरी की कृपा से ही श्रुति और स्मृति हमारे लिए सुलभ बन जाती हैं। यज्ञ-याग, तपस्या और स्वाध्याय, श्रुति और स्मृति—इन सब के माध्यम से जो परम पद पाने की जीवन भर अभिलाषा लिए आराधक अपने आराध्य की ओर बढ़ता है, वह सब से उत्तम पदवी है। उस से बढ़कर पाने योग्य और कोई पद नहीं है। इसीलिए इस पद की अधिष्ठात्री परमेश्वरी को यहाँ पर "अनुत्तमा" कहा गया है। परमेश्वरी का पदाभ्याश संसार के समस्त पदों से बढ़कर है। उसे पाने के बाद और कुछ पाने योग्य प्रतीत नहीं होता।

लेकिन इस पद की प्राप्ति बड़े भाग्य से होती है। जन्म-जन्मान्तर की साधना से जो पुण्य उपार्जित होता है, उसी के सहारे परमेश्वरी का साक्षात्कार सम्भव होता है। पुण्यजीवियों के लिए ही उनकी पुण्य कीर्ति सुलभ बन जाती है। यह पुण्य-भावना कैसे प्राप्त होती है, इसके लिए सरल उपाय बताया जाता है, इस प्रसंग के अन्तिम नाम में। श्रवण और कीर्तन दो ऐसे मार्ग हैं जो पथिक को अपने पथ में आगे ले जाते हैं और अन्त में उसको लक्ष्य तक पहुंचाते हैं। पहले सुनना चाहिए और फिर उस पर मनन करना चाहिए। श्रीमद्भागवत में जिस नवधा भक्ति का वर्णन किया गया है, उसमें भी सबसे पहले श्रवण और कीर्तन का उल्लेख मिलता है। अच्छी बातें सुनना और उनको अच्छी तरह समझ कर अपनाना अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिए सीधा और आसान तरीका है।

इस प्रकार की साधना की फलश्रुति सहस्रनाम की अगली तीन पंक्तियों में बताई जाती है :

पुलोमजार्चिता बंध मोचनी बर्बरालका ॥
विमर्श रूपिणी विद्या वियदादि जगत्प्रसूः ।
सर्वव्याधि प्रशमनी सर्वमृत्यु निवारिणी ॥

पुलोम की पुत्री और इन्द्र की पत्नी शची रानी जैसी भद्र महिलाओं ने देवी की उपासना करके अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लिया है। इसके लिए देवी भागवत में एक कहानी है। जब नहुष स्वर्ग का स्वामी बन गया था, तब शची रानी ने देवी को दिव्य मन्त्रों से और मन्त्रपूत अर्चना से प्रसन्न बनाकर अपने पति को फिर से स्वर्ग का स्वामी बना लिया था। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति देवी की कृपा से बन्धन-मुक्त बन सकता है। देवी की अलकावली में यह शक्ति है। उनकी जटिल जटा का प्रत्येक केश एक-एक अक्षय कोश के समान है। उनकी नीली घुंघराली केश सज्जा में जितनी जटिलता है, उतनी ही पटुता है और उतनी ही मृदुलता है।

जिन पर उनकी कृपा दृष्टि है, उनको किसी भी प्रकार की बीमारी नहीं हो सकती और किसी भी प्रकार की मृत्यु उनको छू नहीं सकती। वह ज्वरग्रस्त होकर भी विगतज्वर रहता है और मर कर भी अमर बन जाता है। परमेश्वरी की पद-सम्पदा में और आकाश को आलोकित करने वाली उनकी अलौकिक केश सज्जा में यह संजीवनी शक्ति है।

---

२७. कात्यायनी कालहंत्री

विमर्शरूपिणी विद्या के रूप में विश्व में सर्वत्र विद्यमान श्रीमाता सकल चराचर सृष्टि में सबसे आगे है। उनसे आगे कुछ नहीं है। जो कुछ संसार में दिखाई देता है, वह सब जगन्माता की सृष्टि है। उनके द्वारा जो कुछ सृजाया गया है, वही सृष्टि हमारे सामने दृष्टिगोचर होती है। इसलिए सारी सृष्टि और दृष्टि के मूलाधार के रूप में संसार में संचरित होने वाली सर्वेश्वरी के स्वरूप ओर स्वभाव को हम परिभाषित नहीं कर पाते और न उसके बारे में सोच भी पाते हैं क्योंकि परिभाषित करने वाली वाणी और परिभावित करने वाला मन उन्ही की विमर्श-रूपिणी विद्या और वैविध्यपूर्ण रचना के अंग हैं। परम तत्त्व को समझने के लिए हमारे पास जितने भी साधन उपलब्ध हैं, वे सब परमेश्वरी के ही द्वारा प्रदत्त प्राकृतिक उपकरण हैं। इसलिए विश्व को समझना ही विश्वमाता को समझना है। वास्तव में विश्व के कण-कण में विश्वात्मा के रूप में विश्वमाता विद्यमान हैं। उनके मनन, ध्यान और स्मरण की महिमा का वर्णन करते हुए श्री ललिता महस्रनाम का अगला श्लोक कहता है :

अग्रगण्यार्चित्यरूपा कलिकल्मषनाशिनी।
कात्यायनी कालहन्त्री कमलाक्ष निषेविता॥

मूलाधार से लेकर सहस्रार तक शरीर की जितनी यौगिक संरचना है, उससे ऊपर परमेश्वरी का वरिष्ठ आसन है। इसीलिए वह "अग्र-

गण्या" हैं। अन्न से लेकर आनन्द तक मानव चेतना के जो पांच कोश हैं, इनसे भी ऊपर उनका निवास है। पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पृथ्वी, जल आदि पांच तत्त्व, शब्द, स्पर्श आदि उनके पांच लक्षण और चार अन्तःकरण इन सबसे परे परमेश्वरी की रूप कल्पना सम्भव हो जाती है। इसलिए संसार के समस्त रूप, समस्त नाम, समस्त कर्म और समस्त विचार उसी मूल स्रोत से निकले हुए है। हम हैं, रहते हैं, बनते हैं, बोलते हैं, करते हैं, सोचते हैं, चाहते हैं, बढ़ते हैं, घटते हैं, मिटते हैं और मर-मिटकर भी अमर और अमिट रहते हैं, इन सब चेष्टाओं के पीछे जो अटल प्रतिष्ठा है, वही अग्रगण्या परमेश्वरी हैं। उनके बिना कुछ नहीं है, पर सबके बिना वह रह सकती हैं, पर सबके साथ रहती हैं और सबको साथ ले चलती हैं। हम बैठते हैं तो वह हमारे साथ बैठती हैं। हम सोते हैं तो वह हमारे साथ सोती हैं। हम सोचते हैं तो वह हमारे साथ सोचती हैं। इसीलिए हम उनके बारे में सोच नहीं पाते। वह हमारे चिंतन के साथ एकाकार हैं।

इसीलिए मां ललिता को "अचिन्त्य रूपा" कहा गया है। परमेश्वरी की रूप-कल्पना केवल चिन्तन के सहारे सम्भव नहीं है क्योंकि हमारे चिन्तन को सहारा देने वाली वह स्वयं हैं। उनके बिना हम किसी भी विषय का चिन्तन नहीं कर पाते। चिन्तन चिन्तनीय या चिन्त्य नहीं हो सकता। चिन्तन की शक्ति या चिन्तन की क्रिया ही परमेश्वरी हैं। इसीलिए वह अचिन्त्यरूपा हैं।

लेकिन इसमें एक चमत्कार है। जब तक हम अन्यान्य विषयों के बारे में सोचते रहते हैं तब तक मन कलुषित होता रहता है। लेकिन जब हम चिन्तन के बारे में ही चिन्तन करने लगते हैं, मन की मनस्विता पर मनन करने लगते हैं या सोचने की प्रक्रिया पर सोचने लगते हैं तब पता चलता है कि इस चिन्तन, मनन या विचार के पीछे कौन-सी दैवी शक्ति छिपी हुई है। साथ-साथ मन की चंचलता का खोखलापन भी

भी स्पष्ट होने लगता है। इस प्रकार चिन्तन के बारे में चिन्तन करने से मन का मालिन्य धुलकर मन को निर्मल कमल की तरह विकसित कर देता है। कमल कीचड़ से ही उत्पन्न होता है, पर वह कीचड़ से जितना ऊपर उठ सकता है और अपने पत्तों को और फूलों को जितना निर्मल रख सकता है, उतना ही वह सुन्दर, मनोहर, पवित्र और पूज्य बन पाता है। मानव की मनस्विता भी इसी प्रकार सांसारिक पंक (कीचड़) से ऊपर उठकर ही पंकज (कमल) की शोभा प्राप्त कर सकता है। पंक और पंकज का जो सम्बन्ध है, वही शरीर और मन का है। शरीर रूपी पंक से मन रूपी पंकज को पृथक् करने में ही मानव-जीवन की सार्थकता है। तभी मन मालिन्य से दूर होकर माधुर्य के निकट पहुंच सकता है।

यही बात श्री ललिता परमेश्वरी का अगला नाम "कलिकल्मष-नाशिनी" स्पष्ट करता है। कलियुग की कलुषित भावना शरीर तक ही सीमित है। उसे मन तक नहीं पहुंचना चाहिए। बार बार समझाने पर भी मन शरीर की ओर ही अधिक आकृष्ट हुआ करता है, आत्मा की ओर वह आंख उठाकर देखने का प्रयास नहीं करता। एक बार आत्मा के सौंदर्य, आत्मा के वैभव और आत्मा के आनंद का पता लग जाए तो वह फिर शरीर की नश्वर वासनाओं में लिप्त नहीं होना चाहेगा। लेकिन आत्मा के आनंद-लोक में पहुंचना भर चाहिए। यह परमेश्वरी की कृपा से ही सम्भव है। पंकिल भावना ही कल्मष है जो केवल भावना से धुल सकता है। पंकिल को पंकज की पावनता में बदलने वाली परमेश्वरी बाहर और भीतर के समस्त मालिन्य को हटा कर आत्मा के अमलिन आनन्द का दिग्दर्शन कराती हैं।

यही बात अगले नाम "कात्यायनी" में भी प्रकारांतर से स्पष्ट की जाती है। कात्यायनी देवी का एक प्रसिद्ध नाम है। "कात्यायनाय विद्महे कन्यकुमारि धीमहि, तन्नो दुर्गीः प्रचोदयात्" कहकर मां दुर्गा के

भक्त अपनी आराध्य देवी को कात्यायन या कात्यायनी से सम्बद्ध करते हैं। वास्तव में कत नामक महर्षि की पुत्री होने के कारण देवी का नाम कात्यायनी हो गया है। लेकिन "कत" शब्द का प्रयोग एक ऐसे बीज या फली के अर्थ में होता है जिसको पानी में डालने से पानी की सारी गन्दगी मिट्टी सहित नीचे चली जाती है और पानी साफ हो जाता है। आज भी गांवों में पानी को साफ करने के लिए यह प्रक्रिया अपनाई जाती है। कत नामक ऋषि की भी यही विशेषता है। "कं जलं शुद्धं तनोति"—जल को शुद्ध बनाने वाला तत्त्व ही "कत" कहा जाता है। कत की पुत्री कात्यायनी में भी यही महिमा है। इसी अर्थ में यहां पर "कात्यायनी" शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसा कि ब्रह्मांड पुराण में ही अन्यत्र कहा गया है—

कृतस्याखिल पापस्य ज्ञानतोऽज्ञानतोपिवा।
प्रायश्चित्तं परं प्रोक्तं पराशक्तेः पदस्मृतिः॥

चाहे कोई भी पाप किया गया हो, जानबूझ कर किया गया हो या अनजान में, सभी पापों का एकमात्र प्रायश्चित यही है कि पराशक्ति परमेश्वरी के पावन चरणों का एक बार स्मरण किया जाए। देवी के श्रीचरणों का ध्यान करने मात्र से सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

जैसे कत वृक्ष की फली से पानी निर्मल बन जाता है, वैसे ही "कात्यायनी" के स्मरण मात्र से कलियुग का सारा कल्मष धुल जाता है और मन पवित्र बन जाता है। गलत काम करना आदमी का लक्षण है, पर गलती को स्वीकार करना आदमी की दिव्यता का परिचायक है। इसलिए देवी का नाम लेकर अपनी गलती को स्वीकार करने से साधक का अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और अतीत को वह एकदम भूल जाता है। कालिकापुराण के अनुसार कात्यायनी नाम की देवी ओड्याण पीठ की अधिष्ठात्री देवी हैं। ओड्याण पीठ भी ज्ञान और ध्यान का पीठ है। परमेश्वरी को पहचानकर उनका ध्यान करने से कोई भी पाप

व्यक्ति को छू नहीं सकता। एक तो वह गलत काम करेगा ही नहीं, जब उसको इस बात का ध्यान हो कि संसार में सर्वत्र सर्वेश्वरी का ही निवास है। अगर प्रमाद से ऐसा कुछ हो भी जाए तो वह परमेश्वरी के स्मरण मात्र से उससे मुक्त हो जाता है क्योंकि परमेश्वरी का ध्यान मन को शारीरिक भूमिका से ऊपर उठाकर आत्मा की अलौकिक भाव-भूमिका में ले जाता है।

जो व्यक्ति आत्मा के आनन्द-लोक में पहुंच जाता है, उसको देश और काल का बोध नहीं होता। वह देश-काल की सीमा से परे हो जाता है। यही बात देवी के अगले नाम "कालहंत्री" में व्यक्त की गई है। काल का हरण करने वाली देवी को यहां "कालहंत्री" कहा गया है। काल का हरण अविवेकी लोग भी कर लेते हैं। सुख-भोग और व्यर्थ के वार्तालाप में बहुत लोग अपना समय नष्ट करते पाये जाते हैं। यह भी एक प्रकार से काल-हरण है। पर योगी लोग दूसरे प्रकार से काल का हरण करते हैं। आत्मचिंतन, मनन और ध्यान में जितना समय व्यतीत होता है, उसका बोध योगी को नहीं होता क्योंकि वह उतना समय संसार में नहीं बिताता, बल्कि संसार में रहते हुए भी संसार से अलग एक अलग संसार में, भीतर की दुनिया में, बिताता है जिसमें काल का कोई महत्त्व नहीं होता। योगियों का यही काल-हरण काव्य शास्त्र में "सद्य: पर निवृत्ति" (थोड़ी देर के लिए अपने आपको भूल जाना) कहा गया है और योगशास्त्र में ध्यान या समाधि के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों अनु-भूतियां आत्मानन्द की ओर ले जाने वाली हैं। पर लौकिक विषय-वासना के उपभोग में जो "काल-हरण" होता है, उससे मानव का मन आत्मा से दूर होता जाता है और शरीर से लिपट कर शरीर को ही खा जाता है। एक विकास की ओर ले जाता है और दूसरा विनाश की ओर। लेकिन विकास या श्रेय के मार्ग में उपलब्धि बहुत देर से होती है और विनाश या प्रेय के मार्ग में तत्काल क्षणभंगुर सुख मिल जाता है। इसीलिए अधिकांश लोग आत्मिक काल हरण को छोड़कर लौकिक काल-

हरण की ओर प्रवृत्त होते हैं। जिन पर परमेश्वरी की कृपा हो, उन्हीं को निःश्रेयस का मार्ग मिल जाता है।

इन्हीं धन्य जीवियों को कमल नयन या कमलाक्ष माना गया है, देवी के अगले नाम "कमलाक्ष-निषेविता" में। चिंतन, मनन और ध्यान की महिमा व्यक्ति की आंखों में प्रतिबिंबित होती है। मन की निर्मलता आंखों में झलकती है। जिनकी आंखें कमल की तरह निर्मल हों, उनको आध्यात्मिक साधना में अग्रसर समझना चाहिए। ललाट और नेत्र भीतर की ज्योति के बाह्य परिचायक हैं। वैसे भगवान् विष्णु को भी कमलनयन या कमलाक्ष कहा जाता है। यह भी इसी अर्थ में है। भगवान् समदर्शी हैं और उनकी आंखों से सबके लिए दृष्टि मिल जाती है और पुष्टि भी प्राप्त होती है क्योंकि वह करुणामय हैं। इस प्रकार के कमलाक्ष से सेवित देवी को यहां "कमलाक्ष निषेविता" कहा गया है। पद्मपुराण में कहा गया है कि भगवान् विष्णु हमेशा इन्द्रनील की शोभा से विराजमान देवी की सेवा करते हैं और इसीलिए उनको विष्णुत्व की प्राप्ति हुई है। वास्तव में संसार में जो भी व्यक्ति परमेश्वरीं की परम रमणीय शोभा को हृदयंगम कर लेता है और पल-पल पर कण-कण में उसी दैवी भावना का साक्षात्कार कर लेता है वह भी भगवान् विष्णु की तरह अपनी आत्मा को सर्वजनीन, सार्वदेशिक और सार्वकालिक अनुभव करता है। यही सच्चे अर्थों में वैष्णव भावना है। सन्त कवि नरसी मेहता ने ठीक ही कहा था—"वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाने रे।" "आत्मवत् सर्वभूतानि", "ममात्मा सर्वभूतात्मा" आदि विचारों से जो अपनी आत्मा को विराट् विश्व में विस्तारित और वितरित अनुभव करते हैं और उसी रूप में विश्व को देखते हैं, वे भगवान् विष्णु कीं तरह "कमलाक्ष" कहे जाने योग्य हैं जिनके द्वारा निरन्तर निष्ठा के साथ सुसेवित होने के कारण देवी "कमलाक्षनिषेविता" कही गई हैं।

परमेश्वरी की यही आनन्दमयी भावना सहस्रनाम के अगले श्लोक में व्यक्त होती है :

तांबूलपूरितमुखी दाडिमीकुसुमप्रभा ।
मृगाक्षी मोहिनी मुख्या मृडानी मित्ररूपिणी ॥

परमेश्वरी प्रेमस्वरूपा हैं । उनके प्रत्येक अंग में, हाव-भाव में और रंग-ढंग में प्रेम ही प्रेम प्रतिफलित होता है । लाल-लाल ओठों से पान की लाली लहलहाती मनोहर रूप माधुरी में बेहद लाली भर देती है तो परमेश्वरी सारे संसार को प्रेम से परिपूर्ण बनाती।सी दिखाई देती हैं । यही बात इस श्लोक के पहले नाम (तांबूल पूरितमुखी) में व्यक्त की गई है । देवी का मुंह तांबूल या पान की सुगंध और लालिमा से न केवल मनोहर लगता है, बल्कि वह खुशबू और लाली दिगंत तक फैल जाती है । इसी सहस्रनाम के प्रारम्भ में देवी की तांबूल-महिमा का वर्णन करने वाला एक नाम आ चुका है—"कर्पूर वीटिकामोद समाकर्षि दिगंतरा" । देवी के पान में कपूर की जो खुशबू है, वह समस्त दिशाओं, प्रतिदिशाओं और विदिशाओं को अपनी ओर खींच लेती है । यह प्रेम का तांबूल है । आनन्द ही उसका आमोद (सौरभ) है और अनुराग ही उसकी रागिनी है ।

यह राग अगले नाम में भी सुनाई या दिखाई देता है । प्रेम को राग या अनुराग कहा जाता है । लाल रंग को भी राग कहा जाता है और संगीत की सुरीली आवाज़ को भी राग कहा जाता है । इन सभी अर्थों में रागवती देवी की रमणीय शोभा की तुलना इस नाम में अनार के फूल से की जाती है । अनार का फूल लाल रंग से भरपूर होता है और उसे देखते ही तबीयत खुश हो जाती है । इसी "अनार कली" में जो अनमोल सौंदर्य अनुराग और आनन्द है, वह परमेश्वरी की पार-दर्शिनी ओर पारलौकिक प्रेम भावना का प्रतीक है । इसीलिए यहाँ पर देवी को "दाडिमी कुसुम प्रभा" कहा गया है । यहां पर "कुसुम" शब्द

विशेष ध्यान देने योग्य है। दाडिम या अनार का फूल जितना सुन्दर होता है, उतना उसका फल नहीं होता। फूल या कुसुम की दशा में ही उसकी लालिमा मनमोहक लगती है। फल लगने पर उसकी सारी लालिमा अन्तर्मुखी हो जाती है। वह छिलके में बन्द हो जाती है। इसीलिए यहां पर "दाडिमी कुसुम" से देवी की प्रभा या शोभा की उपमा दी गई है, दाडिमी फल से नहीं। अनार के फूल कुछ ऐसे होते हैं जो फल का रूप धारण नहीं करते। फल की अपेक्षा न करने वाले फूल हमेशा लाल, मुलायम और देखने में मनोहर लगते हैं। अगर फल लगते हैं तो उनमें से फिर लाल-लाल बीज निकलते हैं जिनसे फिर ऐसे अनेक फूल खिलने की सम्भावना होती है। किसी भी स्थिति में दाडिम कुसुम (अनार का फूल) परमेश्वरी की प्रभा का निकटतम परिचायक है।

अगला नाम है—मृगाक्षी। हिरन की आंखें हमेशा चंचल होती हैं क्योंकि वह इधर-उधर किसी माधुर्य की खोज करती-सी लगती हैं। परमेश्वरी भी अपने भक्तों के निर्मल हृदय की खोज करती हैं। "मृग" शब्द भी "मृग्" धातु से निकला है जिसका मतलब है—खोजना। भगवती अपने भक्तों की खोज करती हैं, भक्तों के लिए उनको खोजने की आवश्यकता नहीं है। सदय हृदय और निर्मल मन जहां कहीं भी हो, परमेश्वरी पल भर में पहचान लेती हैं। जिनके हृदय में दया नहीं है और जिनके मन में निर्मल विचार नहीं है, उन पर वह नाराज़ नहीं होती हैं, बल्कि उनको यह महसूस करने नहीं देती हैं कि वे गलत रास्ते पर चल रहे हैं। उन पर मोह का परदा डाल कर वह मीठी नींद सुलाती हैं।

इसीलिए उनको "मोहिनी" कहा गया है। मोह की मीठी नींद सोने वाला व्यक्ति कभी-न-कभी अवश्य जागेगा। जब तक स्वाभाविक जागृति न हो तब तक "मोहिनी" देवी सोने वालों के सहज सुख में बाधा नहीं डालतीं। क्षीर सागर का जब मंथन हुआ था, तब उसमें

से मोहिनी के रूप में भगवान् विष्णु ही प्रकट हुए थे। समस्त संसार का मन मोहने वाले दिव्य सौंदर्य का सम्बल लेकर उन्होंने राक्षसों को सबक सिखाया था और देवताओं को अमर बनाया था। इससे यही बात स्पष्ट होती है कि संसार में माया-मोह का भी अपना प्रयोजन है। भगवती कभी-कभी मोहिनी बनकर अपने को न मानने वालों को भी प्रकारांतर से मनवाती हैं। इस प्रकार जागरणशील व्यक्तियों को खोज-खोज कर उनको अनुराग का आनन्द देना और निद्राप्रेमी भद्रपुरुषों को मोह निद्रा के माध्यम से ही जागरण का सच्चा सुख प्रदान करना मोहिनी माता का काम है।

अगला नाम है—"मुख्या"। देवी सबसे प्रमुख हैं और उन्हीं से सारी सृष्टि का आरम्भ होता है। मुख से जो उत्पन्न होता है, उसको भी मुख्य कहा जाता है। इस दृष्टि से मानव के मुंह से निकलने वाली वाणी को भी मुख्या कहा जा सकता है। मुखे मुखे सरस्वती—इस कथन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के मुंह में सरस्वती निवास करती हैं। वाणी संसार की समस्त समस्याओं का मूल है और उनके समाधान का भी। बातचीत से अनेक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है और असंयत भाषण से ही अधिकांश विवाद और संघर्ष पैदा हो जाते हैं। इसलिए वाणी मनुष्य की महत्वपूर्ण दैवी सम्पत्ति है जिसको यहां पर मुख्या नाम की देवी के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अगला नाम 'मृडानी' इस वाणी के प्रयोजन और वाग्देवी के स्वभाव को स्पष्ट करता है। 'मृड—सुखने' के अनुसार सुख प्रदान करने वाली देवी को मृडानी कहा जा सकता है। भगवान् शंकर को भी मृड कहा जाता है क्योंकि सुख देना ही शंकर का काम है। मृड की साध्वी होने के कारण सुख-प्रदायिनी देवी को यहां मृडानी कहा गया है। संसार की समस्त आध्यात्मिक साधना का चरम ध्येय शाश्वत सुख और शाश्वत शांति की प्राप्ति है। इसके लिए एकमात्र उपाय उपनिषदों ने

परम पुरुष और परा प्रकृति की परम कृपा का सम्बल बताया है। इसी आशय से देवी को यहां मृडानी कहा गया है।

इस श्लोक का अन्तिम नाम है—मित्ररूपिणी। परमेश्वरी सबके साथ मित्रवत् व्यवहार करती हैं। सच्चा मित्र वही है जो सुख-दुःख में समान रूप से साथ देता है। उसमें प्रतिफल की अपेक्षा तनिक भी नहीं रहती। प्रत्यक्ष देवता भगवान् भास्कर को भी मित्र कहा जाता है क्योंकि वह समस्त संसार का अभिन्न मित्र है। सूर्य की किरणें संसार के कोने-कोने में अनायास बिन मांगे और बिन चाहे अपने आप पहुंच जाती हैं। इसी प्रकार परमेश्वरी की कृपा सबको समान रूप से प्राप्त होती है। गरीब-अमीर' बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सब उनकी दृष्टि में समान हैं। सबके साथ अहेतुक मित्रता का व्यवहार करने के कारण विश्वमित्र भगवान् भास्कर की भांति विश्वमाता परमेश्वरी भी मित्ररूपिणी बन गई हैं।

"मित्रो दाधार पृथिवी मुतद्याम्"

———

२८. पराशक्तिः परानिष्ठा

श्री ललिता परमेश्वरी केवल मित्र रूपिणी ही नहीं, बल्कि प्रेम स्वरूपिणी भी हैं। उनका प्रेम लौकिक प्रेम की तरह क्षण में तृप्त होकर क्षण में लुप्त होने वाला नहीं है। वह निरंतर तृप्ति की भावना से परिपूर्ण रहता है क्योंकि वह किसी बाहरी सुख-संतोष पर निर्भर नहीं रहता। वह आन्तरिक और आत्यंतिक हैं। इसी निर्भर प्रेम भावना से भरपूर परमेश्वरी का पदाभ्याश प्राप्त करने का प्रशस्त मार्ग श्री ललिता सहस्त्र-नाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है :

नित्य तृप्ता भक्तनिधिर्नियन्त्री निखिलेश्वरी।
मैत्र्यादि वासना लभ्या महाप्रलय साक्षिणी॥

इस श्लोक में मां ललिता को सबसे पहले "नित्य तृप्ता" कहा गया है। वह हमेशा तृप्त रहती हैं। जहां अपेक्षा या आकांक्षा की भावना नहीं रहती है, वहां तृप्ति अपने आप प्राप्त होती है। इसीलिए गीता में अपने आप में अपने आप संतुष्ट रहने वाले व्यक्ति को "स्थित प्रज्ञ" की संज्ञा दी गई है। संतुष्टि या तृप्ति के जितने बाहरी साधन हैं, उनमें से कोई भी साधन अनन्त काल तक तृप्ति नहीं दे सकता। कुछ समय के बाद वह क्षीण हो जाता है और साथ ही तृप्ति भी लुप्त हो जाती है। लेकिन संतृप्ति का सच्चा और अक्षय स्रोत आत्मवान् को अपने अन्तरंग में दिखाई देता है। यही परमेश्वरी का निवास-स्थान है। वह नित्य शुद्धा, नित्य बुद्धा और नित्य मुक्ता हैं, इसीलिए वह नित्य तृप्ता भी हैं। परमेश्वरी के इस स्वरूप को पहचानने के लिए भी "यथा-

लाभ संतोष" की निर्मल मनोदशा चाहिए। जो लोग स्वभाव से सदा संतुष्ट रहते हैं, उन्हीं को दैवी पुष्टि भी मिल जाती है। भक्तों के प्रति भगवती माता का यही दृष्टिकोण होता है। निर्लिप्त भावना, निरपेक्ष साधना और निरन्तर आन्तरिक प्रसन्नता के माध्यम से आत्मस्वरूपिणी देवी को आत्मा में देखा जा सकता है। यही सच्ची भक्ति भावना है।

इस सात्विक भक्ति भावना से सम्पन्न भक्तों के लिए परमेश्वरी अक्षय भण्डार या निधि सिद्ध होती हैं। इसीलिए उनको "भक्त निधि" कहा गया है। भक्ति भावना की परमावधि भगवती के सानिध्य की प्राप्ति ही है। इस दृष्टि से भी वह भक्तों की निधि हैं। जैसे संसार में समस्त नदियों की यात्रा समुद्र में जाकर मिलने में समाप्त हो जाती है, वैसे ही भक्तों की सारी साधना निरन्तर तृप्ति की भावना से ओतप्रोत निश्रेयसानन्द में निहित परमेश्वरी को अपने मानस में प्रत्यक्ष और प्रतिष्ठित करने में परिणत हो जाती है। इस प्रकार भक्तों की निधि परमेश्वरी का सान्निध्य ही भक्ति की परमावधि है।

यह रही नित्य सन्तोषी भक्तों की बात। पर ये तो इने-गिने हैं। संसार में सबसे अधिक संख्या उन लोगों की है जो लौकिक लाभ के लोभ में पड़कर, कभी तृप्त न होने वाली काम वासना में लिप्त होकर जीवन के उतार-चढ़ाव में पग-पग पर ठोकर खाकर परमेश्वरी की प्रेम भावना से दूर होते जाते हैं। इन लोगों पर भी परमेश्वरी का नियन्त्रण होता है। इन पर भी उनकी निगरानी होती है। वास्तव में संसार के प्रत्येक प्राणी को परमेश्वरी के शासन को मानना पड़ता है। जब परिस्थिति अनुकूल होती है तो प्रापंचिक वासना प्रबल होती है। पर जैसे ही भाग्य का पलड़ा पलट जाता है तो भाग्य देवता भगवती की याद आती है। इस प्रकार जीवन की विभिन्न घटनाओं के माध्यम से परमेश्वरी अपनी समस्त प्रजा को नियंत्रण में रखती हैं। इसीलिए उनको "नियंत्री" कहा गया है।

देवी के शासन से संसार का कोई भी प्राणी मुक्त और स्वतन्त्र नहीं है। समस्त संसार की वह अधिष्ठात्री देवी हैं। इसीलिए उनको "निखिलेश्वरी" कहा गया है। परमेश्वरी के ऐश्वर्य को प्रकट करने वाले अन्य अनेक नाम इस सहस्रनाम में पाए जाते हैं—जैसे श्री महाराज्ञी, श्री मत्सिंहासनेश्वरी, सर्वेश्वरी, महेश्वरी, भुवनेश्वरी आदि। इतने ऐश्वर्य के होते हुए भी वह साधारण प्राणी को भी अपनी करुणा और प्रेम से अनुगृहीत करती हैं। आवश्यकता केवल निर्मल हृदय और सात्विक आचरण की है। परमेश्वरी की कृपा का पात्र बनने का सूत्र बिल्कुल साधारण है। पर सिद्धान्त को व्यवहार में लाने में ही सारी कठिनाई होती है।

उदाहरण के लिए सहस्रनाम का अगला नाम—"मैत्र्यादिवासना लभ्या"—देवी की कृपा प्राप्त करने का सीधा मार्ग बताता है। मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा चार वासनाएं हैं जिनके द्वारा देवी की उपासना की जा सकती है। वासना के माध्यम से उपासना करने की बात भीं कुछ अजीब-सी लगती है, पर यह सम्भव ही नहीं, बल्कि स्वाभाविक है। मानव के मस्तिष्क में वासना और उपासना का सहजीवन और सह-अस्तित्व होता है। वासना भौतिक और लौकिक है और उपासना आध्यात्मिक और पारलौकिक है। लेकिन वासना के माध्यम से ही उपासना तक पहुंचना सम्भव है। वास्तव में वासना को ही उपासना का रूप देना है। यही प्रक्रिया इस नाम में स्पष्ट की जा रही है। सुखी लोगों के साथ मैत्री, दीन-दुखियों पर करुणा, पुण्यात्माओं के पुनीत आचरण को देखकर मुदित (प्रसन्न) होना और दुर्जनों के दुर्व्यवहार की उपेक्षा करना—ये चार वासनाएं इस नाम में बताई गई हैं, जिनके माध्यम से परमेश्वरीं की उपासना की जा सकती है। जो लोग इन चार वासनाओं में उत्तीर्ण हो जाते हैं, उन पर देवी प्रसन्न हो जाती हैं। स्पष्ट है कि यह काम इतना आसान नहीं है, जितना दिखाई देता है। दूसरों के सुख से सुखी और दुःख से दुःखी बनने के लिए सच्चा और ऊंचा संस्कार

चाहिए। आम तौर पर लोग दूसरों का दुःख देखकर मन ही मन प्रसन्न हो जाते हैं और दूसरों के सुख से भीतर ही भीतर ईर्ष्या से जल जाते हैं। इसी प्रकार अच्छा काम करने वालों का अभिनन्दन करना तो सम्भव है, पर गलत काम करने वालों को क्षमा कर देना या उनकी उपेक्षा करना साधारण व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। अगर ये चार बातें सम्भव हों तो मनुष्य देवता के समान बन जाता है। पातंजल योगसूत्र में भी इन चार भावनाओं के माध्यम से चित्त प्रसादन (मन की प्रसन्नता) को सम्भव बताया गया है।

इस श्लोक का अन्तिम नाम है—"महाप्रलय साक्षिणी"। जब सारी सृष्टि विलीन हो जाती है तब भी मां ललिता उस महाप्रलय को देखती रहती हैं। इसके पहले भी इसी आशय का एक नाम आ चुका है—"महेश्वर महाकल्प महातांडव साक्षिणी"। महाकल्प के अन्त में महेश्वर के द्वारा जो महातांडव प्रदर्शित किया जाता है, उस समय एकमात्र महेश्वरी ही देखने रह जाती हैं। यही बात इस नाम में भी प्रकट की गई है। देवी को इसीलिए "सुमंगली" कहा जाता है। मृत्युंजय की साध्वी सहधर्मचारिणी होने के कारण जब तक शिव की साधना चलती है तब तक शिवानी का सान्निध्य रहता है।

इसीलिए देवी को "पराशक्ति" कहा गया है। इस पराशक्ति की परानिष्ठा और उनकी प्रज्ञा की पराकाष्ठा का वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

पराशक्तिः परानिष्ठा प्रज्ञान घन रूपिणी।
माध्वी पानालसा मत्ता मातृकावर्णरूपिणी॥

प्रत्येक पदार्थ में—चाहे वह जड़ हो या चेतन हो—किसी न किसी प्रकार की शक्ति निहित होती है। यह पराशक्ति का ही प्रतिरूप है जो एकांश भाव से सर्वत्र विद्यमान् होती है। प्रत्येक वस्तु में पदार्थ के रूप

में शिवत्व होता है और उस पदार्थ की शक्ति में शक्ति तत्व होता है। संसार का प्रत्येक कण इन्हीं दो तत्वों का अद्भुत और अविभाज्य समाहार है। उदाहरण के लिए, मानव शरीर में त्वचा, रूधिर, मांस, मेदस, अस्थि—ये पाँच धातुएं शक्ति के द्योतक अथवा शक्त्यात्मक हैं और मज्जा, शुक्ल, प्राण और जीव—ये चार धातुएं शिवात्मक हैं। इन नौ धातुओं से परे जो दसवीं धातु होती है, उसी को पराशक्ति कहा जाता है जिसकी प्रेरणा से और जिसके पर्यवेक्षण में शरीर की समस्त धातुएं अपने-अपने काम में लगी रहती हैं। शरीर के सम्बन्ध में शिव और शक्ति का यह जो सामरस्य है, वही विराट् पुरुष के विशाल शरीर (विश्व) के सम्बन्ध में भी लागू होता है। इस प्रकार संसार में शक्ति के जितने रूप हैं, उन सबके मूल में एक उत्कृष्ट शक्ति काम करती है और उसी से प्रेरणा पाकर शक्तिमान् अपनी शक्ति का अनुभव, अधिगम और अनुप्रयोग करता है। शिव को भी शक्ति का बोध कराने वाली यही पराशक्ति प्रापंचिक प्रभव, विभव और लय का कारण बनती है।

यही पराशक्ति संसार के समस्त व्यापार की अन्तिम परिणति है। पराशक्ति का साक्षात्कार प्राणी को सर्वशक्ति सम्पन्न बनाता है। अपने भीतर जो शक्ति है, वही समस्त संसार में समवाय सम्बन्ध से संचरणशील है, इस बात का अनुभव करना ही शक्ति का साक्षात्कार या आत्म साक्षात्कार है। यही निष्ठा की पराकाष्ठा है जो पराशक्ति को परानिष्ठा के रूप में प्रतिष्ठित करती है। परानिष्ठा के रूप में पराशक्ति प्रत्येक प्राणी के भीतर प्रतिष्ठित है और बाह्य जगत् में भी व्याप्त है। निष्ठावान् व्यक्ति ही इन दोनों में अभिन्नता का अनुभव कर सकता है। श्रीमद्भगवद् गीता के अनुसार संसार में जो भी साधना (कर्म) चालू है, उसकी एकमात्र परमावधि इसी अभिन्नता तादात्म्य या निष्ठा का ज्ञान है। एक सत्ता है और उसी की शक्ति सबको शक्ति दे रही है, यही परमेश्वरी की पराशक्ति और परानिष्ठा के पीछे छिपा हुआ परम

रहस्य है।

परमेश्वरी की शक्ति और निष्ठा का जब प्रत्यक्ष अनुभव या ज्ञान होता है तब घनीभूत प्रज्ञा के रूप में देवी का साक्षात्कार होता है। इसीलिए इस दशा में तत्त्ववेत्ता के मन में उद्भासित होने वाली श्रीमाता को "प्रज्ञान घन रूपिणी" कहा गया है। वैदिक साहित्य में प्रज्ञान को परमात्मा या परब्रह्म का पर्यायवाची (प्रज्ञानं ब्रह्म) माना गया है। प्रणव और प्राण के परिप्रेक्ष्य में प्रज्ञान की परिचर्चा करते हुए मांडूक्य उपनिषद् में कहा गया है कि प्राणी की सुषुप्ति की दशा में उसका स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर तीनों एक बन जाते हैं और उस दशा में केवल आनन्द ही आनन्द का एकांत अनुभव होता है और उसी दशा में प्रज्ञान घनीभूत हो जाता है। इस दशा में आनन्द ही प्रज्ञानमय प्राणी का एकमात्र आहार बन जाता है। इसीलिए कहा गया है कि सच्चा आनन्द ही प्रभु का आहार है और वही प्रभु-पद की प्राप्ति का पक्का आधार है। इस दशा में प्राणी की प्रज्ञा न अन्तर्मुखी होती है, न बहिर्मुखी और न उभयमुखी। वास्तव में न तो वह प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ। वह घनीभूत प्रज्ञा की गहरी अनुभूति है जिसमें प्रज्ञावान् प्रज्ञा में एकाकार बन जाता है। इस प्रकार "प्रज्ञानघनरूपिणी" आत्मा की अनुभूति प्राप्त करने के लिए पराशक्ति की कृपा आवश्यक है। तभी निष्ठा बन जाती है और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है।

यह एकात्मकता साधक को एक लोकोत्तर भाव भूमिका में ले जाती है जिसको योगशास्त्र में मधुमती भूमिका कहा जाता है। इसी भूमिका का वर्णन अगला नाम करता है। "माध्वी पानालसा" मां ललिता का एक मधुमय नाम है। ऋग्वेद के प्रवक्ताओं ने संसार के समस्त वायुमंडल में, विशाल जलराशि में, वनस्पति की हरियाली में, धूल में, धरती में, आकाश में, सूर्य में और दुधारू गायों में मधुधारा के अजस्र प्रवाह की मधुर कल्पना की। इसी प्रसंग में "माध्वी" शब्द का वैदिक प्रयोग

मिलता है। उनकी दृष्टि में सारा संसार मधुमय है क्योंकि उनकी अन्तरात्मा ने आंतरिक मधुरिमा का अलौकिक स्वाद पा लिया है। इसी परिवेश में परमेश्वरी को "माध्वी पानालसा" कहा गया है। किसी वस्तु या तत्त्व के सत्त्व-सार को भी मधु कहा जाता है। छांदोग्य ने इसी आशय से आदित्य (सूर्य) को "देवमधु" कहा है। यहां पर इसी दैवी मधु की ओर संकेत है जो प्रत्येक प्राणी के भीतर विद्यमान है। यही आत्मा का सार है जिसको मांडूक्य के महर्षि ने "एकात्मप्रत्यय सार" कहा है। मंत्र द्रष्टा इसी आत्म तत्त्व को देख कर आन्तरिक मधु के आस्वादन में आत्म-विभोर हो जाते हैं।

इसी तल्लीनता की ओर संकेत करता है—अगला नाम "मत्ता"। जो इस आस्वादन में मस्त हो जाते हैं, उन को लौकिक आनंद का स्वाद बहुत ही फीका लगता है। मधु मत्त आदि शब्दों का यहां प्रयोग देखकर कुछ लोग देवी को मदिराप्रिय और मादकता से युक्त मानते हैं। यह अर्द्ध-ज्ञान का परिणाम है जो कि अज्ञान से भी अधिक भयंकर है। यहां पर देवी का वर्णन करते हुए कालिदास के द्वारा प्रयुक्त दो शब्दों की ओर ध्यान देना प्रासांगिक ही नही, बल्कि प्रयोजनमूलक सिद्ध होगा। कालिदास ने देवी को "मदालसा" और "मंजुल वाग्विलासा" कहा है। "मत्ता" और "मदालसा" में एक ही प्रकार की मादकता है जो भींतर ही भीतर अनुभव करने की वस्तु है। कवियों ने इस मादकता को अक्षर परब्रह्म में पाया है और ऋषियों ने आत्मा के अलौकिक अवलोकन में। इस दृष्टि से कवि और ऋषि दोनों द्रष्टा हैं—परम तत्त्व के भाग्यशाली और भावुक द्रष्टा हैं। उन की दृष्टि में समस्त संसार मधुमय है, अक्षर-मय है और आलोकमय है।

कविवर कालिदास ने "मंजुल वाग्विलास" की जो मंगलमय कल्पना की है, वही माध्वी भावना में मत्त माधवी देवी के अगले नाम-मातृका-वर्णरूपिणी में प्रत्यक्ष होती है। "मातृका" शब्द का प्रयोग मंत्र शास्त्र

में विभिन्न और विशिष्ट अक्षरों या वर्णों के अर्थ में होता है। "अ" से लेकर "क्ष" तक वर्णमाला के जितने अक्षर हैं, उन सबको मातृका की संज्ञा दी गई है क्योंकि इन्हीं अक्षरों से सारा वाङ्मय उत्पन्न होता है। वाणी को रंग-रूप देने वाली ये मातृकाएं वाग्देवी को विभिन्न वर्णों से विभूषित करती सी दिखाई देती हैं। अक्षर में अक्षय सौंदर्य के द्रष्टा मनीषियों ने प्रत्येक वर्ण का अपनी अपनी रूचि और मान्यता के अनुसार सुंदर वर्णन किया है। इन लोगों ने कुछ वर्णों में सफेद, लाल, नीला, पीला, भूरा, सुनहला, चमकीला, दमकीला आदि कई रंगों की रंग-बिरंगी कल्पना की है। दृष्टि के अनुसार सृष्टि दृष्टिगोचर होती है। मूल भावना यह है कि मानव-मन को मुखरित करने वाले विविध नाद, शब्द या स्वर मानव के वाङ्मय जीवन के मूलाधार हैं। इसीलिए इन को "मातृका" की संज्ञा दी गई है। इन्हीं मातृकाओं को श्रीमाता अपना वर्ण बना लेती हैं, अपना रूप-रंग और न्यास-विन्यास बनाती और बढ़ाती हैं। इसीलिए उनको "मातृका वर्णरूपिणी" कहा गया है।

लेकिन अक्षरमय जगत् के इस सारे विस्तार का प्रयोजन क्या है? परम कल्याण इस का एकमात्र प्रयोजन है। इसी प्रयोजन पर प्रकाश डालते हुए सहस्रनाम का अगला श्लोक कहता है:

महाकैलासनिलया मृणाल मृदुदोर्लता।
महनीया दयामूर्तिर्महासाम्राज्यशालिनी ॥

संसार की समस्त सारस्वत साधना का चरम ध्येय "शिवेतर" की क्षति और शिवत्व की प्राप्ति है। अशुभ का निवारण और शुभ का समाहरण आध्यात्मिक साधना का आदर्श है। यही बात इस श्लोक के प्रारंभिक नाम महा कैलास निलया में स्पष्ट की गई है। भगवान् शंकर को कैलासवासी कहा जाता है और वही कैलास परमेश्वरी का भी निलय है। यह कैलास वास्तव में प्रत्येक प्राणी के भीतर है। कल्याणकारिणी भावनाओं का शान्ति सदन ही कैलास है। इसी को योगशास्त्र में आनंद-

मय बिन्दु की संज्ञा दी गई है जो सहस्रार चक्र में ब्रह्म रंध्र के पास स्थित होता है। सारा सहस्रार चक्र कैलास है तो सहस्रार चक्र के भीतर का यह आनंदमय बिंदु महा कैलास बन जाता है। यही परमेश्वर और परमेश्वरी का आनंद निकेतन है। इसको प्राप्त करना ही आध्यात्मिक साधना का चरम ध्येय है। इसी को कैवल्य सिद्धि भी कहा जाता है।

वाग्विलासिनी देवी के महोन्नत पद की ओर संकेत करने के बाद उनकी मृदुलता का वर्णन अगले नाम-'मृणाल मृदुदोर्लता' से प्रस्तुत किया जाता है। मृणाल या कमल-नाल के तंतु के समान देवी की दोनों बाहें कोमल हैं। पेड की लता के समान वे अत्यन्त सुकुमार हैं। ये दोनों बाहें असल में शब्द और अर्थ के प्रतीक हैं। शब्द की कोमलता और अर्थ की गम्भीरता दोनों का सुंदर और संतुलित सामंजस्य सत्सहित्य का सर्वश्रेष्ठ लक्षण है। यही मंत्र-शास्त्र के संदर्भ में भी लागू होता है। प्रत्येक मंत्र में अर्थ और आराध्य के बीच अभिन्नता स्थापित की जाती है। मंत्र में देवता अक्षर रूप में प्रत्यक्ष होते हैं। वास्तव में मंत्र और देवता अलग-अलग नही हैं। दोनों दो बाहों के के समान हैं।

अगला नाम है—"महनीया"। कोमलता और कमनीयता के साथ महनीयता भी मंत्ररूपिणी देवी को परिपूर्णता प्रदान करने में सहायक होती है। मधुर भावना को मधुरतर भाषां में मननीय ढंग से प्रस्तुत करने में ही मंत्र की महिमा निहित होती है। प्रत्येक अक्षर मंत्र बन सकता है, पर उसमें महनीयता, कमनीयता और मननीयता का समावेश होना चाहिए।

लेकिन इन सब के होते हुए भी दयाहीन वचन का कोई महत्व नहीं हो सकता। इसीलिए देवी को "दयामूर्ति" कहा गया है। वह दया की मूर्ति हैं। सत्य और दया क्रमश: शिव और शक्ति के द्योतक हैं। सत्य हमेशा शिवात्मक होता है और दया शक्तिशाली। दोनों का सामंजस्य

जीवन को सुंदर से सुंदर तर और सुंदरतम बना देता है। सत्यम्, शिवम् और सुंदरम् का समीकरण ही संसार को अनंद का अखंड साम्राज्य प्रदान करता है। इस साम्राज्य के सामने संसार की समस्त सत्ता सारहीन बन जाती है। इसलिए इसको महासाम्राज्य कहा गया है जिसकी महाराज्ञी श्री ललिता परमेश्वरी हैं। इसो तथ्य की ओर संकेत करता है—इस श्लोक का अन्तिम नाम "महासाम्राज्य शालिनी"।

---

२९. आत्मविद्या महाविद्या

आत्मिक आनंद के अखंड साम्राज्य की अधिष्ठात्री देवी श्री ललिता माता को आत्मा के माध्यम से आत्मा के भीतर आत्मसात् करना ही सच्चे अर्थों में आत्म-साक्षात्कार है। इसी को आत्म विद्या, महा विद्या, ब्रह्म विद्या, गुह्य विद्या, मंत्र विद्या, श्री विद्या आदि कई विद्यावाचक नामों से अभिहित किया जाता है। इसी को संक्षेप में अध्यात्म विद्या भी कहा जा सकता है जिसको गीताचार्य ने संसार की समस्त विद्याओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है। विद्या तो वास्तव में वही है जो जोव को ब्रह्म तक पहुंचाती है और सांसारिक बंधन से शाश्वत मुक्ति प्रदान करती है। "सा विद्या या ब्रह्म गति ददाति", "सा विद्या या विमुक्तये" आदि सूक्तियों से इस बात की पुष्टि हो जाती है। उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म विद्या भी यही आत्म विद्या है जो अमृतत्व का अमोघ साधक है। आत्मा अमर है, इसलिए आत्मा को जानना या आत्म को पहचानकर आत्मा में लीन होना या आत्मा बन जाना ही अमरत्व या मुक्ति की प्राप्ति है। इसी आत्म विद्या का वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है :

आत्म विद्या महाविद्या श्रीविद्या काम सेविता।
श्री षोडशाक्षरी विद्या त्रिकूटा काम कोटिका॥

अपने को जानना सब से बड़ी जानकारी है जिस को हासिल करने के बाद और कुछ जानने लायक बात नहीं रह जाती। शरीर और मन के आवरण के कारण आत्मा का वास्तविक रूप आम आदमी की समझ

में नहीं आता है। शारीरिक सौंदर्य, शारीरिक सुख और मानसिक उहा-पोह के इन्द्रजाल में फंसकर जीवात्मा तत्त्वतः आत्मवान् होते हुए भी आत्म तत्त्व तक पहुंच नहीं पाता। इसके लिए शारीरिक अभिमान, व्या-मोह और आकर्षण को छोड़कर मन को काबू में रखने की आवश्यकता है। यही आध्यात्मिक साधना है जिसमें आत्मस्वरूपिणी ललिता माता का सहारा सिद्धि को सुगम और सत्वर बनाता है। इसीलिए माता को "आत्मविद्या" कहा गया है।

मंत्र को भी विद्या कहा जाता है। आठ अक्षर वाले एक विशिष्ट मंत्र (अष्टाक्षरी) को आत्म विद्या की संज्ञा दी जाती है। इसलिए आत्म विद्या मंत्र विशेष भी है। वास्तव में मंत्र की अधिदेवता और मंत्र में कोई अन्तर नहीं होता है। मंत्र के अक्षर शरीर के जिन स्थानों से निकलते हैं, उन्हीं में उस मंत्र की अधिदेवता निवास करती है। इस रहस्य के जानकार ही मंत्रद्रष्टा होते हैं। इसीलिए मंत्र का मनन करना चाहिए, उच्चारण नहीं। मनन मात्र से मंत्र के अक्षर साकार बनकर आराध्य देवता को प्रत्यक्ष करते हैं। यह मनन जितना गहन होता है, आराध्य का आकार उतना सघन बन जाता है। इसीलिए इस नाम में मां ललिता को आत्म विद्या के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आत्मा को जानने से आत्मा के साथ तादात्म्य की स्थापना हो जाती है। यही आत्म विद्या है।

आत्म विद्या ही सब से महान् है। अपने को जानने से आदमी महान् बन जाता है। आत्म ज्ञान आत्मवान् को महान् बना देता है। इसलिए आत्म विद्या को महा विद्या कहा गया है। दोनों मां ललिता के ही द्योतक हैं। नव दुर्गा मंत्र को भी महा विद्या कहा जाता है। आत्म-विद्या के आठ अक्षर हैं तो महाविद्या के नौ अक्षर हैं। ये दोनों पंद्रह अक्षर वाली श्री विद्या के अंतर्गत हैं।

श्रीविद्या, श्रीचक्र और श्रीमाता देवी के उपासकों के लिए तीन

महत्वपूर्ण तत्व हैं। श्री विद्या मंत्र है, श्री चक्र यंत्र है और श्री माता पराशक्ति की रूप कल्पना है। अपने को जानना आत्म विद्या है, महत्तत्त्व को जानना महा विद्या है और श्री तत्त्व अथवा पांच भौतिक जगत् की अपार्थिव सश्रीकता का साक्षात्कार करना श्रीविद्या है। तीनों अध्यात्म विद्या के ही तीन पहलू या आयाम हैं। विष्णु पुराण में 'विमुक्तिफलदायिनी' देवी को यज्ञ विद्या, महा विद्या, गुह्य विद्या और आत्म विद्या का ही रूप दिया गया है। ये सारी विद्याएं श्री, केवल श्री के साक्षात्कार को एक मात्र प्रयोजन मानकर चलती हैं। जैसे सभी मंत्रों में गायत्री सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, उसी प्रकार समस्त विद्याओं में श्री विद्या सब से प्रशस्त है। श्रीविद्या पंद्रह अक्षरों का मंत्र है जिसका यथाशक्ति और यथावकाश जाप करने के बाद श्री विद्या के उपासक श्री ललिता सहस्रनाम के हजार नामों से श्रीचक्र की पूजा करते हैं। इस प्रकार मंत्र, यंत्र और तंत्र तीनों के माध्यम से मां ललिता की जो उपासना की जाती है, उसको सामूहिक रूप से भी श्री विद्या का नाम दिया जाता है। इसलिए श्रीविद्या एक उपासना भी है और उपासना का प्रधान अंग मंत्र भी।

मार्कंडेय पुराण में श्री विद्या नाम का एक अलग खंड है जिसके अंतर्गत काम कोटि अथवा कांची की अधिष्ठात्री देवी कामाक्षी की महिमा का चौदह अध्यायों में वर्णन पाया जाता है। इसको "श्री कामाक्षीविलास" कहा जाता है। श्री कामाक्षी देवी उच्च कोटि के काम की ओर चींटी से लेकर शिव तक समस्त सृष्टि को प्रेरित करती हैं। इसी काम कला का विलास उपासक को उदात्त प्रेम से उपजने वाले आत्मिक आनंद की ओर ले जाता है। यही आत्म कला विकास भी है। काम कला विलास और आत्म कला विकास का सुंदर सामंजस्य श्री माता कामाक्षी की कृपा से संभव हो जाता है। इसीलिए श्री विद्या की चित्प्रसूतिका माता को यहां पर "काम सेविता" कहा गया

है। काम के माध्यम से देवी की सेवा संपन्न होती है और कामदेव मन्मथ भी उन की सेवा में संलग्न रहता है। अरूणोपनिषद् में कामदेव का बहुत ही सुंदर और सार्थक वर्णन मिलता है। निऋति (लक्ष्मी) का पुत्र कामदेव अंधा है, पर अपनी मां लक्ष्मी को सब से निकट और सबसे अधिक आत्मीयता के साथ देख पाता है। श्रीविद्या की मणि की मनोहर शोभा को वह आठों पहर अधा अधा कर देखता है। उसकी उंगलियां नहीं हैं, पर वह सबके भीतर उस सुंदर मणि का स्पर्श करता है। उस का कंधा नहीं है, पर उस मणिमाला को वह निरंतर धारण किए रहता है। उस की जीभ नहीं है, पर उसके मधुमय स्वाद का यथेष्ट आस्वादन किया करता है। वह ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ ऋषि है जो श्री विद्या के मंत्र को मन की आंखों से देखता है। वह दूसरों के मन का मंथन करता है, पर वह स्वयं अमनस्क है। इससे स्पष्ट होता है कि काम कला विलास का कितना गहरा आशय है और कितना उदात्त प्रयोजन है। धर्म सम्मत काम के सेवन से धर्म संवर्द्धिनी देवी को प्रसन्न किया जा सकता है, यही श्रीविद्या का चिन्मय रहस्य है। श्री देवी का चिद्विलास कामदेव की चिच्छक्ति के विलास और विकास से सुलभ और सुगम बन जाता है। श्री सूक्त में मां लक्ष्मी का आवाहन उनके पुत्र कामदेव के माध्यम से ही किया जाता है। "नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले" इस सूक्ति मंत्र के सहारे साधक कामदेव से सविनय निवेदन करते हुए कहता है कि "काम, तुम अपनी मां को मनवाकर किसी तरह उनको मेरे (कुल के) भीतर बसा दो"। गोस्वामी तुलसीदास परमात्मा राम को मनवाने के लिए जगन्माता सीता का आश्रय लेकर कहते हैं, "कबहुंक अंब अवसर पाइ मेरि औ" सुधि द्याइबी कछु करून कथा चलाइ"। लेकिन वेद मंत्र का द्रष्टा मां की कृपा प्राप्त करने के लिए बेटे से बिनती करता है। दोनों अपनी अपनी दृष्टि से सही हैं। साधन चाहे कुछ भी हो, साध्य केवल श्री माता के सान्निध्य की आत्मानुभूति है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधारण साधक ही नहीं, बल्कि

ब्रह्मा, विष्णु और शंकर भी प्रयत्नशील रहते हैं। वास्तव में यहां पर काम शब्द से इन तीन मूर्तियों की ओर मार्मिक संकेत मिलता है। 'क' ब्रह्मा का, 'अ' विष्णु का और 'म' महेश्वर का द्योतक है और इन तीन अक्षरों—क, अ और म—के संयोग से काम शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार श्री माता को "काम सेविता" कहकर काम की सश्रीकता और सारगर्भिता की ओर सूक्ष्म संकेत किया गया है।

श्रीविद्या को षोडशी या षोडशाक्षरी भी कहा जाता है। श्रीविद्या मंत्र के पंद्रह अक्षरों में श्री को जोड़ने से वह षोडशाक्षर मंत्र बन जाता है। "श्री" के साथ सोलह अक्षरवाला मंत्र बनने के कारण इस को 'श्री षोडशाक्षरी विद्या" कहा गया है। श्रीमाता इसी मंत्र में प्रतिष्ठित मंगल देवता हैं।

श्री विद्या मंत्र के तीन भाग होते हैं। इन्हीं को कूट कहा जाता है। वह एक प्रकार की 'कोड (CODE) है जो त्रयी के कई समाहारों की ओर संकेत करता है। इन्हीं तीन कूटों में अंकित मन्त्र स्वरूपिणी देवी को यहां पर "त्रिकूटा" कहा गया है। इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि रावण की राजधानी लंका त्रिकूट पर्वत पर बसाई गई थी। "त्रिकूट शिखरे रम्ये" बसी हुई लंका काम कूट का प्रतीक है जिस को राम की कोटि-कोटि सेना ने "काम कोटिका" बना दिया है। काम वासना को राम भावना में परिणत करने का यह ज्वलंत उदाहरण यहां पर श्रीमाता के लिए प्रयुक्त "त्रिकूटा" और "कामकोटिका" नामों की सुंदर और हृदयंगम व्याख्या प्रस्तुत करता है। मानव शरीर में भी तीन कूट हैं—मूलाधार में कामकूट, कमर से कंठ तक मध्य कूट और कंठ से ललाट तक वाग्भव कूट है। कांची की अधिष्ठात्री देवी श्री कामाक्षी को वाग्भव कूट की निवासिनी और सुवासिनी माना जाता है जिनकी पावन भावना के सेवन से काम कूट भी कोटि-कोटि काम की काम कोटि का रूप धारण कर लेता है। इसलिए वहां पर आदि शंकराचार्य के द्वारा

प्रतिष्ठित पीठ को कामकोटि पीठ कहा जाता है। वासना को उपासना का रूप देना ही श्रीविद्या की सिद्धि का द्योतक है। इस सिद्धि या उपलब्धि के तीन सोपान श्रीविद्या मंत्र के तीन कूटों में प्रतिभासित होते हैं। इसीलिए मंत्र स्वरूपिणी देवी को आत्मविद्या, महाविद्या, श्री विद्या आदि विद्या या मंत्र के बोधक शब्दों से अभिहित करने के बाद त्रिकूटा और कामकोटिका के नाम देकर देवी की उपासना के परमार्थ की ओर भावगर्भित संकेत किया गया है। अगले दो श्लोकों में इस मंत्र के अद्भुत फल का उल्लेख किया जाता है और साथ ही मानव शरीर में यह मंत्र किस रूप में और कहां- कहां पर प्रतिष्ठित है, इस की ओर भी संकेत किया जाता है :

कटाक्ष किंकरीभूत कमला कोटि सेविता।
शिरस्थिता चंद्रनिभा भालस्थेन्द्र धनुःप्रभा।।
हृदयस्था रविप्रख्या त्रिकोणांतर दीपिका।
दाक्षायणी दैत्य हंत्री दक्षयज्ञ विनाशिनी।।

श्रीमाता के कटाक्ष मात्र से करोड़ों देवताएं उनकी किंकरियां बन जाती हैं क्योंकि वे समस्त देवी-देवताओं की जननी हैं। श्रीमाता के इसी कटाक्ष वीक्षण में श्रीविद्या के तीनों कूट प्रतिष्ठित हैं। करोड़ों लक्ष्मियां (कमलाएं) उनकी कनखियों से बिखरने वाली नजरों की प्रतीक्षा में बैठी रहती हैं। जिस व्यक्ति पर उनकी यह दृष्टि, कोने से ही सही, प्रसारित होती है, उसके लिए करोड़ों संपत्तियां कर-तल-गत बन जाती हैं। लौकिक और पारलौकिक वैभव इसी कटाक्ष पर निर्भर है। इसीलिए माता को "कटाक्ष किंकरीभूत कमला कोटि सेविता" कहा गया है।

अब मानव शरीर के तीन केन्द्रों में श्रीमाता और श्रीविद्या की अवस्थिति को स्पष्ट किया जाता है। सिर, ललाट और हृदय मानव शरीर को दिव्यता प्रदान करने वाले तीन प्रधान अंग हैं। इन्हीं में

श्रीमाता श्रीविद्या के रूप में प्रतिष्ठित होती हैं। सिर में चंद्रमा की तरह, फाल भाग या ललाट में इंद्रधनुष की बहुरंगी शोभा के साथ और हृदय के भीतर दहराकाश में हज़ार किरणों से चमकने वाले सूर्य की तरह देवी प्रत्येक प्राणी के शरीर में अपना त्रिकूट प्रकट करती हैं। इन्हीं तीन स्थानो का निर्देश करते हुए देवी को शिरस्थिता, भालस्था और हृदयस्था कहा गया है। इन तीन नामों के साथ चंद्रनिभा, इंद्रधनुःप्रभा और रविप्रख्या के नाम जोड़कर विभिन्न स्थानों में विराजमान देवी के विशिष्ट स्वरूप और स्वभाव को भी स्पष्ट किया गया है। कहा जाता है कि सिर पर ब्रह्मरंध्र के ऊपर गुरु मंडल रहता है जिससे साधक को दैवी प्रेरणा और चिदाकाश की ज्योतिर्मय चेतना प्राप्त होती है। उसी के नीचे सहस्रार चक्र में चंद्रमंडल विराजमान होता है। चंद्रमा और गुरु (बृहस्पति) का यह संयोग भगवान् राम की जन्म कुण्डली में भी दिखाई देता है। इसीलिए राम के जीवन में वशिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज, अत्रि, वाल्मीकि आदि महर्षियों के साथ सहज और यादृच्छिक संपर्क उनको अपने पुरोगमन (जिसको अयन या अभियान भी कहा जा सकता है जैसा कि रामायण के नाम से भी परिपुष्ट होता है) में पग पग पर पथ-प्रदर्शन करता दिखाई देता है। वास्तव में आत्माराम का निवास मानव शरीर के इसी मूर्द्धन्य स्थान में है। राम को चंद्रमा के समान प्रियदर्शन (सोमवत् प्रियदर्शन) और बृहस्पति के समान् बुद्धिमान् कहा जाता है। प्रत्येक प्राणी के लिए अपने भीतर के राम का साक्षात्कार करने के लिए चंद्रमा की सी प्रशांत और प्रसन्न प्रफुल्लता और बृहस्पति की सी धीर गंभीर मनस्विता आवश्यक है। शिरस्थिता और चंद्र निभा इन दोनों नामों से यही आशय निकलता है।

इसके बाद फाल भाग में रहकर समस्त शारीरिक और मानसिक क्रिया-कलाप को नियंत्रित करने वाली बहुमुखी चेतनता को इंद्रधनुष की प्रभा से सुशोभित बताया गया है। इंद्रधनुष में सात वर्ण या रंग होते हैं। इनमें अंतिम वर्ण लाल है। देवी को भी "अरुणा" (लाल रंग की)

बताया जाता है । अरुण या लाल रंग इनमें से प्रधान है जो बाकी सब रंगों को अपने में समा लेता है। जैसे ऊषा सारे संसार को अपनी लालिमा से नहला देती है, उसी प्रकार भगवती अपनी चिर तरुण अरुणिमा से रंग-रूप वाली इस शरीर-नगरी को अपनी निगरानी में रखकर कण-कण में चेतनता भर देती है। इसी अरूणा के अधीन बाकी छह रंग अपनी शोभा पाते हैं। ये छह रंग ही शरीर के छह चक्र हैं जो ललाट में स्थित आज्ञाचक्र के इशारे पर प्रचलित और प्रवर्तित होते हैं। ललाट वेसे ही समस्त चिंतन का संगम स्थल है और आध्यात्मिक साधना का आधार बिंदु है। इसीलिए भालस्था परमेश्वरी को इंद्रधनुष की शोभा से युक्त बताने में यथार्थ और परमार्थ का अपूर्व संयोग है।

अब हृदय की बात आती है। हृदय के आसपास शरीर का अनाहत चक्र होता है। यह आहत होते हुए भी अनाहत रहता है। परमेश्वरी हमेशा इसको पहरा दिया करती है। हृदय के अंतरतम भाग में दहराकाश होता है। इसी के बीच आत्मा का दीप जलता रहता है। सारे संसार का बीज इसी ज्योति के भीतर छिपा रहता है। जो परमेश्वरी या परमात्मा का हृदय पहचान लेता है, वही अपने हृदय को पहचान सकता है और जो अपने हृदय को पहचान लेता है, वह सब कुछ पहचान पाता है। इसीलिए आदित्य हृदय, अग्नि हृदय, आदि हृदय-विद्या का विशेष महत्व है। नाचिकेत ने यमराज की कृपा से अग्नि-हृदय को पल भर में पहचान लिया था। ललाट चिंतन का केन्द्र है तो हृदय भावना का केन्द्र है। हृदय की परिशुद्धता सारी साधना की आधारशिला है। हृदय निर्मल है तो मन भी निर्मल बन जाता है। भवानी भी भावना को पहचान लेती है। सच्चे हृदय की सात्विक भावना के बिना कोई भी साधना आगे नहीं बढ़ सकती। इसीलिए हृदयस्था देवी को "रवि प्रख्या" (सूर्य के समान प्रखर और पवित्र) कहा गया है।

ध्यान देने की बात है कि सिर, ललाट और हृदय में क्रमशः प्रकाश

के तीन प्रमुख रूप प्रतिपादित किए गए हैं—चंद्रमा, इंद्रधनुष और सूर्य। इन तीनों का आधार सूर्य ही है जो हृदय-कमल को सजल, निर्मल और उज्ज्वल रखने में सदैव तत्पर रहता है। सूर्य से ही चंद्रमा को स्निग्ध शीतलता मिलती है और इंद्रधनुष को बहुरंगी शोभा। इसलिए सूर्य की किरणों से चिर जीवन प्राप्त करने वाली हृदय सीमा ही समस्त ज्योति का मूलाधार है। अगला नाम—त्रिकोणांतर दीपिका इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। सिर, ललाट और हृदय साधना के तीन कोण हैं जिनको प्रकाशित करने का काम परमेश्वरी एक दीपक बन कर करती हैं। इसीलिए उनको "लोकैक दीपांकुरा" (संसार की ज्योति का एकमात्र आधार) माना जाता है। इसी ज्योतिर्मयी देवी को यहां पर "त्रिकोणांतर दीपिका" कहा गया है। अंधकार को आलोक में बदलना दीपक का काम है और यही काम आँतरिक जगत् में अंतरंगिणी देवी करती हैं।

इसके बाद प्रसंग एकदम बदलता-सा दिखाई देता है। पर वास्तव में पिछले नामों में परिचर्चित परमेश्वरी की प्रशस्ति ही अगले तीन नामों में विस्तार पाती है। इनमें से पहला नाम है—दाक्षायणी। दाक्षायणी शब्द का अर्थ है—दक्ष की कन्या। कहा जाता है कि दक्ष नाम का एक प्रजापति था जिसकी सत्ताईस कन्याएं थीं। ये कन्याएं खगोल में नक्षत्रों के रूप में विराजमान होती हैं और इन सब की शादी चंद्रमा से हुई है। इससे स्पष्ट होता है कि ऊपर सूर्य, इंद्र धनुष और चंद्रमा की आभा, प्रभा और शोभा का वर्णन करने के बाद दाक्षायणी का उल्लेख क्यों किया गया है। सूर्य, चंद्र और अग्नि (या इंद्र धनुष) में जो तेज है, वही समस्त ब्रह्मांड में उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार नक्षत्र-मंडल। यही नक्षत्र मंडल नश्वर शरीर के भीतर भी है। यही दाक्षायणी का सच्चा स्वरूप है। शरीर का प्रत्येक कण एक नक्षत्र है। इनमें से सत्ताईस नक्षत्र प्रधान हैं। खगोल में भी अनेक नक्षत्र हैं जिनमें से अश्विनी, भरणी कृत्तिका आदि सत्ताईस नक्षत्र ऐसे हैं जिनके संपर्क में

चंद्रमा, सूर्य, बुध, शुक्र, बृहस्पति आदि ग्रह आते हैं। ग्रह-पथ में आने वाले ये नक्षत्र विराट् विश्व को आलौकित करने का ही नहीं, बल्कि लोक संग्रह का भी काम करते हैं। यही इनका विशिष्ट लक्षण है। इसीलिए इनको दक्ष की संतान कहा गया है। यही उनकी दक्षता है।

इसी दक्षता के बल पर ये आसुरी शक्तियों का संहार कर पाते हैं। जैसे बाहरी संसार में, वैसे पार्थिव शरीर के भीतर भी अंधकार और प्रकाश साथ-साथ रहते हैं और क्रमशः आसुरी और दैवी शक्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सूर्य, चंद्र और नक्षत्रों के प्रकाश से अंधकार दूर हो जाता है। इस प्रकार अंधकार को हटाकर प्रकाश फैलाना ही दाक्षायणी का काम है। इसीलिए उनको दैत्य हंत्री कहा गया है। दैत्य शब्द दीनता का भी द्योतक है। मानव की चेतना में दीनता को प्रवेश नहीं करने देना चाहिए। दीन-हीन भावना से मनुष्य की दैवी भावना और दिव्य शक्ति को आघात पहुंचता है। दीनता दिति का लक्षण है और अदीनता आदित्य का स्वभाव है। इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः।

लेकिन दक्षता की भावना में एक खतरा है। अपने को दक्ष समझने वाले व्यक्ति में अहं की भावना आसानी से प्रवेश कर सकती है। अहंकार के अंकुरित होने से साधना क्षीण हो जाती है। दैन्य की भावना को मन में घुसने नहीं देना है, पर साथ ही अहंकार की भावना से भी दूर रहना चाहिए। यह कहना आसान है, पर आचरण में लाना कठिन है। यह काम दक्ष जैसे प्रजापति से भी नहीं हो पाया। अपने को सब प्रकार से दक्ष समझकर उन्होंने अपनी कन्या सती और जामाता शंकर को अपने यज्ञ में आमंत्रित नहीं किया। फिर भी पिता के प्रति पूज्य भावना से प्रेरित होकर सती समारोह में पहुंच जाती हैं और अपमानित होकर योग की आग में समा जाती है। शिव भावना के अभाव और

शिव तत्व के अनादर से होने वाले अनिष्ट की ओर संकेत करने वाला यह सती-वृत्तांत इस श्लोक के अंतिम नाम में चर्चित होता है। दक्ष के यज्ञ का नाश करने वाली होने के कारण परमेश्वरी को यहां पर "दक्ष यज्ञ विनाशिनी" कहा गया है। दक्षता में कोई दोष नहीं है, पर उसके साथ दंभ का समावेश नहीं होना चाहिए और वह भी इतना नहीं कि शिव-साधना को ही उससे क्षति पहुंच जाए। इसीलिए आध्यात्मिक साधना के फलस्वरूप जिनको आत्म साक्षात्कार होता है, वे मुक्त कंठ से यही कहते हैं :

"शिवः केवलोऽहम्"

---

३०. कलात्मिका कलानाथा

प्रत्येक प्राणी के भीतर सिर में सुधाकर की प्रशांत शीतलता, ललाट पर लालित्य और लावण्य की इन्द्रधनुषी लीलामयी शोभा तथा हृदय में प्रभाकर की प्रभाभास्वर वर्चस्विता के साथ विराजमान श्रीमाता की शिवात्मक दृष्टि, रसात्मक मंदहास और रहस्यात्मक मुख-मुद्रा का वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है:

दरांदोलित दीर्घाक्षी दरहासोज्ज्वलन्मुखी ।
गुरुमूर्तिर्गुणनिधि र्गोमाता गुहजन्मभू: ।।

इस श्लोक के पहले नाम—दरांदोलित दीर्घाक्षी—में देवी के लंबे-लंबे और तनिक चंचल नयनों का उल्लेख है। उनके लंबे-लंबे नयनों में सारी सृष्टि समा जाती है। सृष्टि का कोई भी अंश उनकी दृष्टि से बाहर नहीं जा सकता। इसके लिए नयनों की केवल विशालता ही नहीं, बल्कि इधर-उधर आंदोलित होने वाली धीर गंभीर गतिशीलता भी आवश्यक है। इसको चंचलता कहना समीचीन नहीं है क्योंकि इनकी गतिशीलता का एकमात्र ध्येय सब ओर से सबका सस्पृह और समग्र ग्रहण मात्र है। उनकी आंखों में केवल आंदोलन या दोलन है जो संचलन तो पैदा करता है, पर चंचलता नहीं। इसी अचंचल गतिशीलता से ओत-प्रोत उनकी विशाल दृष्टि में सारी सृष्टि समा जाती है। इस दृष्टि में करुणा, स्नेह और गांभीर्य की भावना व्यंजित होती है। वह निर्मल और निष्कंप है।

श्रीमाता की निर्मल दृष्टि से भी अधिक मनोहर है—उनके ओठों

को सरसाने वाली हल्की मुस्कान। सुंदर मंदहास से मंडित मुख-मंडल की शोभा सुंदरतर और साथ-साथ उज्ज्वल बन जाती है। माता की इस महोज्ज्वल या रसोज्ज्वल शोभा के तीन केन्द्र हैं—नेत्र, ओंठ और ललाट। बीच की दोनों आंखें ऊपर के ललाट और नीचे के अधरों को एक मंगलमय उल्लास-सूत्र से मिलाती हैं और सारा मुख-मंडल करोडों कांतिपुंजों का कमनीय आकार बन जाता है। समस्त संसार के सत्व-सार को देखने की क्षमता रखनेवाली सर्वमंगला और सर्वसमाहारिणी दृष्टि के साथ-साथ फूल की तरह मुस्कुराते हुए संसार के समस्त संकट-कंटकों को सह सकने वाली समरस भावना का बोध कराने वाले ये दोनों नाम श्रीमाता की श्रीसहस्रिका की सांकेतिक व्याख्या करते हैं।

माता की अधखुली आंखों में और अधखिले ओठों में परम सत्य को प्रकट करने वाला कोई रहस्यात्मक संकेत मिलता है जिसे समझने पर माता की मंगलमय मूर्ति में गुरु का गौरव दिखाई देता है। उनकी मूर्ति ही गुरु है। इसीलिए उनको "गुरुमूर्ति" कहा गया है। श्रीविद्या के उपासकों के लिए देवी, मंत्र और गुरु एक दूसरे के पर्यायवाची हैं। देवी ही गुरु हैं और गुरु ही देवी हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं है और इन दोनों का अक्षरमय सान्निध्य मंत्र में प्रकट होता है। देवी के इस नाम में इसी तादात्म्य की ओर संकेत है। जहां अच्छे गुरु मिलते हैं, वहां उन्हीं को देवी का प्रतिरूप समझना चाहिए और जहां योग्य गुरु का अभाव है, वहां पर माता की मंगलमय मूर्ति को ही गुरु के रूप में स्वीकार करना चहिए। निर्मल मन की उज्ज्वल भावना में माता की जो मूर्ति साकार हो जाती है, वही साधक को गुरु का पथ-प्रदर्शन प्रदान करती है।

संसार के समस्त सद्गुणों की निधि होने के कारण श्रीमाता को "गुणनिधि" कहा गया है। इसीलिए वह सद्गुरु भी है। गुण प्रायः तीन प्रकार के माने जाते हैं—सत्व, रज और तम। ये तीनों गुण देवी के साद्गुण्य को समझने में सहायक होते हैं। महर्षि वाल्मीकि अपने समय

के सर्वोत्तम गुणों से संपन्न व्यक्ति के बारे में देवर्षि नारद से जिज्ञासा प्रकट करते हुए सबसे पहले "गुणवान्" (कोन्वस्मिन् सांप्रतं लोके गुणवान्) शब्द का प्रयोग करते हैं। गुणवान् व्यक्ति को सब में सब जगह गुण ही गुण दिखाई देते हैं। अदोष में दोष देखना दानव का लक्षण है और अगुण में गुण देखना देवता का लक्षण है। यही 'गुणनिधि' की संज्ञा से अभिहित देवी की भी विशेषता है। इस श्लोक के प्रारम्भिक दो नामों में देवी की विशाल दृष्टि और उनके सुंदर मंदहास का एक साथ वर्णन किया गया है। इसमें भी यही आशय ध्वनित होता है कि वह सब कुछ जानती है, सब कुछ देखती है। पर दूसरों के गुण देखकर अपने मुख की उज्ज्वल शोभा के माध्यम से अपना हर्ष और उल्लास प्रकट करती हैं और दूसरों के अवगुण देखकर मुस्कुरा कर रह जाती हैं। जैसे माता अपनी अच्छी सन्तान को देखकर प्रसन्न हो जाती हैं और अयोग्य संतति को पाकर सारा दुःख भीतर ही भीतर पी लेती है और बाहर केवल लम्बी चितवन और फीकी मुस्कुराहट से अपने को समझा लेती है, उसी प्रकार श्रीमाता भी सकल चराचर सृष्टि के समस्त जीवों के साथ माता की ममता निभाती हैं। इसीलिए उनको "गोमाता" कहा गया है।

गोमाता में माता की ममता अपने परिपूर्ण रूप में प्रकट होती है। गोमाता में जो सांधुता हैं, वही श्रीमाता में है। वही नहीं बल्कि "गो" शब्द से भूदेवी, वाग्देवी, स्वर्ग, किरण, वज्र आदि जितने अर्थ निकलते हैं, उन सब की विशेषता श्रीमाता में विद्यमान है। इस दृष्टि से "गुण-निधि" में गुण शब्द भी अत्यंत व्यापक है। समस्त संसार को अपनी आत्मीयता के सूत्र (गुण) से बांधकर संचालित करने वाली सर्वेश्वरी को इसी आशय से "गुणनिधि" कहा गया है। इस संचालन का आधार सात्विक अनुराग या ममता है, इसलिए यहां पर "गोमाता" कहा गया है।

श्रीमाता सबकी जननी है। जननी से कोई बात छिपी नहीं रहती है और न रह सकती है। इसी प्रकार श्रीमाता सब कुछ जानती हैं, सबका

रहस्य जानती हैं। वास्तव में संसार के समस्त रहस्य का आधार वही हैं। सबसे रहस्यात्मक भी वही हैं। इसलिए उनको "गुहजन्म भू" कहा गया है। शिव कुमार स्कंद को भी "गुह" कहा जाता है जिनकी माता पार्वती हैं। लेकिन यहां पर गहन या रहस्यात्मक तत्त्व के अर्थ में "गुह" शब्द का प्रयोग किया गया है। वाल्मीकि ने रामायण के एक रहस्यात्मक पात्र "केवट" के लिए भी "गुह" शब्द का प्रयोग किया है और कई बार इस पात्र की चर्चा करते हुए "गुहो गहन गोचर:" कहा है। संच्चिदानंदमय जगत् के सत्व सार को "गुह्यतमम् परम्" कहा जाता है। इसी अर्थ में यहां पर "गुह" शब्द का प्रयोग किया गया है। इस रहस्य का उद्घाटन देवी की अनुकम्पा से ही संभव होता है। श्रुति भी इस बात का समर्थन करते हुए कहती है—"तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूम् स्वाम्" (उसी को—अपने वरणीय योग्य साधक को— आत्मा अपना रहस्य खोल कर दिखाती है।)

अंडांड से लेकर ब्रह्मांड तक अपने अधिकार-क्षेत्र को फैलाकर सब का शासन करने वाली परमेश्वरी की प्रशासन प्रणाली को समझाते हुए सहस्रनाम का अगला श्लोक कहता है:

देवेशी दंडनीतिस्था दहराकाश रूपिणी।
प्रतिपन्मुख्य राकांत तिथिमंडल पूजिता॥

देवताओं की अधीश्वरी होने के कारण परमेश्वरी को देवेशी कहा गया है। देवताओं का शासन करने वाली शास्त्री मनुष्य जाति का भी शासन करती हैं। ऊपर के श्लोक में ममता की मूर्ति के रूप में माता का वर्णन किया गया है। यहां पर उनको दंडनीति में प्रतिष्ठित बताकर उनके शासन की शिष्ट कठोरता की ओर भी संकेत किया गया है। मां अपने बच्चों को बहुत ही लाड प्यार से देखती हैं। लेकिन कभी-कभी आवश्यक होने पर बच्चों को बुरे आचरण से रोकने के अच्छे इरादे से दंड का भी आश्रय लेती हैं। माता के इस दंड में भी मधुरिमा छिपी

हुई होती है। नटखट कन्हैया को डांटनेवाली यशोदा माता उनको रस्सी से बांधती थी और कभी-कभी डंडा चलाने में भी संकोच नहीं करती थी। लेकिन कान्ह का अल्हडपन मां यशोदा को मन ही मन कितना अच्छा लगता था और कन्हैया को काबू में रखने पर वह अपने आप को कितनी कृतकृत्य समझती थी, यह वात्सल्य का स्वाद पहचानने वाली सभी माताएं जानती हैं। इसी प्रकार की दंडनीति देवेशी अपनी प्रजा के हित के लिए अपनाती हैं। परमेश्वरी के दंड में कितनी आत्मीयता और मिठास होती है, यह भी उनके सच्चे भक्तों से छिपी हुई नहीं है।

यह शासन परमेश्वरी कहां से करती हैं, यह बात अगले नाम—दशहराकाश रूपिणी—से स्पष्ट होती है। हृदय-कमल के भीतर जो शून्य प्रदेश होता है, उसी को दहराकाश कहा जाता है। यही आकाश परमेश्वरी का आकार है। आकाश का आकार धारण कर देवी समस्त प्राणियों को अपने शासन में रखती हैं। हृदय के भीतर का यह दहराकाश ही परमव्योम के रूप में अंतरिक्ष में व्याप्त महाकाश का सूक्ष्म रूप है। "आकाश शरीरं ब्रह्म" कह कर परब्रह्म को आकाश रूपी शरीर में आवृत या व्याप्त माननेवाली आर्ष दृष्टि ही यहां पर परमेश्वरी को "दहराकाशरूपिणी" के रूप में प्रत्यक्ष करने का प्रयास करती है।

जैसे बाहरी आकाश में प्रतिपदा से लेकर पूर्णिमा तक चंद्रमा की विभिन्न कलाएं प्रकट होती हैं, वैसे ही दहराकाश में प्रत्येक तिथि में एक विशिष्ट देवता प्रकट होता है। अग्नि, अश्विनी, गौरी, गणपति, नाग, स्कंद, सूर्य, मातृकाएं, दुर्गा, दिशाएं, कुबेर, विष्णु, परमेष्ठी, शंभु, पितृ देवता, चंद्रमा आदि देवता प्रतिपदा से लेकर राका तक की तिथियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हीं देवताओं की आराधना में प्रायः चतुर्थी के दिन गणपति की, षष्ठी के दिन कुमार स्कंद की, सप्तमी के दिन सूर्य की, द्वादशी के दिन भगवान् विष्णु की और पूर्णिमा के दिन चंद्रमा की पूजा की जाती है। तिथियां पंद्रह हैं, पर चंद्रमा की सोलह कलाएं हैं। अमावस्या प्रायः पंद्रहवीं तिथि मानी जाती है और

पूर्णिमा सोलहवीं। विभिन्न पुराणों में इन तिथियों का विवरण विभिन्न प्रकार से दिया गया है। लेकिन अमावस्या को चंद्रोदय का दिन माना जाए और पूर्णिमा को चंद्रमा के पूर्ण प्राक्ट्य का दिन, तब चंद्रमा की कलाओं की संख्या सोलह बन जाती है। प्रस्तुत श्लोक की दूसरी पंक्ति में देवी का एक सुदीर्घ नाम दिया गया गया है—"प्रतिपन्मुख्यरा-कांत तिथि मंडल पूजिता"। यह भी सोलह वर्णों का नाम है जो कि सोलह कलाओं का प्रतीक माना जा सकता है। इसमें प्रतिपदा से लेकर राका (पूर्णिमा) तक की तिथियों को एक मंडल कहा गया है। यह तिथि-मंडल अतिथि देवता परमेश्वरी की निरंतर आराधना किया करता है। यहां पर स्मरणीय है कि इसके पहले हृदय-कुहर को भानुमंडल का प्रतिरूप बताया जा चुका है और मूर्धा (शिर) को चंद्रमंडल का। सूर्य और चंद्र की सापेक्ष अवस्थिति से ही तिथियां बनती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सिर से लेकर हृदय तक के शारीरिक अवस्थानों में विभिन्न तिथियों की अधिष्ठात्री देवी-देवताएं प्रतिष्ठित हैं। इसीलिए इस संस्थान पर विराजमान परमेश्वरी को "गुह जन्म भू" कहा जा चुका है। गुरूमूर्ति, गुणनिधि, गुह जन्म भू, दहराकाश रूपिणी आदि नामों से जिस परम रहस्यमय, परम वरेण्य और परमाराध्य परमेश्वरी की ओर संकेत किया जा चुका है, उन्हीं श्रीमाता को यहां पर चंद्रमा की सोलह कलाओं से और सूर्य-चंद्र की सापेक्ष स्थिति से संघटित विभिन्न तिथियों के द्वारा समाराध्य बताया गया है। शिरस्थित चंद्रमा हृदय स्थित सूर्य की परिक्रमा करता है, अपने गुहाभ्याश—ललाट—सहित। यही परमेश्वरी की लीलाभूमि है जो हाड़-माँस के भीतर बसकर भी उससे अलग और परे है। अस्थिंचर्ममय शरीर का धारण करने वाले जीव की जीवन सिद्धि इसी में हैं कि वह अपने इस रमणीय आवरण के भीतर छिपी हुई परम रमणीयता को पहचान ले और उसके साथ एकाकार बन जाए। यही जीवन का चरम लक्ष्य है और यही सच्चे अर्थों में जीने की कला है।

जीवन-लीला की इस स्पृहणीय कला की ओर संकेत करते हुए सहस्रनाम का अगला श्लोक कहता है :

कलात्मिका कलानाथा काव्यालाप विनोदिनी ।
सचामर रमा वाणी सव्य दक्षिण सेविता ॥

संसार में अनेक कलाएं प्रचलित हैं। इन में से कुछ ललित कलाएं हैं और कुछ फलित कलाएं हैं। चित्र कला, गान कला, काव्य कला आदि ललित कलाओं के अन्तर्गत आती हैं क्योंकि उनका उद्देश्य जीवन से भौतिक लाभ उठाना नहीं है, बल्कि जीवन के अतिभौतिक और आध्यात्मिक रहस्य को पहचानना है। यह अलग बात है कि कुछ अर्थपरायण व्यक्ति इन कलाओं से भी अपना आर्थिक प्रयोजन सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। पर तत्त्वतः इनकी सार्थकता अर्थनिरपेक्ष परमार्थ की साधना में है। ये सब कलाएं परमात्मस्वरूपिणी परमेश्वरी के ही प्रकट रूप हैं। इसीलिए हर कोई कलाकार नहीं बन सकता और हर काम कलात्मक नहीं हो सकता। कुछ लोगों के चलने फिरने और बोलने-बताने में ही कुछ कलात्मकता प्रकट होती है। यह कलात्मकता परमेश्वरी की कृपा का द्योतक है। इसी आशय से देवी को यहां पर "कलात्मिका" कहा गया है। कला ही देवी की आत्मा है और आत्मा की कला ही आत्मबान् कलाकार की अमृतमय अभिव्यंजना है।

जीवन के एक विशिष्ट पहलू को भी कला की संज्ञा दी जा सकती है। यहां पर विशेष रूप से जीवन-कला की ओर ही लक्ष्य करके देवी को "कलात्मिका" और "कलानाथा" कहा जा रहा है। जीवन की चार प्रमुख अवस्थाएं हैं—जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय (इन तीनों से अतीत)। जाग्रदवस्था में, जब मनुष्य चलता फिरता है और कहता-सुनता है, उत्पत्ति, जागर, बोध और मन नाम की चार कलाएं सजग रहती हैं। इस अवस्था में वह अपनी कलात्मक जीवनचर्या के माध्यम से नया निर्माण करता है, स्वयं जगा रहता है और दूसरों को जगाता है, समझता है और

समझाता है और सोचता है और सोच विचार को बढावा देता है। इसी प्रकार स्वप्नावस्था में अभिलाषा, भ्रम, चिंता और पुनः स्मरण नाम की चार कलाएं व्यक्ति को अव्यक्त की ओर ले जाती हैं। सुषुप्ति (गहरी नींद) की अवस्था में मरण, विस्मरण, मूर्छा और निद्रा नाम की कलाएं व्यक्ति को शिवात्मक बनाती हैं। अंतिम और चौथी (तुरीय) अवस्था में, वैराग्य, मोक्षकामिता, समाधि और विशुद्ध विवेक नाम की कलाएं जीवात्मा को परमात्मा के सान्निध्य का बोध कराती हैं। ये सोलह कलाएं मस्तक से हृदय तक व्याप्त आंतरिक जगत् में प्रकट होती हैं जिन पर परमेश्वरी का अंकुश या अधिकार चलता है। इसीलिए उनको 'कलानाथा' कहा गया है। कलाओं की वह स्वामिनी हैं जिनके इशारे पर ये समस्त कलाएं सजग, सक्रिय और सार्थक बन जाती हैं। परमेश्वरी को कलानाथा कहने से एक और आशय प्रकट होता है। संसार की कोई भी कला हो, वह देवी के संपर्क, संसर्ग या साहचर्य के बिना सार्थक नहीं बन सकती। जो कला केवल अर्थपरायण है, वह सच्चे अर्थों में सार्थक नहीं है। देवी की दिव्य भावना से युक्त होने पर ही कला सनाथ बन जाती है।

कला और काव्य की इसी सार्थकता की ओर संकेत करने वाला अगला नाम है—'काव्यालापविनोदिनी'। काव्य की कल्पना में कलात्मिका देवी अपना मन बहला लेती हैं। कला की साकार मूर्ति काव्य कला को विशेष महत्त्व देती हैं क्योंकि उसमें कल्पना और यथार्थ का मंजुल सामंजस्य पाया जाता है। जो जैसा दीखता है, उसको उसी रूप में स्वीकार न कर उसके पीछे छिपे हुए परम सत्य को सुन्दर और शिवात्मक रूप में प्रत्यक्ष कर लेना ही काव्य का परम लक्ष्य है। इस दृष्टि से काव्य की कल्पना सत्य की भांति प्रतीत होने वाले व्यावहारिक जगत् के अंतरंग में निहित परम सत्य को प्रकट करती है और यही काव्य की सार्थकता है। शब्द भौतिक है, पर अर्थ आध्यात्मिक है। भौतिक शब्द को आध्यात्मिक अर्थ से ओतप्रोत बनाकर एक रमणीय अभिव्यंजना का

अक्षर हार गूंथना ही कवि कर्म है।

शब्द और अर्थ का यही सामंजस्य माता के अगले नाम में और अधिक स्पष्ट हो जाता है। यह भी सोलह वर्णों का कलात्मक नाम है— 'सचामर रमावाणी सव्य दक्षिण सेविता' लक्ष्मी (रमा) और सरस्वती (वाणी) परमेश्वरी की बाई और दाई ओर खड़ी होकर चंवर डुलाती हुई उनकी परिचर्या करती हैं। यहां पर लक्ष्मी या रमा विचार वर्द्धक, सुन्दर और सश्रीक अर्थ व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती हैं और सरस्वती या वाणी सहज, सात्विक, सरस और सारगर्भित वाक्, स्वर, शब्द या नाद सौंदर्य का बोध कराती हैं। रमादेवी की अर्थ-व्यवस्था में विचार-धन और भौतिक धन दोनों सम्मिलित हैं। भौतिक धन क्षण भंगुर है जबकि विचार धन या चिंतन-धन चिरंतन है। दोनों की अधिष्ठात्री, धात्री और दात्री रमा देवी हैं और इसके लिए आधार भूत सामग्री प्रस्तुत करती हैं—वाग्देवी। दोनों के संतुलित और समन्वित सहयोग से परमेश्वरी का परम रमणीय रूप प्रापंचिक प्राणी के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। वाङ्मय जगत् में रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाली शब्द-सुन्दरी के रूप में प्रकट होने वाली कलात्मिका देवी का बहुत ही कमनीय और मननीय रूप इस श्लोक के चार नामों में परिलक्षित होता है जिसके बारे में जितना सोचा जाए, उतना और सोचने के लिए रह जाता है।

———

३१. त्रिपुरा त्रिजगद्वंद्या

संसार की समस्त कलाओं की सूत्रधारिणी श्री ललिता परमेश्वरी ही चराचर जगत् की मूल शक्ति हैं। इसी मूल शक्ति को आदिशक्ति, पराशक्ति आदि कहा जाता है। यह परम पावन और अपरिमेय है। इसको नाम रूपात्मक जगत् अपने मापदण्ड के माध्यम से माप नहीं सकता। आत्म तत्त्व जिस प्रकार सर्वांतर्यामी और सर्वसत्तात्मक है, उसी प्रकार आत्मरूपिणी परमेश्वरी की अनन्त विभूति भी सर्वोपरि है। आदि शक्ति की इसी अपरिमेयता का वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है।

आदिशक्तिरमेयात्मा परमा पावनाकृतिः।
अनेक कोटि ब्रह्मांड जननी दिव्य विग्रहा॥

इस श्लोक का पहला नाम—आदि शक्ति—परमेश्वरी की संज्ञा है और दूसरा नाम—अमेया—उस संज्ञा का विशेषण है। संसार के कण-कण में शक्ति विद्यमान है। लेकिन इस शक्ति को मापा जा सकता है क्योंकि उससे बढ़कर शक्तिशाली तत्त्व दूसरा पाया जा सकता है। इन सभी शक्तियों का मूल स्रोत अनन्त शक्ति का एक अक्षय भंडार है जिसको न तो मापा जा सकता है और न समाप्त किया जा सकता है। उसी से सभी शक्तियां सक्रिय और सशक्त होती हैं, उससे बढ़कर कोई शक्तिशाली तत्त्व नहीं हो सकता। इसीलिए इस आदि शक्ति को "अमेया" कहा गया है। यह भौतिक माप-तौल के अधीन नहीं है और

न मन से इसका मनन किया जा सकता है। भौतिक और मानसिक सीमाओं से परे होने के कारण यह आत्मा की ही समझ में आने वाली वस्तु है। इसलिए इस अपरिमेय आदि शक्ति को आत्मा की संज्ञा दी गई है। शिव पुराण में आत्मा को शिव की आठवीं मूर्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यही परम शिव की परमाकृति (परमा तनुः) है। वास्तव में अपरिमेय शक्ति का मापन करने की शक्ति केवल परम शिव में है। इसीलिए लिंग पुराण में शिव को माता (मापने वाला) कहा गया है। विचित्र बात यह है कि इस अर्थ में माता पुंलिंग है। शिव माता बनता है तो शिवानी श्रीमाता बनकर सबकी मां बन जाती हैं। आत्मा की दृष्टि से शिव और शक्ति में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए यहां पर आत्मा के बाद "परमा" के रूप में परमेश्वरी का स्मरण किया गया है। आत्मा और परमा अलग-अलग रूपों में देवी का प्रतिनिधित्व करते हैं और संयुक्त रूप में दोनों मिलकर परमपिता परमात्मा को भी प्रतिभासित करते हैं। परमात्मा पुरुष भी है और स्त्री भी हैं और कभी-कभी नपुसंक भी। परमात्मा का अपना कोई लिंग नहीं होता। प्रसंग और प्रस्तुति के अनुसार वह सभी रूप धारण करता है। इस श्लोक के पहले चार नाम एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। आदि शक्ति, अमेया, आत्मा और परमा में आदि शक्ति और आत्मा संज्ञाएं हैं और बाकी दोनों नाम—अमेया और परमा—इन दोनों के विशेषण हैं। "आत्मा" शब्द को अमेया से भी जोड़ा जा सकता है और "परमा" से भी। दोनों के बीच में आत्मा का अवस्थान है।

आत्मा की परिभाषा करते हुए आत्मज्ञानियों ने कहा है कि जो अपनी इच्छा से अभीष्ट वस्तु को पा लेता है (आप्नोति), ग्रहण करता है (आदत्ते) और आत्मसात् कर लेता है (अत्ति) तथा सन्तति, निरन्तरता, अविच्छिन्नता आदि जिसका स्वभाव है, वही आत्मा हैं। इस परिभाषा पर ध्यान देने से पता चलता है कि आत्मा को अमेया और परमा कहने में कितना औचित्य है।

"परमा" शब्द भी परम रमणीय है और साथ ही अत्यन्त मननीय है। परम शिव की साध्वी परमा हैं। परम शब्द शिवात्मक है तो परमा शक्त्यात्मक है। "पर" शब्द ब्रह्म के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त होता है। परब्रह्म के चार रूप हैं—पुरुष, व्यक्ति, अव्यक्त और काल। इन चारों से परे रहकर चारों को नियंत्रित करने वाली परमेश्वरी को ही यहां पर "परमा" कहा गया है। इसी परमा का वर्णन करते हुए देवी के उपासकों ने उनको "सहस्रपरमा देवी शतमूला शतांकुरा" आदि कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि "परमा" के नाम से प्रख्यात परमेश्वरी संसार की समस्त शक्ति का पूर्व रूप भी है ओर पर रूप और परम रूप भी।

पांच भौतिक जगत् के पूर्वापर सम्बन्ध को जोड़कर स्वस्व को सर्वस्व और सर्वस्व को स्वस्व बनाने वाली सर्वेश्वरी केवल मात्रा की ही नहीं, बल्कि महत्ता की भी पराकांष्ठा हैं। वह अपरिमेय आदि शक्ति का साकार रूप भी हैं और परम पावन भावना की आराध्य और ध्यान गम्य पुण्य आकृति भी हैं। इसीलिए उनको "पावनाकृति" कहा गया है। इस श्लोक के प्राय: सभी नाम पूर्वापर समन्वय की अपेक्षा रखते हैं। इस दृष्टि से "परमा" में जो तुलनात्मक विशेषण "परम" है, वह "पावन" के साथ भी जोड़ा जा सकता है। आरम्भ में आदि शक्ति का जो स्मरण किया गया है, वह अमेया, अमेयात्मा, परमा, परमात्मा, पावना और परम पावना के रूप में परवर्ती नामों के पूर्वापर समन्वय से प्रतिभासित होती हैं।

पावनता भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों भूमिकाओं में अनुभव की जा सकती है। भौतिक स्तर पर वह केवल शारीरिक शुद्धि है जो आहार-विहार, चाल-चलन और संयम-सदाचार से सम्भव हो पाती है। यह पावनता की पहली भूमिका है। दूसरी भूमिका मानसिक है। मानसिक पवित्रता का आधार तपस्या, विद्या, विवेक, वैराग्य,

वाग्मिता और स्वस्थ चिंतन है। इन दोनों से बढ़कर सबसे उच्चकोटि की पवित्रता तीसरी भूमिका की पवित्रता है जो कि आध्यात्मिक साधना पर आधारित है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की विचक्षणता से यह विशुद्ध भावना उत्पन्न होती है। यही परमात्मस्वरूपिणी परमेश्वरी की परम पावनता है।

परमेश्वरी की यह पावनता पिंडांड से लेकर ब्रह्मांड तक व्याप्त रहती है। यह केवल एक ही ब्रह्मांड तक सीमित नहीं है, बल्कि करोड़ों ब्रह्मांडों तक विस्तृत है क्योंकि सभी ब्रह्मांड सर्वेश्वरी के संकल्प मात्र से सम्भावित होते हैं। "पावन" शब्द पवन का तद्धित रूप है। इसलिए पवन या हवा के रूप में परमेश्वरी की अनन्त सश्रीकता संसार के कण-कण में फैली हुई है। इसीलिए जगज्जननी को यहां "अनेक कोटि ब्रह्मांड जननी" कहा गया है। विराट्, स्वराट् और सम्राट् के रूप में समस्त संसार को संचालित करने वाले परमेश्वर की महाराज्ञी होने के कारण परमेश्वरी ब्रह्मांडों की प्रसवित्री बन जाती हैं।

लेकिन यह मातृत्व की दिव्य मूर्ति हैं। भौतिक शरीर को जन्म देने वाली सांसारिक माताओं की जननी होने के कारण विश्वजननी दिव्य रूप में सबका पालन-पोषण करती हैं। जो कुछ धरती से सम्बन्धित है, मिट्टी में पलकर मिट्टी में मिल जाती है और शुद्ध पार्थिव भावना से ओतप्रोत है, वह भव्य है। इसके विपरीत जो धरती से ऊपर उठकर भूतात्मा को पूतात्मा बना देता है, मिट्टी में पल कर भी मिट्टी को सोना बना देता है और पार्थिव को अपार्थिव से जोड़ देता है, वही दिव्य है। यही परमेश्वरी के स्वरूप का स्वभाव है। जहां से हमको प्रेरणा, चेतना और उदात्त भावना प्राप्त होती है, वही देवी का दिव्य रूप है। इसलिए उनको "दिव्य विग्रहा" कहा गया है। यही इस श्लोक का अन्तिम नाम है।

जो कुछ भव्य है, वह दिव्य शक्ति से संचालित होता है और इस

दिव्य तत्त्व की अभिव्यक्ति अक्षर या शब्द के माध्यम से होती है जिसको कभी-कभी मंत्र की संज्ञा दी जाती है। मंत्र का प्रत्येक अक्षर एक विशिष्ट महत्त्व रखता है और उसमें किसी विशिष्ट तत्त्व का रहस्य छिपा रहता है। इसीलिए इनको बीजाक्षर कहते हैं। इसी प्रकार के बीजाक्षरों में श्रीमाता का चिन्मय रहस्य कैसे छिपा हुआ है, इसका एक नमूना श्रीललिता सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है।

क्लींकारी केवला गुह्या कैवल्य पद दायिनी।
त्रिपुरा त्रिजगद्वन्द्या त्रिमूर्तिस्त्रिदशेश्वरी॥

इस श्लोक का पहला नाम—"क्लींकारी"—काम बीज स्वरूपिणी कामेश्वरी देवी की अलौकिक काम कला के कमनीय विलास का सांकेतिक परिचय कराने वाले तीन बीजाक्षरों के संयोग से बना है। "क"—कार, "ल"—कार और बिंदु पूर्वक ई—कार—ये तीन बीजाक्षर हैं। ये तीनों क्रमशः काम, कला और विलास के द्योतक, प्रतीक और परिचायक हैं। काम वासना के रूप में प्रकट होता है, कला उसे आराधना का रूप देती है और विलास उसको लोकोत्तर उपासना में परिणत कर देता है। षट् चक्र-दर्शन की दृष्टि से देखा जाए तो स्वाधिष्ठान में प्रतिष्ठित काकिनी क—कार को उद्भासित करती हैं तो मणिपूर चक्र के भीतर प्रादुर्भूत लाकिनी ल—कार को प्रतिभासित करती है और दोनों के संयोग को सहस्रार कमल में संचारित होने वाली याकिनी ई—कार बन कर स्वीकार करती है। सर्वानन्दमय बिन्दु में प्रतिष्ठित आनन्दमयी मां अपनी बिन्दुरूपिणी मन्दस्मिति से इन तीनों बीजों को समग्र और सम्पूर्ण रूप प्रदान करती हैं। क—कार शरीर का, ल—कार मन का और बिन्दु संयुत ई—कार आत्मा का भी प्रतीक माना जा सकता है। किसी भी दृष्टि से देखा जाए, क्लींकार सकल कलात्मिका श्रीमातां को साकार करने वाला बीजाक्षर-संयोग सिद्ध होता है।

दूसरा नाम है—केवला। संसार के समस्त बंधन जब छुट जाते हैं,

मन की सारी ग्रंथियां (गांठें) जब खुल जाती हैं तो अंत में जो अविनश्वर, निर्लिप्त और विमुक्त तत्त्व रह जाता है, वही केवल है, केवल वही अपना है, बाकी सब बाहरी और पराये हैं। "तद्विमुक्तस्तु केवली" कहकर शिव सूत्र इसी केवल तत्व की ओर संकेत करता है। भगवत्पाद शंकराचार्य ने "दशश्लोकी" में अपना परिचय देते हुए अपने को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश आदि पार्थिव तत्त्वों से भिन्न और केवल अपार्थिव शिव तत्व से अभिन्न बताया है। यह वही केवल तत्त्व है जो पांच भौतिक प्राणी के वास्तविक स्वरूप को निरूपित करता है। इसी केवल तत्त्व के साथ अपना तादात्म्य स्थापित करने पर पता चलता है कि आत्म स्वरूपिणी देवी यही केवला है।

लेकिन इस रूप में देवी का साक्षात्कार करना बहुत ही कठिन है क्योंकि इस रूप में वह न किसी को दिखाई देती हैं और न किसी की समझ में आती हैं। उनको देखने के लिए अंतर्दृष्टि चाहिए और उनको समझने के लिए अंतर्मन चाहिए। उनका निवास हृदय-कुहर के भीतर बहुत ही बारीक स्थान में रहता है जो सामान्य दर्शन, श्रवण, स्पर्श, आघ्राण, आस्वादन और कल्पना की पहुंच से परे होता है। इसीलिए उनको "गुह्या" (रहस्यमयी) बताया गया है। "तस्यांते सुषिरं सूक्ष्मं तस्मिन् सर्वम् प्रतिष्ठितम्" कहकर जिस रहस्य रंध्र की ओर संकेत करते हुए नारायण उपनिषद् उसी को संसार का सर्वस्व सिद्ध करती है, वही यहां पर "गुह्या" के नाम से प्रकीर्तित है।

यह रहस्यात्मक और सांकेतिक स्थान ही केवल या कैवल्य पद है। इसलिए जो इसका अनुभव करते हैं, उनको इसका साक्षात्कार हो जाता है। यही कैवल्य-पद की प्राप्ति है। यही समस्त योग साधना का चरम ध्येय है। इसीलिए योग सूत्र का अंतिम सूत्र इसी कैवल्य-पद या परम पद का वर्णन करते हुए कहता है—"प्रतिष्ठा चिति शक्तेः"।

चितिस्तत्पद लक्ष्यार्था, चिदेकरसरूपिणी आदि के माध्यम से श्री ललिता सहस्रनाम पहले ही इस कैवल्य पद को परिभाषित कर चुका है। सामान्य मुक्ति में पुनरावृत्ति की संभावना रहती है जबकि कैवल्य-मुक्ति में एक बार परम पद को प्राप्त करने के बाद फिर वापस आने की आशंका नहीं रहती है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस प्रकार की मुक्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है—"यद्गत्वा न निवर्तंते तद्धाम परमं मम" (जहां पहुंचने के बाद जीवात्मा फिर वापस नहीं आता, वही मेरा परम धाम है)। इस कैवल्य पद को प्राप्त करने के लिए क्षेत्र की पूजा आवश्यक है, केवल मूर्ति पूजा से काम नहीं चलता। मूर्ति पूजा से चित्त शुद्धि हो जाती है और क्षेत्र पूजा से आत्म साक्षात्कार ही नहीं, बल्कि आत्म-सायुज्य प्राप्त होता है। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य इस सिद्धि के चार सोपान हैं। पहले आत्मा के आलोक का अनुभव करना है, फिर उसके समीप पहुंचना है, बाद में उसके साथ सारूप्य की भावना पैदा होनी चाहिए और अंत में उसके साथ एकाकार हो जाना चाहिए। यह क्षेत्र या शरीर की क्षेत्रज्ञ या अशरीरी भावना, आराधना और उपासना से संभव हो जाता है।

कैवल्य पद प्रदान करने वाली केवला को "त्रिपुरा" कहा गया है। तीन स्थानों में अथवा रूपों में रहने वाली त्रिपुरा है। ये तीन स्थान इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाम की तीन नाड़ियां भी हो सकती हैं, कामानल, जठरानल और योगानल नाम की तीन अग्नियां भी हो सकती हैं, मन, वाणी और कर्म नाम के त्रिकरण भी हो सकते हैं, और भूलोक भुवर्लोक औ स्वर्लोक नाम के तीन लोक भी हो सकते हैं। यह भी आवश्यक नहीं है कि त्रिपुरा देवी इन तीनों के समूह तक सीमित हो। वह इन से परे भी हो सकती हैं और पुरा (पहले) भी। वह पूर्वरूप भी है और अपर रूप भी। वास्तव में सारा संसार त्रयी का समाहार है और इसकी अधिष्ठात्री और सूत्रधारिणी देवी त्रिपुरा कही जाती हैं।

इसीलिए उनको "त्रिजगद् वंद्या" (तीनों लोकों से वंदित अथवा वंदनीय) कहा गया है।

लोकत्रय की एकमात्र विधायिका परमेश्वरी को "त्रिमूर्ति" भी कहा गया है। सृष्टि, स्थिति और लय के विधायक ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को अपने-अपने कार्य में सक्षम और सक्रिय बनाने वाली देवी में तीनों मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। इसीलिए सारे देवता उनका शासन मानते हैं। तभी उनको "त्रिदशेश्वरी" कहा गया है। देवताओं को "त्रिदश" कहा जाता हैं क्योंकि वे हमेशा तीस साल के होते हैं। "त्रिदश" शब्द को यहां पर केवल संख्यावाचक मान लिया जाए तो पच्चीस वर्गाक्षरों के साथ पांच मूल स्वर मिलकर तीस प्रधान वर्ण बन जाते हैं जिनकी अधीश्वरी सर्ववर्णात्मिका सर्वेश्वरी श्रीमाता हैं। केवल अंतस्थ और ऊष्म वर्ण इसमें सम्मिलित नहीं होते हैं। सहस्रनाम के अगले श्लोक में इन तीस वर्णों में फिर तीन वर्णों का चयन किया जाता है जिनकी अधिष्ठात्री देवी को "त्र्यक्षरी" कहा जाता है। जिस प्रसंग में "त्रिदश" शब्द का प्रयोग किया गया है, उससे अक्षर भारती के रूप में परमेश्वरी को प्रस्तुत करना ही यहां पर अभीष्ट मालूम पड़ता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में भी इन तीन अक्षरों से परमात्मा के हृदय की रूप कल्पना करते हुए कहा गया है—तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयम्, तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यम्" (ये तीन अक्षर परम तत्व के हृदय को निरूपित करते हैं और यह अक्षरत्रय ही परम सत्य है)।

इस अक्षर भारती का आलंकारिक वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में द्रष्टव्य है :

त्र्यक्षरी दिव्य गंधाढ्या सिंदूर तिलकां चता।
उमा शैलेन्द्र तनया गौरी गंधर्व सेविता॥

तीन अक्षरों के समाहार में देवी समा जाती हैं। इसीलिए कहा

गया है—"मंत्राधीनं तु दैवतम्" । श्रीं, ह्रीं, क्लीं—त्र्यक्षरी के विभिन्न अक्षर हैं। ये सभी मंत्रपूरित बीजाक्षर हैं। देवी देवताओं की तरह ये भी मूर्तिमान्, गंधवान् और गुणवान् हैं। अंतर केवल यही है कि इन अक्षरों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध केवल पार्थिव या भव्य नहीं है, बल्कि अपार्थिव, अलौकिक और इसलिए दिव्य हैं। इसीलिए त्र्यक्षरी देवी को "दिव्य गंधाढ्या" कहा गया है। वह दिव्य परिमल से परिशीलित हैं। ललाट पर सिंदूर की बिंदी से देवी की शोभा दसगुनी, सौगुनी, हजार गुनी, लाख गुनी और करोड़गुनी बन जाती है। अंकों के लिए परवर्ती शून्य जितने महत्व का होता है, मुख सौंदर्य की श्रीवृद्धि में तिलक की बिंदी का उतना ही महत्व होता। नासिका से दिव्य सुगंध और ललाट पर बिंदी का सौंदर्य—दोनों श्रीमाता की अक्षरमय शोभा को बढ़ाने वाले मंगलमय लक्षण हैं। नासिका और ललाट एकाग्रता और ध्यान के भी प्रतीक हैं। मंत्र का मनन इन्हीं दो केन्द्रों की सचेष्टता और सजगता पर निर्भर रहता है। देवी की सुगंध को दिव्य गंध कहा गया है। दिवि से उत्पन्न गंध को दिव्य गंध कहा जाता है। पातंजल योगसूत्र में "संयमात् दिव्यम्" कहकर दैवी गंध की दिव्यता का आधार संयम कहा गया है। यह तथ्य देवी के संबंध में जितना सत्य है, उससे भी अधिक साधक के संबंध में है। वासना से दुर्गन्ध फैलती है और उपासना से सुगंध। श्रीसूक्त में श्रीदेवी को "गंधद्वारा" कहा गया है। मूलाधार की वासना नासिका में उपासना का रूप धारण कर दिव्य परिमल से ललाट को सुरभिल और सुन्दर बना देती है।

ऊपासना के इसी उदात्त स्वर को उमा और गौरी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उमा पर्वतराज हिमालय की तपस्विनी बेटी है और वही उपासना के सहारे गौरी बन गई है। उमा शब्द में भी तीन अक्षर हैं—उ, म और अ। ध्यान देने की बात है कि ये ही तीन अक्षर कुछ

हेर फेर के साथ (अ, उ, म बनकर) प्रणव अथवा ओंकार का रूप धारण करते हैं। इसी दृष्टि से महावाशिष्ठ में उमा को ओंकार की सारशक्ति बताया गया है (ओंकार सारशक्तित्वात् उमेति परिकीर्तिता)। उमा शब्द को उ और मा का समाहार माना जाए तो उ—कार आमंत्रण वाचक बन जाता है और "मा" निषेध सूचक। पार्वती जब तपस्या के लिए जाती थीं तो उनकी मां उनको पास बुलाकर समझाती थी और तपस्या से उनको रोकने का प्रयास करती थीं। इसीलिए उनका नाम "उमा" पड़ गया। इस कहानी के पीछे एक सारगर्भित सत्य छिपा हुआ है। प्रत्येक साधना में और विशेषकर परमार्थ की साधना में दिव्य शक्तियों का आमंत्रण अथवा आत्मसात्करण और दुष्ट शक्तियों का निषेध अथवा निराकरण एक अपरिहार्य प्रक्रिया है। यही "उमा" शब्द के द्वारा व्यंजित है। आशय की उदात्तता "शैलेंद्रतनया" के माध्यम से व्यंजित होती हैं। उदात्त आशय से प्रेरित होकर "सत्" को अपनाना और "असत्" को ठुकराना ही पार्वती की तपस्या के पीछे छिपा हुआ परम रहस्य है। इसी सात्विक साधना के फलस्वरूप गिरिराज की बेटी को परम शिव का प्रेम मिला है।

गंधर्व सेविता गौरी में भी इसी प्रकार का सांकेतिक अर्थ व्यंजित होता है। योगानल में जल कर निर्मल धावल्य से निखर उठी सती साध्वी पार्वती को यहां पर गौरी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। गौरी भी शीतल और धवल हिमाचल की पुत्री है जो सात्विकता की साकार मूर्ति है। दस साल की लड़की को भी गौरी कहा जाता है। भारतीय समाज में, विशेषकर हिंदू समाज में, विवाह के पूर्व सौभाग्य कांक्षिणी कन्याओं के द्वारा गौरी की पूजा करवाई जाती है। इससे गृहिणी के लिए आवश्यक प्रेम, निष्ठा, सहिष्णुता, सात्विकता और सत्य धर्मपरायणता का बोध कराया जाता है। गंधर्व सेविता गौरी में पवित्रता तो है ही, उसके साथ कलात्मकता, कोमलता और विलासिता

के कारण वह स्त्री की सश्रोकता का उन्नत आदर्श प्रतिष्ठित करती हैं। जहां उमा और गौरी की उदात्तता और गरिमा को ठीक-ठीक समझकर अपना लिया जाए, वहां किसी भी चीज़ की कमी नहीं हो सकती। उस पवित्र भूमि के प्रत्येक प्राणी का प्रत्येक अक्षर आनंद का अक्षय भंडार प्रदान कर सकता है। इसीलिए कहा गया है:

"यत्र नार्यस्तु पूज्यंते तत्र तिष्ठंति देवताः"

———

३२. योगिनी योगदा योग्या

पांच भौतिक जगत् में दो विरोधी तत्वों का समाहार पाया जाता है—क्षर और अक्षर। इन्हीं को असत् और सत् या नश्वर और अविनश्वर भी कहा जाता है। लेकिन इन दोनों तत्वों का मूल उद्गम एक ही है। इसलिए इनको अलग नहीं किया जा सकता। इन दोनों तत्त्वों को अपने भीतर समाए बैठी परमेश्वरी न केवल दोनों का समान रूप से पालन-पोषण करती हैं, बल्कि क्षर को अक्षर और असत् को सत् बनाकर समस्त जगत् को स्वर्णिम बनाती हैं। इसलिए इस आदि शक्ति या मूल शक्ति को विश्वगर्भा और स्वर्णगर्भा कहा गया है। इसी हिरण्यगर्भा का वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है:

विश्वगर्भा स्वर्णगर्भा वरदा वागधीश्वरी।
ध्यानागम्या ऽपरच्छेद्या ज्ञानदा ज्ञान विग्रहा॥

सारा संसार या विश्व माता के गर्भ में समाविष्ट है, इसलिए वह विश्वगर्भा हैं। चर-अचर, जड-चेतन, नश्वर-अविनश्वर सभी प्रकार के पदार्थ परमेश्वरी के गर्भ में से निकले हैं। हिरण्य गर्भ की अध्यक्षता में सचराचर जगत् को जन्म देने वाली जगन्माता ही यह विश्वगर्भा हैं। माता का गर्भ हिरण्य या स्वर्णिम होने के कारण जो भी वस्तु उनके गर्भ में स्थान पाती है, वह तत्त्वतः स्वर्णिम या सुनहली आभा से अलंकृत बन जाती है। स्वर्ण शब्द में केवल बाहरी चमक दमक ही नहीं, बल्कि अक्षय आलोक भी समाविष्ट है। "सु" और "अर्ण" के संयोग से स्वर्ण

शब्द निष्पन्न होता है। सुशोभित या मनोहर अर्ण (अर्थात् अक्षर, धारा या रंग) स्वर्ण कहलाता है। इसलिए स्वर्ण शब्द के अन्तर्गत केवल सोना ही नहीं, बल्कि सुनहले अक्षर, सुनहली शोभा और सुनहली विचारधारा को भी शामिल किया जा सकता है। वास्तव में इसी अर्थ में यहां पर परमेश्वरी को "स्वर्णगर्भा" कहा गया है। संसार के सभी रंग उनके हैं, पर उनमें से कुछ सुनहले रंग होते हैं जो विशेष आनन्द वर्द्धक होते हैं। इसी प्रकार सभी वर्णाक्षर उनके हैं, पर उनमें कुछ स्वर्णाक्षर होते हैं जो देवी की दिव्य शोभा को प्रतिभासित करने वाले मंत्राक्षर बन जाते हैं। इन्हीं अक्षरों में आत्मा का आलोक प्रकट होता है। यही अक्षरमय आलोक है जो वागधीश्वरी परमेश्वरी का वाङ्मय वरदान बनकर अवर को प्रवर बना देता है। यही बात "अवरदा" और "वागधीश्वरी"—इन दो नामों से स्पष्ट होती है। इस श्लोक का तीसरा नाम वरदा भी हो सकता है और अवरदा भी। अवर का परिहार कर वर को प्रतिष्ठित करने वाली अद्भुत क्षमता वागधीश्वरी में है। वाणी के बल पर ही प्राणी अपने शत्रुओं को भी मित्र बना सकता ह। इसी प्रकार वाणी की अधिष्ठात्री देवी भी अपने भक्तों को वाणी का वरदान देकर उनके जीवन की अवरता या निकृष्टता को नष्ट कर प्रवरता या उत्कृष्टता को प्रकाशित कर देती हैं। लेकिन देवी सब को इस प्रकार की कृपा से अनुगृहीत नहीं करतीं। इसके लिए देवी की अनुकंपा चाहिए जिसे पाने के लिए साधक में स्पंदन या कंपन चाहिए। भक्त के हृदय की सच्ची पुकार भगवती सुन लेती हैं और उसके हृदय की भावना की गहराई को भी वह पहचान लेती हैं। इसी कंपन, स्पंदन, पुकार या भावना को हम ध्यान कहते हैं। ध्यान के माध्यम से परमेश्वरी की अनुकंपा प्राप्त की जा सकती है। इसलिए देवी को "ध्यान गम्या" कहा गया है।

लेकिन यह ध्यान कैसे किया जाए, यह बात अगले नाम-अपरिच्छेद्या

—में स्पष्ट की जाती है। किन-किन बातों पर मनन करने से परमेश्वरी का सही ध्यान संपन्न होता है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए परमेश्वरी का यह नाम दिया है। इसी सहस्रनाम के प्रारंभिक श्लोकों में देवी को "भावना गम्या" कहा गया है। वही भावना गम्या यहां पर ध्यान गम्या के रूप में प्रस्तुत है। भावना ही ध्यान है। लेकिन एक ऐसी सत्ता की भावना करना आसान नहीं है जो किसी लौकिक परिभाषा, परिसीमा अथवा परिच्छेद के अंतर्गत नहीं आती है। परमेश्वरी की भावना इसी प्रकार की है जो कि किसी परिच्छेद में बांधी नहीं जा सकती। भाव और अभाव से परे की यह भावना है जो देश, काल और वस्तु की लौकिक सीमाओं को पारकर एक पारमार्थिक और पारलौकिक भावभूमिका पर प्रतिष्ठित रहती है। परमेश्वरी की इस भावना को हृदयंगम करने के लिए हृदय और मस्तिष्क को देश, काल और वस्तु की कल्पित सीमाओं को पार कर अलौकिक भाव भूमिका पर पहुंचना पड़ता है जहां पर व्यक्ति को अव्यक्त का बोध हो जाता है। इस बोध से जो आनन्द मिलता है, वह कितना है, क्या है और कैसा है, यह कहना कठिन है। इसी अनुभूति की ओर संकेत मात्र करते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् कहती है कि ध्यान योग में मग्न मनस्वी लोग अपने भीतर ही गुणों से आवृत देवात्म शक्ति को पहचान कर उसका साक्षात्कार कर लेते हैं।

ध्यान योग से इस अपरिच्छेद्य शक्ति को आत्मसात् करना असंभव है। इस श्लोक के अंतिम दो नाम—ज्ञानदा और ज्ञान विग्रहा—इसी ज्ञानोदय की ओर संकेत करते हैं। ध्यान में लीन साधकों को ज्ञान प्रदान करने वाली परमेश्वरी को यहां पर ज्ञानदा और ज्ञान विग्रहा कहा गया है। देवी स्वयं ज्ञान की मूर्ति है और वह अज्ञान को हटाकर प्रकाश प्रसारित करती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि ध्यान साधन है और ज्ञान साध्य। ज्ञान को प्राप्त करने का एकमात्र और सीधा उपाय ध्यान है। लेकिन ज्ञान का सच्चा स्वरूप समझना भी आसान नहीं है। ज्ञान कई

प्रकार का होता है। लौकिक ज्ञान केवल मानसिक होता है, आत्मा तक उसकी पहुंच नहीं होती। देश, काल और वस्तु का ज्ञान परिच्छेद्य होता है। लेकिन आध्यात्मिक सत्ता का सही बोध कराने वाला ज्ञान अलौकिक, अपरिच्छेद्य और अनंत होता है जिसकी ओर संकेत करते हुए श्रुति कहती हैं—"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म"। इसी ज्ञान के सम्बन्ध में गीता-माता कहती है—"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" (ज्ञान के समान पवित्र वस्तु इस संसार में और कुछ नहीं है।) विष्णुपुराण में भी ज्ञान को परब्रह्म का पर्यायवाची कहा गया है। शिव सूत्र में ज्ञान के लौकिक और लोकोत्तर दोनों पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए ज्ञानं बंधं, ज्ञान-मन्नम् आदि कहा गया है। जहां ज्ञान कैवल्य साधक बनने में समर्थ होता है, वहां वह कैवल्य का बाधक भी बन सकता है। ज्ञानी को जब अपने ज्ञान पर गर्व होता है तब वह आत्मा की अनुभूति में बाधक बन जाता है। इसके विपरीत जब ज्ञानी को अपने ज्ञान का अनुभव ही नहीं होता है, बल्कि वह ज्ञान और ज्ञेय में एकाकार बन जाता है, तब उसका ज्ञान आत्म साक्षात्कार का साधन बन जाता है। इसी प्रकार के तादात्म्य की ओर संकेत करते हुए यहां पर देवी को ज्ञान विग्रहा कहा गया है। वह ज्ञान देती ही नहीं, बल्कि स्वयं ज्ञान बन जाती है। ज्ञानी की भी लग-भग यही दशा होती है। जब उसको सच्चा ज्ञान होता है, तब वह ज्ञान या ज्ञेय से अपने को अलग नहीं पाता। उसे अपने को ही जानना था और जानने लायक तत्त्व को जानने के बाद वह जानने की प्रक्रिया को निरर्थक और निरूपयोग पाता है। यही समस्त दर्शन का सार है जो सहस्रनाम के अगले श्लोक में और अधिक स्पष्ट हो जाता है:—

सर्ववेदांत सवेद्या सत्यानंद स्वरूपिणी।
लोपामुद्रार्चिता लोला क्लृप्त ब्रह्मांडमंडला॥

वेद वेदांत का चरम ध्येय वेदवेद्या परमेश्वरी को जानना और पहचानना है। वेदांत एक दर्शन है और उपनिषत् साहित्य को भी वेदांत

की संज्ञा दी जाती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में आध्यात्मिक ज्ञान को वेदांत कहा गया है। वेद वेदांत के अध्ययन, मनन और आत्मसात्करण का एकमात्र प्रयोजन सच्चे आनंद की सात्विक अनुभूति है। यह अनुभूति ही परमेश्वरी है। यह बात स्पष्ट होती है अगले नाम—सत्यानंद-स्वरूपिणी—से। देवी केवल आनंदस्वरूपिणी नहीं है, वह सत्यानंद की स्वरूपिणी है। सत्य से प्रसूत आनन्द ही परमेश्वरी के स्वरूप को साधक के अंतस्तल में अंकित कर देता है। सत्य का मतलब केवल यथार्थता या वास्तविकता नहीं है। भूत, भविष्य और वर्तमान में सही सिद्ध होने वाला और संसार का सार अपने में समाहृत करने वाला ही सत्य है। तैत्तिरीय आरण्यक में सत्य की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि "सत्' प्राणियों की प्राण शक्ति का द्योतक है, 'त'-कार अन्न तत्व का और 'यम्' आदित्य की भांति प्रकाशित होने वाले आध्यात्मिक आलोक का (सदिति प्राणाः,तीत्यन्नम्, यमित्यसावादित्यः)। सत्य ही जीवन का सर्वस्व है, इस लोक और परलोक का ज्ञातव्य ज्ञान है। इस सच्चे ज्ञान से होने वाला आनंद ही परमेश्वरी का आकार है।

इस श्लोक के अगले नाम में कहा गया है कि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा ने भी देवी की इस प्रकार की भावना से आराधना की है, अर्चना की है। यहां पर यह स्मरणीय है कि श्री ललिता सहस्रनाम का उपदेश हयग्रीव के द्वारा अगस्त्य को किया जा रहा है। श्री ललिता की उपासना करने वाली साध्वी स्त्रियों में अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा अग्रगण्य है। इसलिए प्रकारांतर से अगस्त्य को इस बात का बोध कराया जा रहा है कि उनकी पत्नी ने परमेश्वरी की अराधना करके परम तत्त्व को पहचान लिया है जबकि वह देवी के रहस्य को अवगत करने में अभी प्रयत्नशील हैं। इसके अलावा लोपामुद्रा एक विद्या का नाम है, जिसके माध्यम से नाम और रूप का लोप कराकर अस्तित्व, प्रकाश और प्रेम को आत्मसात् करने का प्रयास किया जाता है। अदर्शन (न दिखाई देने) को लोप कहा जाता है। चीज़ सामने होने पर भी दिखाई नहीं देती है।

यही अदर्शन या लोप है। नाम और रूप प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। लेकिन उनकी उपेक्षा की जाती है ताकि उनसे शाश्वत तत्त्व प्रकट हों। ये शाश्वत तत्त्व हैं—परम सत्ता का चिरंतन अस्तित्व, लोक को आलोकित करने वाला निर्मल और उज्ज्वल प्रकाश और सकल चराचर सृष्टि को एक सूत्र में पिरोने वाला पावन प्रेम। पहले दोनों तत्त्व—नाम और रूप-नश्वर हैं जबकि अंतिम तीन तत्त्व-अस्ति, भाति और प्रियम्-अविनश्वर और शाश्वत हैं। नश्वर की उपेक्षा कर अविनश्वर की आराधना करना ही लोपामुद्रा की अर्चना है।

अर्चना की यह प्रक्रिया प्रत्येक प्राणी के लिए अवलंबनीय है। सारा संसार सर्वेश्वरी की लीला का परिणाम है। श्री ललिता माता ने खेल ही खेल में समस्त ब्रह्मांड को जन्म दिया है। यह सब उन्हीं की रचना है। पर रचयित्री अगोचर हैं। वह दिखाई नहीं देती हैं। वह सब कुछ जानती हैं, पर उनको कोई नहीं जानता। केवल योगी इस रहस्य को जानते-पहचानते हैं। इसी विरोधाभास का वर्णन सहस्रनाम का अगला श्लोक प्रस्तुत करता है : :

अदृश्या दृश्यरहिता विज्ञात्री वेद्य वर्जिता।
योगिनी योगदा योग्या योगानंदा युगंधरा॥

संसार की सूत्रधारिणी संसार को इस प्रकार अपने दृष्टिपथ में ग्रहण किए रहती हैं कि वह तो सब कुछ देखती हैं और सबको देखती हैं, पर उनको कोई नहीं देख पाता। इसका कारण यह है कि जो कुछ दिखाई देता है, वह दृश्य है और उसमें वह नहीं है। इसीलिए उनको अदृश्या और दृश्य रहिता कहा गया है। जो कुछ दिखाई देता है, वह कभी न कभी नष्ट हो जाता है, पर जो दिखाई नहीं देता, वह कभी नहीं मिटता। इसलिए दृश्य या नश्वर वस्तु के भीतर छिपी हुई अदृश्य या अविनश्वर सत्ता को पहचानना ही सच्चा ज्ञान है। इसी को श्रीमद्भगवद्-

गीता परमगति की संज्ञा देती है जो समस्त प्राणियों के नष्ट होने पर भी स्वयं नष्ट नहीं होता है और इसलिए अव्यक्त है। वह अव्यक्त है, इसलिए अक्षर है।

इसी प्रकार देवी सब कुछ जानती हैं, विज्ञात्री हैं, पर वेद्य वर्जिता हैं। जो कुछ समझ में आता है, उससे वह परे हैं। इसलिए उनको समझने और समझाने का सवाल ही नहीं उठता। सब कुछ जानने वाली सत्ता को जानना किसी के बस की बात नहीं है।

लेकिन यह विरोधामास कैसे मिटेगा ? यह पहेली कैसे बूझेगी ? केवल योग इसका एकमात्र समाधान है। मन समेत समस्त ज्ञानेन्द्रियों को स्वाधीन बनाकर आत्मा के साथ एकाकार होना ही, विष्णु पुराण के अनुसार, योग है। इसी को आत्मा और मन का संयोग अथवा चित्तवृत्ति का निरोध कहा गया है। इस योग की साधना से जानने वाला जानने योग्य सत्ता के साथ अभिन्नता, एकता अथवा तादात्म्य का अनुभव करता है। यही योग है जो परमेश्वरी तक पारमार्थिक जीवी को पहुंचाता है। यह केवल पहुंचना और पहचानना है, समझना और जानना नहीं है। योग की इसी जटिलता की ओर संकेत करते हुए बृहदारण्यक कहता है "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" (सब कुछ सविशेष जानने वाले को कैसे जाना जाए)। केनोपनिषद् में इसका समाधान मिलता है—"अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम् (जानने वाला इसको नहीं जानता, पर न जानकर ही जानने वाला इसको जान जाता है)।

यह योग परमेश्वरी की कृपा से ही संभव है। वह स्वयं योगिनी हैं, ज्ञाता और ज्ञेय को जोड़ने वाली हैं। वही योग की क्षमता प्रदान करने वाली योगदा हैं। वह योग्या होने के कारण योगियों को योग साधना के लिए आवश्यक योग्यता प्रदान करती हैं। योग से प्राप्त होने वाला आनन्द तो वह स्वयं है। इसलिए वह योगानंदा हैं। यह सारा

दायित्व वह अपने ऊपर लेती हैं, इसलिए वह युगंधरा हैं। वियोग भी उन्हीं की इच्छा से होता है और संयोग भी उन्हीं की कृपा से।

यह सारी लीला उन्हीं की इच्छा से, उन्हीं की जानकारी से और उन्हीं की प्रेरणा से हो रही है। इच्छा, ज्ञान और कर्म इसी परम सीमा के तीन पहलू हैं जिनकी व्याख्या अगले श्लोक में प्रस्तुत हैं :

इच्छा शक्ति ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति स्वरूपिणी।
सर्वाधारा सुप्रतिष्ठा सदसद्रूपधारिणी॥

संसार को संचरणशील और मानव को मननशील बनाने वाली शक्ति तीन प्रकार की होती है—इच्छा, ज्ञान और क्रिया। ये तीनों परमेश्वरी के तीन रूप हैं। ये अच्छे भी हो सकते हैं और बुरे भी। अच्छे कर्म, बुरे कर्म, अच्छे विचार,गलत विचार, अच्छी कामना, बुरी कामना, सब उन्हीं की प्रेरणा से उत्पन्न होते हैं। सबका आधार वही हैं। सबको प्रसन्न करने के लिए उन्होंने यह लीला रची है। सत् और असत् दोनों समान रूप से आवश्यक हैं और जीवन को सफल और सार्थक बनाने के काम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसीलिए तैत्तिरीय उपनिषद् बड़ी सारगर्भित भाषा में कहती है—"सत्यंचानृतं च सत्यमभवत्" सत्य और असत्य दोनों मिलकर सत्य बन गए। देखने में यह कुछ अजीब सा मालूम होता है, पर यही सत्य है।

---

३३. लोकयात्रा विधायिनी

आत्मा एक है, पर आवरण अनेक हैं। लोक यात्रा को सुकर बनाने के लिए एकांत रंजनी आत्मा सर्वांतरंगिणी बन जाती है। पर आवरण की रमणीयता के प्रलोभन से बचकर अंतरंग की एकाकिनी का पता लगाने वाला योगी इस माया को पारकर यात्रा की सार्वभौम सत्ता को आत्मसात् कर लेता है। उस पारदर्शी की पैनी दृष्टि में सारी सृष्टि एक-सी दिखाई देती है। उसमें अनेकता या द्वैत का आभास तक नहीं मिलता। अनेक से एक की ओर ले चलने वाली यह आलोक यात्रा इसी लोक में लोक सेवा के माध्यम से संभव है। इसी लोक सेवा योग का स्वरूप और स्वभाव श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में स्पष्ट किया जाता है :

अष्टमूर्तिरजाजैत्री लोक यात्रा विधायिनी।
एकाकिनी भूमरूपा निर्द्वैता द्वैतवर्जिता॥

तात्विक दृष्टि से सृष्टि एक ही विराट् रूप में प्रकट होती है। पर लोक व्यवहार की सुविधा के लिए वह कई रूप धारण करती है एक ही आकार अथवा मूर्ति के इन विभिन्न रूपों का विश्लेषण कर भारतीय मनीषियों ने मूल प्रकृति की आठ मूर्तियों की कल्पना की है। श्रीमद्-भगवद् गीता में "भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" (प्रकृति आठ प्रकार की है) कहकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार के रूप में प्रकट होने वाली बाह्य और आंतरिक प्रकृति की ओर बड़ा

मार्मिक संकेत किया गया है। इनमें से पहले पांच तत्त्व बाहरी प्रकृति के द्योतक हैं जो सूक्ष्म रूप से शरीर के भीतर भी विद्यमान होते हैं। शेष तीन तत्त्व केवल आंतरिक हैं। दोनों में अनेकात्मक सत्ता को स्वीकार करने वाली एकांत मनः कांता का ही रूपांतर प्रकट होता है। महाकवि कालिदास ने पहले पांच तत्वों के साथ सूर्य, चन्द्र, और यजमान (जीव) को मिलाकर अष्टमूर्ति ईश्वर की रूप कल्पना की है। विष्णु-पुराण से भी इस कल्पना की पुष्टि होती है। गीता के प्रतिपादन में मन, बुद्धि और अहंकार ने इस परवर्ती धारणा में चन्द्र, सूर्य और यजमान का रूप धारण कर लिया है। ध्यान से देखा जाए तो दोनों स्थापनाओं में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। सूर्य बुद्धि का प्रेरक है और चन्द्र मन का संचालक है। अहंकार और यजमान में कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकार आठ आवरणों में प्रकट एक ही आत्म तत्व को यहां पर अष्टमूर्ति कहा गया है। मत्स्य पुराण के अनुसार लक्ष्मी, मेधा, धरा, पुष्टि, गौरी, तुष्टि, प्रभा और धृति भगवती सरस्वती की आठ मूर्तियां हैं। विभिन्न तंत्रों में इन्हीं के भिन्न-भिन्न नाम पाए जाते हैं। अपनी-अपनी भावना के अनुसार देवी देवताओं की रूप कल्पना की जा सकती है। पर मुख्य बात यह है कि परम सत्ता तत्वतः एक होते हुए भी प्रापंचिक प्रयोजन के लिए विभिन्न रूप धारण करती है।

यही बात इस श्लोक के अगले नाम से भी स्पष्ट होती है। यह नाम है—अजाजैत्री। जन्म की अपेक्षा न रखने वाली सत्ता को "अजा" कहा जा सकता है। वेदों में इसी अजा को एकाकिनी और तिरंगी (लाल, सफेद और काली) शोभा से युक्त रहस्यमयी सत्ता के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया—"अजामेकां लोहितां शुक्ल कृष्णां"। प्रभात के समय प्राची में जो लालिमा दिखाई देती है, वही दिन में सफेद वर्ण में बदल जाती है और शाम के ढल जाने के बाद रात के अन्धकार की कालिमा में बदल जाती है। इस प्रकार लाल, सफेद और काले रंगों के दैनंदिन आवर्तन में समस्त संसार की लोक यात्रा चलती है। इस यात्रा

में दिखाई देने वाले ये तीनों रंग और इन रंगों में साकार होने वाली हजारों और करोडों आकृतियां केवल काल्पनिक हैं। वास्तविक रंग एक ही है और वास्तविक रूप भी एक है। माया के आवरण के कारण इनमें हमें विविधता दिखाई देती है। जो नहीं है, वह माया है। इसी को यहां पर "अजा" कहा गया है। जो पैदा ही नहीं होता, उसका अस्तित्व कैसे हो सकता है ? लेकिन वह प्रत्यक्ष दिखाई देती है, इसलिए लगता है कि वह है। विडम्बना यह है कि जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, वह वास्तव में नहीं है और जो भौतिक दृष्टि से देखने पर दिखाई नहीं देता, उसी का अस्तित्व नित्य और शाश्वत है। माया के इस आवरण को पार करने की शक्ति अष्टमूर्ति परमेश्वरी की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है जिसको यहां पर माया अथवा अजा की जैत्री (विजयिनी) कहा गया है। हर दिन सुबह शाम हम यह विजय गाथा आंखों के सामने घटित देखते हैं, परन्तु माया की छाया के कारण हम असलियत को समझ नहीं पाते। दिन पर रात की, फिर रात पर दिन की यह विजय-परंपरा की घटना है जिसे देखकर प्रभात और प्रदोष में संध्या देवी मुस्कुराती हैं। इनके मंदहास की महिमा को जानने से अजाजैत्री का अतंरंग समझ में आता है। माया को पार करने से यात्रा के यम-नियम समझ में आते हैं। लेकिन तब तक लोक यात्रा आराम से और आनन्द से चलती रहती है।

लोक यात्रा का विधायन भी लोकमाता ही करती हैं। एक नहीं, अनेक लोकों का संचालन अकेली लोकमाता के द्वारा सुचारु रूप से सम्पन्न होता है। लोगों में स्मृति-विस्मृति, राग-द्वेष, माया-ममता, प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि परस्पर विरोधी भावों को जगाकर लोकमाता लोक शासन का कार्य संभालती हैं। इसीलिए इनको "लोकयात्रा विधायिनी" कहा गया है। यह काम वह अकेली करती हैं, इसीलिए वह "एका-किनी" है।"

देवी पुराण में देवी के इस एकाँत और स्वतंत्र शासन तंत्र की ओर संकेत करते हुए कहा गया है—"एकेव लोकान् ग्रसति, एकेव स्थापयत्यपि, एकेव सृजते विश्वं, तस्मादेकाकिनी मता"। वह एकाकिनी हैं, पर समस्त लोकों का सृजन, पालन और समापन वह स्वयं करती हैं। यह कैसे संभव है, यह बात अगला नाम—"भूमरूपा"—स्पष्ट करता है।

भू और मा क्रमशः भूदेवी और श्रीदेवी के द्योतक हैं जिनके संयोग से "भूमा" शब्द बनता है। भूदेवी लौकिक सत्ता की अधिष्ठात्री देवी है और श्रीदेवी (मा या रमा या मंगल देवता) जीवन की पारमार्थिक चरितार्थता की संधात्री हैं। दोनों के समन्वय से जीवन परिपूर्ण बन जाता है। एकाकिनी और भूमा शब्द एक प्रकार से परस्पर विरोधी तत्व हमारे सामने रखते हैं। एकाकिनी एकांत टीले पर सब से अलग अपने आनंद में आप मस्त रहने वाली विविक्त भावना का उद्बोधन करती है जबकि भूमा अनेकरूपात्मक जगत् में अपने आपको हर जगह प्रकट करने वाली सार्वभौम सत्ता को साकार बनाती हैं। देवी में ये दोनों रूप हैं। वह एक भी हैं और अनेक भी, पर दो नहीं है। परम सत्ता पारमार्थिक दृष्टि से एक है और पार्थिव दृष्टि से अनेक है, पर वह किसी भी दृष्टि से दो नहीं बन सकती। 'तुम' और 'मैं' की भावना में इसी दो या द्वैत की धारणा आती है। असल में यही द्वैत भावना परम सत्ता को पार्थिव जीव से अलग करती है। परम सत्ता को सर्वत्र देखा जा सकता है और मूल रूप में पुंजीभूत एक ही स्थान पर भी पाया जा सकता है। किन्तु सभी जीवों में व्याप्त भूमरूपा सार्वभौम सत्ता में भेद भाव पैदा कर 'मैं' और 'यह' अथवा 'आप और हम' की द्वैत बुद्धि को प्रश्रय देना ठीक नहीं है। वह दो तो किसी भी हालत में नहीं है, या तो एक हैं या अनेक।

इसी सत्य का प्रतिपादन करने वाले दो नाम इस श्लोक के अन्त में मिलते हैं—निर्द्वैता और द्वैतवर्जिता। पार्थिव और अपार्थिव सत्ताओं

में द्वैत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। दोनों वास्तव में एक हैं। जीव और ब्रह्म में इसी प्रकार की अभिन्नता को सिद्ध करते हुए आचार्य शंकर ने अपने "अद्वैत" का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। जो मर्त्य है, उसी में अमरत्व का बीज है। जो नश्वर आवरण (शरीर) है, उसी में अविनश्वर आत्मा छिपी हुई है। जिसको हम वासना समझकर कभी त्यागते हैं और कभी भोगते हैं, उसी में उपासना के उपकरण उपस्कृत हैं। भू तत्व से मा—तत्व को अलग नहीं किया जा सकता। जीवात्मा को परमात्मा से अलग नहीं माना जा सकता। दोनों हमेशा से एक रहे हैं, एक हैं और हमेशा के लिए एक रहेंगे। वे दो नहीं, एक हैं।

पार्थिव और अपार्थिव दोनों तत्वों को अपने में समाए बैठी परमेश्वरी पांच भौतिक जगत् के समस्त जीवों को जीवन के लिए आवश्यक समस्त सामग्री प्रदान करती हैं। वह अन्न भी देती हैं, संपन्नता भी देती हैं, और मर कर भी जीने का महान् आनंद भी देती हैं जिसको हम अक्सर ब्रह्मानन्द कहा करते हैं। अन्न से आनन्द तक अनंत संसार को अद्वैत की इस यात्रा में ले चलने वाली ब्राह्मी की परमार्थता सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत हैं :

अन्नदा वसुदा वृद्धा ब्रह्मात्मैक्यस्वरूपिणी।
बृहती ब्राह्मणी ब्राह्मी ब्रह्मानन्दा बलिप्रिया॥

भगवती अन्नपूर्णा सभी प्राणियों को अन्न देकर उनके प्राणों की रक्षा करती हैं और धन-दौलत देकर उनको सुखी बनाती हैं ओर चिंतन और ज्ञान देकर उनको चिरन्तर आनन्द प्रदान करती हैं। इसी क्रम में इस श्लोक के आठ नामों को हृदयंगम करना चाहिए। पांच भौतिक प्राणी के भीतर अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द नाम के पांच कोश हैं। इन पांचों कोशों को सुसम्पन्न बनाने का काम ब्रह्मविद्या-स्वरूपिणी ब्राह्मी करती हैं। पहले अन्न का नाम लिया है, फिर वसु

(धन-दौलत आदि) का और अन्त में आनन्द का। बीच में बृहती, ब्राह्मणी आदि नामों द्वारा मानसिक, बौद्धिक और वैज्ञानिक विकास की ओर संकेत किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जन्म-रहित आत्मा जिस प्रकार समस्त जीव-जन्तुओं को जन्म देती है, अन्न-वस्त्र, आवास-निवास आदि की व्यवस्था करती हैं, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है—"स वा एष महानज आत्मा अन्नादो वसुदानो विदंते वसु य एवं वेद।" जो इस रहस्य को जानता है वह अन्नवान् और धनवान् बन जाता है। श्री विष्णु सहस्रनाम में परमात्मा को अन्न और अन्नाद (अन्नमन्नाद एव च) कहा गया है। वास्तव में अन्न ही ब्रह्म है। ब्रह्म का ही अंश प्रत्येक प्राणी और वस्तु में है। इसलिए ब्रह्म पदार्थ महान् से महान् होते हुए भी साधारण से साधरण जीव में समा जाता है। इसी दृष्टि से परमेश्वरी को "ब्रह्मात्मैक्य स्वरूपिणी" कहा गया है। ब्रह्मा और आत्मा एक है। मांडूक्य उपनिषद् का महावाक्य—अयमात्मा ब्रह्म—इस बात की पुष्टि करता है। शरीरधारी में निहित यह आत्मा ही ब्रह्म है। जीवात्मा से लेकर परमात्मा तक आत्मा की जो क्रमिक वृद्धि या परिणति होती है, उसी की ओर संकेत कहते हुए यहां पर देवी को "वृद्धा" कहा गया है। वृद्धा का मतलब बुढ़ापे से नहीं है, बढ़ने से है। आत्मस्वरूपिणी माता नित्य-निरन्तर बढ़ती रहती हैं और दूसरों को भी बढ़ने में मदद देती हैं। अन्नजीवी क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आनन्दसेवी बन जाता है। यही ब्रह्म और आत्मा की समेकता या तदात्मता है।

"बृहती" शब्द भी इसी वृद्धि की ओर संकेत करता है। बृंह (बढ़ना) धातु से ही बृहती शब्द बनता है और ब्रह्म शब्द भी। ब्रह्म भावना पल-पल पर बढ़ती है। जितना मनन किया जाए, उतना आनंद आता है। ब्रह्म तत्त्व को पहचानने के लिए लालायित साधकों को ब्राह्मणी का सहारा मिल जाता है। ब्रह्मज्ञान की साकार मूर्ति ही ब्राह्मी हैं। एक ओर जीवात्मा को सहारा देते हुए उसको चैतन्य पथ पर ले जाने वाली ब्राह्मी ही दूसरी ओर ब्रह्म तत्त्व में आनन्द का बीज बो कर

भौतिक आनन्द में भटकने वाले प्राणियों को ब्रह्मानन्द का स्वाद प्रदान करती हैं।

पर यह आनन्द आसानी से नहीं मिलता। इसके लिए त्याग और तपस्या की आवश्यकता है। यही बात "बलिप्रिया" नाम से स्पष्ट होती है जो कि इस श्लोक का अन्तिम नाम है। जिस संत ने यह गा-गाकर प्रेम के आराधकों को सतर्क किया था कि "यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं, सीस उतारे भुइ धरै, तब आवे घर माहिं।" उन्होंने त्याग की ही महिमा गाई थी। त्याग और भोग परस्पर विरोधी जैसे लगते हैं। पर वास्तव में दोनों साथ-साथ चलते हैं और पलते हैं। त्याग के बिना भोग सम्भव नहीं है। इसी यथार्थ की ओर संकेत करते हुए ईशावास्य उपनिषद् यह आदेश देती है कि त्याग की भावना से भोग को अपना लो (तेन त्यक्तेन भुंजीथा)। जब साधारण आनन्द के भोग के लिए भी बहुत कुछ छोड़ना पड़ता है, तब ब्रह्मानन्द की सिद्धि के लिए कितनी साधना, कितनी तपस्या, कितना त्याग और कितना संयम अपेक्षित है, यह आसानी से समझा जा सकता है। इसीलिए परमेश्वरी को "बलिप्रिया" कहा गया है। वह चाहती हैं कि हम अपनी पशुता को, अपनी तुच्छता को, अपनी सारहीन मादकता को और अपने अहंकार को उनके श्रीचरणों में अर्पित कर दें। देवी के चरणों में हम फूल चढ़ाते हैं। यह तो केवल प्रतीकात्मक है। वास्तव में हमें चाहिए कि हम अपनी भावना के फूल, हृदय-कुसुम अथवा मन के सुमन श्रीमाता के चरणों में निर्लिप्त भावना से समर्पित कर दें। यही सच्ची आराधना है जिस पर भावना को पहचानने वाली भवानी प्रसन्न हो जाती हैं।

इस आराधना में प्राणी की वाणी का क्या प्रयोजन है, यह बात अगले श्लोक में स्पष्ट की जाती है :

भाषारूपा बृहत्सेना भावाभाव विवर्जिता।
सुखाराध्या शुभकरी शोभना सुलभा गतिः॥

भाषा ही देवी है। अमरकोश में "ब्राह्मी तु भारती भाषा" कहकर भाषा को सरस्वती की मूर्ति बताया गया है। भाषा या भारती की सेना अत्यन्त विशाल है। लगभग पचास वर्णों की माला में समाई गई संसार की समस्त भाषाएं भारती की सेना के अन्तर्गत आती हैं। वैसे देखा जाए तो भाषा परमेश्वरी की ही देन है। उन्हीं की दी हुई सम्पत्ति से हम उनकी स्तुति करते हैं। इस पर आचार्य शंकर को हंसी आई थी और "सौंदर्य लहरी" के अन्तिम श्लोक में वे अपनी बालिशता को प्रकट करते हुए कहते हैं—"त्वदीयाभिर्वाग्भिः तव जननि वाचां स्तुतिरियं" (हे माता, तेरी ही दी हुई वाणी से मैं तेरी स्तुति कर रहा हूं)।

जब कवि के मन में यह विचार आता है कि वह जिस भाषा को लेकर अपनी साधना चला रहा है, वह आखिर उसकी अपनी नहीं है तब उसे पता चलता है कि जिन विचारों को वह शब्द दे रहा है, आखिर वे भी तो उनके अपने नहीं हैं। उनका न शब्दों पर अधिकार है और न विचारों पर। अन्तरंगिणी वाणी की प्रेरणा से उनके मन में जो विचार उत्पन्न हो रहे हैं और उनके मुंह से या लेखनी से जो शब्द निकल रहे हैं, इन सबका वह साक्षी मात्र है। इस दशा में भाषा का प्रयोक्ता शब्द लोक और भाव-जगत् से परे किसी विलक्षण भाव-भूमिका में पहुंच जाता है जहां पर न कोई शब्द मुखरित होता है और न किसी भाव या अभाव की सम्भावना रहती है। यही भाव और अभाव, माधुर्य और मौन, व्यक्त और अव्यक्त से परे की मधुमती भाव-भूमिका है जिस पर भाषा रूपी परमेश्वरी का एकाधिपत्य चलता है। यह एक ऐसा साम्राज्य है जिसके सामने संसार की कोई भी सम्पत्ति सार्थक नहीं बन सकती।

लेकिन यह साम्राज्य किसको मिलेगा, कैसे मिलेगा, मिलने से क्या लाभ होगा, ये सब बातें अगले तीन नाम बताते हैं। इनमें से पहला नाम है—सुखाराध्या। आराधना से यह पद मिलेगा। पर आराधना सुख-पूर्वक होनी चाहिए। सुख माने अपना सुख नहीं, सबका और विशेषकर

दूसरों का। स्वातः सुख में समस्त संसार का सुख निहित है। हम भी सुखी हों और सभी लोग सुखो रहें, यही सुख की सच्ची भावना है। "सर्वे जनाः सुखिनो भवन्तु", "लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु" आदि मंगलमय भावना के आधार पर यह आराधना चलनी चाहिए। तब यह शुभप्रद बन जाती है। इसीलिए अगला नाम दिया है—शुभकरी। सुख की भावना से शुभ मिलता है। लेकिन यह सार्वजनिक होना चाहिए, व्यक्तिगत या स्वार्थमूलक नहीं। इस स्वस्थ भाव-भूमिका पर प्रतिष्ठित आराधना के माध्यम से भाव-योगियों की जो शोभा यात्रा चलती है, वह बड़ी सुगमता के साथ परमेश्वरी के प्रासाद तक पहुंचती है और अपने परम लक्ष्य को सुलभ कर लेती है। इसी सिद्धि की ओर संकेत करने वाला अन्तिम नाम है—शोभना सुलभा गतिः।

परमेश्वरी की पदनिधि सच्ची आराधना से प्राप्त की जा सकती है। उसमें सुख ही सुख है, शुभ ही शुभ है। वही सबकी चरम गति है—मुक्तानां परमा गतिः।

———

३४. स्वतंत्रा सर्व तंत्रेशी

परमेश्वरी की परम रमणीय शोभा पार्थिव जगत् के प्रापंचिक प्राणी की परिकल्पना से परे है। पार्थिव शोभा आपात मधुर अवश्य होती है, पर वह क्षण भंगुर होती है। शारीरिक शोभा की अपेक्षा बौद्धिक शोभा या मनोराज्य की राजन्यता अधिक परिष्कृत, शाश्वत और व्यापक होती है। लेकिन यह भी देश, काल और व्यक्ति की सीमाओं में आबद्ध रहती है। सच्ची शोभा जो परमेश्वरी की शोभना-मूर्ति में प्रतिष्ठित होती है असीम, अखंड और अनिर्वचनीय होती है क्योंकि यह आत्मा की अनंत विभूति से विभूषित होती है। इसी आध्यात्मिक शोभा से विभूषित परमेश्वरी के अलौकिक, किन्तु आलोक मधुर साम्राज्य का वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

राजराजेश्वरी राज्यदायिनी राज्यवल्लभा।
राजत्कृपा राजपीठ निवेशित निजाश्रिता॥

आत्म साम्राज्य की अधीश्वरी देवी राजाओं के राजाओं की ईश्वरी है। पृथ्वी मंडल के राजा लोग उनके दासों के दासों के दास हैं क्योंकि उनका राज्य क्षेत्र समस्त ब्रह्माण्ड है जिसमें करोड़ों सूर्य मंडल और पृथ्वी मंडल समा जाते हैं। समस्त संसार की सम्राज्ञी अपनी इच्छा से किसी को राजा बनाती है और किसी को सामान्य प्रजा। राजा महाराजाओं की अधीश्वरी होने के कारण वह राजराजेश्वरी हैं और अपने निजी भक्तों को अपनी इच्छा से आत्मा का अक्षय राज्य

प्रदान करने की क्षमता रखने वाली सम्राज्ञी होने के कारण वह राज्य-दायिनी हैं। वह राजाओं से मत्री, वात्सल्य और ममता की भावना भी रखती हैं, इसलिए वह राज्यवल्लभा हैं।

यहां पर राजा, राज और राज्य शब्दों का प्रयोग प्रापंचिक प्रभुता के अर्थ में नहीं हुआ है, इस बात पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है। पार्थिव जगत् में जो बहुत बड़ा राजा हो, वह पारमार्थिक दृष्टि से, हो सकता है, बहुत साधारण और अकिंचन हो। जब बुद्धिजीवियों ने भी अपने बौद्धिक विलास की उत्कृष्टता को प्रकट करते हुए यह घोषित किया कि "सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम् ?" (सत्कविता के सामने साम्राज्य की क्या गिनती है ?) तब आध्यात्मिक साधना के बल पर प्राप्त आत्म साम्राज्य के सामने किसी भी पार्थिव संपत्ति, अथवा साम्राज्य की कोई गिनती नहीं हो सकती। सच्चा आनंद ही सर्वश्रेष्ठ साम्राज्य है। जीवन में अर्थ, अधिकार और अध्यात्म तीनों सुख—संतोष के साधन हैं। लेकिन आर्थिक संतोष से अधिकार की भावना में अधिक आनंद मिल सकता है और इन दोनों से बढ़कर आध्यात्मिक आनंद है क्योंकि वह अखंड, अक्षय और अनंत है। अध्यात्म के सामने अर्थ और अधिकार दोनों को सिर झुकाना पड़ता है। इसी अध्यात्म की अधीश्वरी को यहां पर राजराजेश्वरी, राज्यदायिनी, राज्यवल्लभा आदि कहा गया है।

राजराजेश्वरी का साम्राज्य जितना विस्तृत है, उतना ही विशाल उनका कोमल हृदय है। अपने भक्तों पर वह कृपा बरसाने में वहुत ही उदार हैं और वह कृपा भी अनुग्रह की भावना से नहीं, सहज सात्विक स्नेह और वात्सल्य की भावना से प्रकट होती है। इसीलिए वह राजत्कृपा है। देवी की तरह उनकी कृपा भी उदार भावना से विराजित होती है। वह अपने यहां आश्रय की आकांक्षा लेकर आए हुए लोगों का इतना आदर-सत्कार करती हैं कि उनको पल भर में राज

की गद्दी पर बिठा देती हैं। जिस पर देवी की कृपा होती है, वह देखते ही देखते सर्वशक्ति संपन्न बन जाता है। इस श्लोक का अन्तिम नाम "राज पीठ निवेशित निजाश्रिता" इसी आशय को स्पष्ट करता है।

राजराजेश्वरी के राज्य वैभव का वर्णन अगले श्लोक में और अधिक विस्तार से पाया जाता है :

राज्यलक्ष्मीः कोशनाथा चतुरंग बलेश्वरी।
साम्राज्य दायिनी सत्यसंधा सागर मेखला॥

राज्य लक्ष्मी में आभा और शोभा का अपूर्व संयोग है। गज लक्ष्मी, वीर लक्ष्मी, धन लक्ष्मी, आदि लक्ष्मी, संतान लक्ष्मी, विजय लक्ष्मी, ऐश्वर्य लक्ष्मी और धान्य लक्ष्मी श्री लक्ष्मी के आठ विभिन्न रूप हैं। इन सब में राज्य लक्ष्मी ही किसी न किसी रूप में विराजमान हैं। जैसे राजयोग सभी योगों में प्रशस्त और प्रमुख है, उसी प्रकार राज्य लक्ष्मी श्री लक्ष्मी के विभिन्न पहलुओं को अपने में समाए रहती हैं।

राज्य लक्ष्मी के पास न केवल राज्य है, बल्कि उस राज्य के अनुरूप समृद्ध कोश भी है। इसीलिए उनको "कोशनाथा" कहा गया है। अन्न, प्राण, मन, विज्ञान ओर आनंद के पांच कोशों से प्रत्येक जीवी का प्रणयन होता है और इन पांच कोशों को नियमित और संचालित करने वाली परमेश्वरी कोशाध्यक्षा या कोशनाथा है। वह आत्मा के खजाने की खजांची है जो खजाने की रखवाली भी करती हैं और लेखा-जोखा भी रखती हैं।

राज्य लक्ष्मी की रक्षा का कार्य संभालने में सहयोग देने के लिए चार अंगों से युक्त सशक्त सैन्य बल भी है। जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया अवस्थाओं में उनका यही बल प्राणी को संबल प्रदान करता है। इस रक्षा-दल या सेना-बल की अधीश्वरी होने के कारण उनको "चतुरंग बलेश्वरी" कहा गया है।

राज्य लक्ष्मी न केवल राज्य चलाती हैं, बल्कि राज्य दिलाती भी हैं। वह प्रजा को राजा बनाती हैं और राजा को सम्राट् क्योंकि वह स्वयं स्वराट् और विराट् दोनों हैं। सारे ब्रह्माण्ड की संचालिका होते हुए भी वह इस शासन में लिप्त नहीं रहती हैं। स्वयं निर्लिप्त रह कर वह दूसरों को इससे संपृक्त करती हैं। यही उनके शासन की विशेषता है। वह साम्राज्य रखती हैं केवल देने के लिए, उससे कुछ लेने के लिए नहीं। इसीलिए वह साम्राज्य दायिनी हैं।

वह अपनी बात की पक्की हैं, इसलिए "सत्य संधा' हैं। सत्य से वह अपने आप को बांध लेती हैं और दूसरों को भी बांध देती हैं। सत्य के बल पर वह अपना शासन चलाती हैं। उनका शासन समुद्र तक व्याप्त समस्त भूमंडल पर चलता है। इतना ही नहीं, वह सागर को अपनी मेखला या करधनी बनाकर परमाकाश तक अपने शासन-तंत्र को फैलाती हैं। इसीलिए उनको "सागर मेखला" कहा गया है। सागर को रत्नाकर भी कहा जाता है। इन्हीं रत्नों से उनकी मेखला अलंकृत है। तभी तो सम्राज्ञी के योग्य उनकी साज-सज्जा प्राकृतिक रूप से ही सिद्ध हो जाती है।

राज राजेश्वरी या राज्य लक्ष्मी के राजतंत्र का प्रयोजन समस्त संसार में सत् चित् और आनंद की विभूतित्रयी को संचारित करना है। यह कैसे संभव होता है, यह अगले श्लोक से स्पष्ट होता है :

दीक्षिता दैत्यशमनी सर्वलोकवशंकरी ।
सर्वार्थदात्री सावित्री सच्चिदानंद रूपिणी ॥

वह सबको सदाचार की दीक्षा दिलाती हैं। इससे अच्छे बुरे का विवेक प्राप्त होता है। दीक्षा से ज्ञान भी प्राप्त होता है। परमेश्वरी जहां दूसरों को दीक्षा दिलाती हैं, वहां वह स्वयं भी दीक्षा ग्रहण करती हैं। इसलिए वह दीक्षिता हैं। स्वयं दीक्षित न बनकर दूसरों को दीक्षा

दिलाने वाले उपदेशकों या देशिकों के उपदेश या सन्देश का कोई महत्व नहीं होता। इसलिए देवी स्वयं दीक्षा ग्रहण कर दूसरों को दीक्षा दिलाती हैं। इतना ही नहीं, वह दीक्षित व्यवितयों के ध्यान-मग्न अंतः-करण में निवास भी करती हैं। दीक्षापूर्वक आचरण ही परमेश्वरी के पावन चरण हैं।

इस प्रकार की दीक्षा से दैत्य या आसुरी भावना अपने आप शांत हो जाती है। जहां निष्ठा और दीक्षा है, वहां निष्ठुरता और दुराचार जैसे दुष्ट और अशिष्ट भावना नहीं पनप सकती। इसीलिए दीक्षिता देवी को "दैत्य शमनी" कहा गया है।

जहां अच्छाई ही अच्छाई हो और बुराई नाम की चीज़ तक न हो, वहां सारा संसार सत्य को स्वीकार करता है, असत् को छोड़कर सत् को ग्रहण कर लेता है। इसी आशय को स्पष्ट करने के लिए यहां पर देवी को "सर्वलोकवशंकरी" कहा गया है।

सब लोगों को अपने वश में करने वाली देवी सब पर शासन तो चलाती हैं, पर उनको सुखी बनाने के लिए, न कि उन पर रोब जमाकर उनका शोषण करने के लिए। सच्चे शासन का ध्येय पोषण होता है, शोषण नहीं। इसी प्रकार का शासन करने वाली शास्त्री परमेश्वरी को यहां पर सर्वार्थदात्री और सावित्री कहा गया है। वह सब कुछ देती है जैसे सूर्य की कांति संसार को समस्त सम्पत्ति प्रदान करती है। सविता की जो प्रसवित्री क्षमता है, वही सावित्री है जिसको हम आधुनिक परिभाषा में सौर ऊर्जा भी कह सकते हैं। सौर तेज से समस्त लोक का बाहर-भीतर आलोकित हो जाता है। उससे धूप भी मिलती है और वर्षा भी होती है। धरातल का जल जब कलुषित होता है तब उसे अपनी प्रखर किरणों से ऊपर उठाकर भगवान् सूर्य उसको निर्मल वर्षा जल के रूप में धरती को वापस कर देता है। यही सावित्री की प्रक्रिया है जिसकी ओर यहां पर संकेत किया जा रहा है। पदार्थ और

परमार्थ दोनों सावित्री की कृपा से सिद्ध हो जाते हैं।

इसीलिए उनको "सच्चिदानन्द रूपिणी" कहा गया है। सत् चित् और आनन्द परमेश्वरी के स्वरूप को निष्पन्न करते हैं। सत् में अस्तित्व चित् में प्रकाश और आनन्द में जीवन का सर्वस्व समाविष्ट है। इन्हीं को वेदांती अस्ति, भाति और प्रियम् कहते हैं। यही जीवन का सत्व सार है जो राजराजेश्वरी की राजत्कृपा के प्रसाद के रूप में राजा-प्रजा सबको प्राप्त होता है।

देवी का राज्य-क्षेत्र देश और काल की सीमा को पारकर सर्वत्र और सर्वदा समस्त प्राणियों तक व्याप्त है। यह बात अगले श्लोक में स्पष्ट होती है :

देशकालापरिच्छिन्ना सर्वगा सर्वमोहिनी ।
सरस्वती शास्त्रमयी गुहांबा गुह्यरूपिणी ।।

परमात्मा या परमेश्वरी की सत्ता दिक्, काल आदि कल्पित सीमाओं से परे है। वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक है। यही नहीं, वह सार्वजनीन भी है। वह सबको अपनी माया से मोह लेती हैं और फिर अपनी इच्छा से मोह का आवरण हटा भी देती हैं। वह अज्ञान से ज्ञान को आवृत करने वाली मोहिनी भी हैं और मोह का परदा हटाकर सत्य को प्रकाशित करने वाली सरस्वती भी हैं। शास्त्र-ज्ञान के सहारे यह आवरण हट जाता है। सर्वेश्वरी के शासन-तंत्र का निरूपण करने वाला साहित्य ही शास्त्र है। शास्त्री का यह शास्त्र परम गोपनीय है। सब उसको नहीं जान सकते। परमेश्वरी का पुत्र गुह (कुमार स्वामी) कहलाता है। गुह्यता या गोपनीयता परमेश्वरी की प्रकृति है। लेकिन सरस्वती के तत्व को पहचानने वाले साधक शास्त्र के सहारे शास्त्री के शासन-तँत्र को समझ लेते हैं।

सर्वेश्वरी का शासन-तंत्र सर्व तंत्र स्वतंत्र होते हुए भी कितना नियंत्रित और नियम निष्ठ होता है, यह अगले श्लोक में बताया जाता है :

सर्वोपाधि विनिर्मुक्ता सदाशिव पतिव्रता।
संप्रदायेश्वरी साध्वी गुरुमंडल रूपिणी॥

सांसारिक अथवा लौकिक उपाधियों से देवी सर्वथा मुक्त है। उनके लिए न कोई अपना है और न पराया। उनके शासन में न कोई स्वार्थ है और न कोई लालसा। उसमें एक ही मान्यता है और वह है सदाशिव के प्रति अनन्य अनुराग की भावना। वह उपाधियों से मुक्त है, पर सदाशिव में अनुरक्त हैं। शिव, केवल शिव (भलाई) की भावना के मूर्त रूप हैं—सदाशिव जिनकी आराधना परमेश्वरी की एकमात्र साधना है। सदाशिव को परमगुरु या आदि गुरु माना जाता है जिनसे परतत्व का रहस्य ब्रह्मा, विष्णु और रूद्र ने प्राप्त किया था। इसलिए इन तीनों को दिव्यौघ या दिव्यत्रय कहा जाता है। इनसे वशिष्ठ, सनक और सनन्दन ने यह ज्ञान प्राप्त किया था। इनको सिद्धौघ या सिद्धत्रय कहा जाता है। इसके बाद यह ज्ञान व्यास से लेकर आज के सद्गुरुओं तक व्याप्त है। यही गुरु परंपरा यहां पर सम्प्रदाय के नाम से प्रसक्त है। इस सम्प्रदाय की अधीश्वरी श्रीमाता हैं। अध्यात्म के कुछ रहस्य मौखिक या लिखित रूप में सार्वजनिक रूप से प्रकट नहीं किये जा सकते। सब कुछ कहने पर भी कुछ और रह जाता है और उसी में वास्तविक तत्व या रहस्य छिपा हुआ होता है। इसलिए श्रीमाता श्रीविद्या के इस सम्प्रदाय को न केवल मानती हैं, बल्कि उसकी देख-रेख करती हैं। सब कुछ ठीक चल रहा है, इस बात को सुनिश्चित करने वाली साध्वी के रूप में वह गुरु और शिष्य को साधु मार्ग में प्रवर्तित करती हैं। यहां पर इसी अर्थ में साध्वी शब्द का प्रयोग किया गया है। वास्तव में साधु शब्द से ही इसका बोध हो जाता है और "ई" को अलग से एक अक्षर का रहस्यात्मक नाम माना जा सकता है। "तां पद्मिनीमीम् शरणमहं प्रपद्ये" आदि स्तोत्रों में "ईम्" को देवी वाचक माना गया है। ओंकार शिव वाचक है तो ईंकार शक्ति (काम-कला) का द्योतक है। शिव साधु है तो शिवानी साध्वी है। इस दृष्टि

से "साध्वी" शब्द शिव-शक्ति के सामरस्य को भी प्रकट करता है। इस श्लोक का अन्तिम नाम "गुरुमंडलरूपिणी" यह सिद्ध करता है कि श्रीविद्या के अधिकारी गुरुओं के समूह (मंडल) में परमेश्वरी निवास करती हैं और उनको प्रेरणा देती हैं। माता की प्रेरणा के बिना न गुरु उपदेश दे सकता है और न शिष्य उसे ग्रहण कर सकता है।

गुरु-शिष्य परम्परा से प्राप्य परमार्थ पर परमेश्वरी की निगरानी किस प्रकार होतीं है, यह अगले श्लोक से स्पष्ट होता है :

कुलोत्तीर्णा भगाराध्या माया मधुमती मही।
गणांबा गुह्यकाराध्या कोमलांगी गुरुप्रिया॥

अस्थि-चर्म, रक्त-माँस, कान-नाक-आंख आदि, विभिन्न अंगों का समूह मानव शरीर है जिसको तंत्र शास्त्र में प्रायः "कुल" की संज्ञा दी जाती है। परमेश्वरी का निवास इस कुल से परे है। वह शरीर के भीतर होते हुए भी शरीर से परे है, निर्लिप्त है, इसी के अन्दर एक रहस्यमय कोने में बसी हुई हैं। इतना ही नहीं, वह कुल का उद्धार करती हैं। इसीलिए उनको "कुलोत्तीर्णा" कहा गया है। फिर उसकी आराधना कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर अगला नाम "भगाराध्या" देता है। भग या भगवान् भास्कर प्रकाश के पुंज हैं। उन्हीं से समस्त संसार को प्रकाश मिलता है। उन्हीं की प्रभा प्रत्येक प्राणी के भीतर प्राण और प्रकाश अथवा प्राण के प्रकाश के रूप में विद्यमान है। इसलिए वेद कहता है—"आदित्यो ह वै प्राणः।" यही भग है जिसकी आराधना भगवती को संतुष्ट और प्रसन्न ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष कर देती है।

लेकिन साधारण प्राणी अपने भीतर की इस परम चेतना से अनभिज्ञ है। वह अपने को हाड-मांस का पुतला समझता है और भौतिक सौंदर्य, पार्थिव वैभव और बौद्धिक कौशल को ही अपनी प्रतिष्ठा का कारण समझता है। वह इस प्रतिष्ठा के आधार से अवगत नहीं हो

पाता। यही माया है जो आवरण को वर समझने का झूठा पाठ पढ़ाती है। लेकिन यह माया परमेश्री की ही लीला है। वही मायाग्रस्त प्राणी को मधुमती भूमिका तक पहुंचाती है जहां पर अपने पराये का, सुख-दुख का और शोक-मोह का कोई अंतर नहीं दिखाई देता। सब कुछ समतल, समरस और सुन्दर दिखाई देता है। जड़ भी चेतन बन जाता है और चेतन भी जड़वत् निश्चेष्ट रह जाता है। यह ज्ञान की सबसे ऊंची भूमिका है जहां पर पहुंचकर धरातल का प्राणी मही की सच्ची महिमा पहचान लेता है। जो अब तक उसकी दृष्टि में केवल मिट्टी का ढेर था, उसमें वह समस्त ब्रह्माण्ड को देख पाता है। यही विश्व रूप विश्वमाता का सच्चा स्वरूप है। वह सब की मां हैं, सभी गणों की मां है, गणपति की भी मां हैं। इसलिए वह गणांबा हैं। उनका रूप सबकी समझ में नहीं आता, इसलिए वह रहस्यमयी हैं। उनकी आराधना भी रहस्यमयी साधना से होनी चाहिए। मानव शरीर के भीतर हृदय की गुहा में यह सारा रहस्य छिपा हुआ है। उस छोटे से स्थान में यह कोमलांगी बारीक से बारीक रूप धारण कर विराजमान हैं। अंधकार को चीरकर भीतर का प्रकाश देखने वाले ज्योतिर्विद् गुरु-शिष्य समुदाय को उनका यह महोज्ज्वल रूप दिखाई देता है। इसीलिए उनको गुरु-प्रिया कहा गया है। वैसे तो परम शिव ही आदि गुरु हैं जिनकी अर्द्धांगिनी बनकर परमेश्वरी इस ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी बन जाती हैं।

स्वतंत्र तंत्र की अधीश्वरी सच्चे साधकों को सनातन सत्य का बोध कैसे कराती हैं, यह अगले श्लोक में देखा जा सकता है :

स्वतंत्रा सर्वतंत्रेशी दक्षिणामूर्तिरूपिणी।
सनकादिसमाराध्या शिवज्ञान प्रदायिनी॥

अध्यात्म साधना के समस्त तंत्रों की सूत्रधारिणी होते हुए भी श्रीमाता बिल्कुल स्वतंत्र हैं। उनका अपना तंत्र है। परम सत्य का बोध कराने का उनका तरीका एकदम अनोखा है। इस विधि को समझाने के लिए

उनको "दक्षिणामूर्तिरूपिणी" कहा गया है। जब सनक, सनन्दन आदि ऋषि-मुनियों को परम तत्व को समझने में कठिनाई हो रही थी तो परम शिव सोलह वर्ष के बालक का रूप धारण कर दक्षिण की ओर मुंह करके मौन मुद्रा में बैठे रहे। वे कुछ भी नहीं बोले। पर सामने बैठे मुनियों की जिज्ञासा का अपने आप समाधान हो गया। यही दक्षिणामूर्ति की उपदेश-विधि है और यही परमेश्वरी की भी प्रक्रिया है। इस मूर्ति की आराधना करके सनक सनन्दन आदि पहुंचे हुए ऋषि परम शिव के प्रवचन को बड़ी प्रसन्नता और सुगमता के साथ हृदयंगम कर सके। परम शिव की इस दक्षिणामूर्ति आकृति के पीछे परमेश्वरी का ही तेज विराजमान था। इसलिए उन्हीं को शिवज्ञान प्रदायिनी कहा गया है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए देवी की कृपा अत्यंत आवश्यक है जो गुरु-शिष्य दोनों में श्रद्धा के रूप में प्रतिष्ठित होकर ज्ञान के मार्ग को सुगम बनाती हैं। इसीलिए कहा जाता है :

या देवी सर्व भूतेषु श्रृद्धा रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

———

३५. प्रेमरूपा प्रियंकारी

सच्चिदानन्द स्वरूपिणी सर्वेश्वरी के द्वारा आवासित संसार में "सत्" पदार्थ है और "आनन्द" परमार्थ। सत्पदार्थ को आनन्द रूपी परमार्थ का रूप देने का काम "चित्" करता है। इसीलिए "चित्" को शक्ति या कला की संज्ञा दी जाती है। चित्-शक्ति के सहयोग से ही सत्-द्रव्य आनंद का प्रकाश प्रसारित करता है। अगर मनुष्य में चित्-चेतना नहीं है तो सुन्दर-असुन्दर में कोई अन्तर ही नहीं दिखता, अच्छे-बुरे का, जड़-चेतन का, कोमल-कठोर का, दुष्ट-शिष्ट का या इष्ट-अनिष्ट का भेद प्रतीत ही नहीं होता। चित् शक्ति या चित्कला के परिचालन के कारण ही सुख-दुःख और आनन्द-विषाद का अनुभव होता है। मृण्मय मानव शरीर को हिरण्मय विराट् पुरुष में रूपांतरित करने वाली इसी चित्-शक्ति को पद्मपुराण चित्कला की संज्ञा देकर कहता है—"चित्तेषु चित्कला नाम शक्तिः सर्वशरीरिणाम्।" इसी चित्कला का चिद्विलास श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

चित्कलानन्दकलिका प्रेमरूपा प्रियंकरी।
नाम पारायणप्रीता नंदिविद्या नटेश्वरी॥

प्रत्येक प्राणी के भीतर चित्त की चिच्छक्ति के रूप में चित्कला नाम की देवी विराजमान है। वास्तव में देवी सकला हैं और चित् उन्हीं की कला है। चित्कला अत्यन्त सूक्ष्म कला हैं और समस्त कलाओं की जननी हैं। चित्रकला, गानकला, काव्य कला आदि समस्त कलाएं मानव की चित्प्रसूतिका प्रतिभा से ही उत्पन्न होती हैं। कला ही आनन्द का

आधार है। अगर जीवन में कला की कोमल कल्पना नहीं है तो सारा जीवन नीरस, निरानन्द और निष्प्रयोजक बन जाता है। इसीलिए "चित्" शक्ति को कला कहा गया है और आनन्द को "कलिका"। कला की उपज कलिका है। फूल का प्रारम्भिक रूप भी कली या कलिका कहा जाता है। दोनों अर्थों में आनन्द कलिका है। आनन्द की कली के रूप में परमेश्वरी प्रत्येक प्राणी के चिदाकाश में खिल उठती हैं।

जिसके मन में आनन्द की कली खिल उठती है, उसको सारा संसार प्यारा लगता है। प्रेम से ही आनन्द पैदा होता है। प्रेम का क्षेत्र जितना व्यापक, उदार और पवित्र होता है, आनन्द का स्वरूप भी उतना ही अनंत, अखंड और अलौकिक बनता है। चित्कला के द्वारा आनन्द-कलिका को उद्भासित करने वाली परमेश्वरी "प्रेम रूपा" हैं। प्रेम ही परमेश्वरी है। प्रेम से प्रेम बढ़ता है। इसलिए प्रेमरूपा परमेश्वरी सबको उनकी प्रिय वस्तु देकर सन्तुष्ट करती हैं। लेकिन प्रेम का सच्चा स्वरूप पहचान न सकने वाला पार्थिव प्राणी परमेश्वरी की कृपा का पात्र नहीं बन पाता। मानव मात्र को प्रेम का पात्र मानकर सर्वत्र परमेश्वरी के प्रेम-साम्राज्य के विस्तार को हृदयंगम करने से व्यष्टि और समष्टि दोनों का कल्याण हो जाता है।

जब मानव-हृदय प्रेम का निलय बन जाता है तो मन अपने आप आनन्द का भवन बन जाता है। वास्तव में नामरूपात्मक जगत् को चिरन्तन अस्तित्व और प्रकाश प्रदान करनेवाला तत्त्व प्रेम ही है। सच्चा प्रेम नाम और रूप से परे होता है। वह केवल प्रकाश को पहचानता है जो बाहर और भीतर तन-मन को आलोकित कर देता है। इसीलिए अस्तित्व और प्रकाश को दैवी तत्त्व तथा नाम और रूप को लौकिक तत्त्व बताया गया है। अलौकिक सत्ता और प्रकाश से लौकिक नाम और रूप को मिलाने वाली संधायिका प्रेम कला है। प्रेम कला ही विश्व की मूल शक्ति है। प्रेम कला के सच्चे आराधकों को संसार के सभी रूपों

में परमेश्वरी का ही रूप दिखाई देता है और सभी नामों में देवी के ही दिव्य नाम सुनाई देते हैं। श्रीमाता के हज़ारों नामों का मनन, स्मरण और संकीर्तन करने का उद्देश्य यही है। इसीलिए देवी को यहां पर "नाम पारायण प्रीता" कहा गया है। नामों का पारायण केवल मौखिक नहीं होना चाहिए, मन भी साथ रहना चाहिए। विश्वजनीन प्रेम-भावना के साथ, देवी के नाम जपने से पता चलेगा कि वह सर्वनामा और सर्व-रूपा हैं। परमेश्वरी अपने भक्तों की इस भावना को पहचान लेती हैं क्योंकि वह नामों का उच्चारण करने वाली जीभ पर भी विराजमान हैं और उस उच्चारण के पीछे काम करने वाली भावना के उद्गम स्थल मानव के अन्तरंग में भी विद्यमान हैं। यहां पर "पारायण" शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। पारायण का मतलब केवल पाठ करना नहीं है, बल्कि पाठ्य विषय के भीतर पैठकर उसकी गहराई को पहचानना और उसकी परमावधि को प्राप्त करना भी है। यही सच्चा पारायण है जिससे परमेश्वरी सन्तुष्ट होती है।

इस प्रकार के पारायण से आनन्द की अपने आप सिद्धि हो जाती है। जैसा कि नारदीय भक्ति सूत्रों में कहा गया है, भगवदीय भावना में मस्त भावुक भक्त आनन्द ही आनन्द का एकांतिक अनुभव करता है (नन्दति नन्दति नन्दत्येव)। यही नन्दन यहां पर "नन्दिविद्या" के नाम से अभिहित है। यह आनन्द की एक ऐसी विलक्षण भाव भूमिका है जहां पर पहुंचकर परम प्रेम रूपा भक्ति की भावना से भक्त न केवल अखंड, आनन्द का अनुभव करता है, बल्कि वह अपने आनन्द में मस्त होकर नाच उठता है। आनन्द का बादल देखकर अन्तरंग का मोर नाच उठता है। इसीलिए नन्दिविद्या के तुरन्त बाद "नटेश्वरी" नाम आया है। परमेश्वरी का नाम लेने मात्र से मानव को आनन्द की सुखद शीतलता का अनुभव होने लगता है और उसका अन्तर्मन लोकोत्तर भाव-भूमिका में पहुंचकर आनन्द से नाच उठता है।

आनन्द की इस विलक्षण भाव भूमिका में पहुंचने पर प्राणी को पता चलता है कि यह सारा संसार सपना था, मिथ्या थी। पर इस मिथ्या का एकमात्र तथ्य परमेश्वरी का आनन्दमय—सच्चिदानन्दमय—स्वरूप था। उसका मन कहने लगता है—"तुम सत्य रहे चिर सुन्दर मेरे इस मिथ्या जग के।" चींटी से लेकर शिव-केशव और ब्रह्मा तक समस्त संसार में सौंदर्य, प्रेम और आनन्द के रूप में प्रतिभासित होने वाले परम सत्य को वह पहचानने लगता है जिसका प्रतिपादन सहस्रनाम का अगला श्लोक करता है :

मिथ्या जगदधिष्ठाना मुक्तिदा मुक्ति रूपिणी।
लास्यप्रिया लयकरी लज्जा रंभादिवंदिता॥

"ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या"—यही अद्वैत वेदांत की प्रमुख स्थापना है। लेकिन साथ-साथ यह भी सही है कि परब्रह्म के परम सत्य का ही अंश पार्थिव प्राणी है। ईश्वर का ही अविनाशी अंश जीवात्मा के नश्वर शरीर में विद्यमान है। यही संसार का सनातन सत्य है। "यत्र त्रिसर्गो मृषा" कहकर भागवतकार मिथ्यात्मक जगत् से परे विद्यमान जिस परम सत्य को परम वरेण्य और परम आराध्य प्रतिपादित करते हैं, वह इस मिथ्या का सच्चा अधिष्ठान है। "अधिष्ठान" शब्द में "अधिष्ठा" और "आन" दो शब्दों का संयोग है। "अधिष्ठा" से स्पष्ट होता है कि वह परम सत्य इसी मिथ्या के भीतर प्रतिष्ठित है। वही इस आवरण का आन या प्राण है, यह बात "आन" शब्द से स्पष्ट होती है।

जब पता चलता है कि इस पांच भौतिक शरीर में कौन-सा तत्त्व मिथ्या है और कौन-सा सत्य, कौन-सा तत्त्व नश्वर है और कौन-सा अविनश्वर, तब माया का आवरण हट जाता है और जीवात्मा परमात्मा के साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। यही मुक्ति है जो परमेश्वरी की कृपा से प्राप्त होती है। वास्तव में परमेश्वरी ही मुक्ति है। मुक्ति उनसे अलग कोई चीज़ नहीं है। जैसे मुक्ति को प्राप्त होना और मुक्त

होना एक ही बात है, उसी प्रकार परमेश्वरीं को पहचानने का मतलब अपने आप परमेश्वरी में एकाकार होना है। यह आत्मबोध ही मुक्ति है। इसी आशय को स्पष्ट करने वाले दो नाम हैं—मुक्तिदा और मुक्ति-रूपिणी।

मुक्तात्मा मुक्ति की भावना से आत्मानन्द की अलौकिक भावना में मग्न होकर श्रीललिता माता के लोकोत्तर लास्य का साक्षात्कार करता है। इसीलिए देवी को यहां पर "लास्यप्रिया" कहा गया है। वैसे देखा जाए तो समस्त संसार की प्राकृतिक सुषमा परमेश्वरी का लास्य ही है। प्रभात की लालिमा, खेत की हरियाली, सरिता का मधुमय प्रवाह, कोकिल की काकली, मोर का पंख फैलाकर न चना' कलियों की मुस्कुराहट, मंद-मंद मलयानिल की मदमाती चाल—इन सबमें मां ललिता का लास्य ही परिलक्षित होता है। प्रकृति की इस मनमोहक चाल में एक ऐसी नियमित गति है जिसको हम "लय" कह सकते हैं। सुबह-शाम, दिन-रात, धूप-छांह, गर्मी-वर्षा, शरद्-वसंत आदि की प्रत्यावर्तित ऋतु-गति में एक अचूक लय है, अद्भुत संगीत है। यही लय मानव शरीर के भीतर भी है। मनुष्य की चाल में ताल, राग और लय हैं। सांस लेने और छोड़ने में एक नियमित गति है। नासादंड के दोनों तरफ दो आंखें, दो कान, नीचे लाल-लाल होंठ, दो हाथ, दो पैर—सब में एक अपूर्व सौंदर्य है, अद्भुत सामंजस्य है और अनिर्वचनीय लय है। यही लय लास्य प्रिया ललिता माता की सृष्टि है। इसीलिए वह लयकारी हैं। इतना ही नहीं, स्त्री सुलभ लज्जा में कितना लालित्य है और कितना रहस्य है! अगर स्त्री में लज्जा नहीं हैं, तो वह शायद इतनी आकर्षक न लगे। लज्जा स्त्री का सहज आभूषण है। इसलिए लज्जा के रूप में परमेश्वरी स्त्रियों में प्रतिष्ठित होती हैं। "या देवी सर्वभूतेषु लज्जा रूपेण संस्थिता" कहकर मार्कण्डेय पुराण जिस लज्जा देवी की वंदना करता है, वही रम्भा आदि अप्सराओं के लिए वंदनीय बन जाती है। रम्भा, उर्वशी, मेनका आदि अप्सराएं प्राकृतिक आकर्षण के विविध

पहलुओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये सब परमेश्वरी की परम कारुणिक प्रेम भावना के बल पर ही पलती हैं। इसलिए ये देवी का आभार मानती हैं।

लास्य, लज्जा, लय आदि को लौकिक अथवा भौतिक अर्थ में भी लिया जा सकता है और पारलौकिक अथवा आध्यत्मिक अर्थ में भी। परमेश्वरी आनन्द की कली हैं। इस कली में भौतिक आनन्द भी है और आध्यात्मिक आनन्द भी। भौतिक आनन्द कों सुनिश्चित किन्तु सन्तुलित करने के साथ-साथ आध्यात्मिक आनन्द का मार्ग प्रशस्त करना मां ललिता का आशय है। इस आशय को स्पष्ट करने वाले अगले दो श्लोक नीचे प्रस्तुत हैं :

भव दाव सुधावृष्टिः पापारण्य दवानला।
दौर्भाग्य तूलवातूला जराध्वांत रविप्रभा॥
भाग्याब्धि चन्द्रिका भक्त चित्त केकि घनाघना।
रोगपर्वत दभोलिर्मृत्यु दारु कुठारिका॥

संसार के दावानल को शांत करने के लिए परमेश्वरी अमृत की वर्षा बनकर बरस पड़ती हैं, पाप के घने जंगल को नष्ट करने के लिए वह दावानल बन जाती हैं, अभागे लोगों की परेशानियों को वह इतनी आसानीं से दूर करती हैं कि मानों हवा के झोंके से कपास की बोरियां उड़ गई हों। बुढ़ापे के कारण मनुष्य के जीवन में जो अन्धकार छा जाता है, उसे सूर्य का प्रकाश बनकर ज्योतिर्मयी देवी क्षण भर में दूर कर देती हैं। परमेश्वरी का प्रादुर्भाव पूर्ण चन्द्र के उदय के समान है जिसको देखकर भाग्य के सागर में ऊंची-ऊंची लहरें उठती हैं। देवी के दर्शन मात्र से दुर्भाग्य दूर हो जाता है और भाग्य चमक उठता है। देवी का दर्शन उस नीर भरे बादल की शोभा के समान है जिसे देखते ही भक्तों का मन-मयूर नाच उठता है। जहां परमेश्वरी का स्मरण, मनन और ध्यान होता है, वहां बीमारी नाम की चीज टिक नहीं पाती।

पहाड़ की तरह फैली बीमारी भी परमेश्वरी की कृपा दृष्टि से पल भर में गल जाती है मानों उस पर बिजली टूट पड़ी हो। यहां तक कि मृत्यु भी देवी के दृष्टिपात से भयभीत होकर भाग जाती हैं जैसे कुल्हाड़े से काठ का टुकड़ा छिन्न-भिन्न हो जाता है। परमेश्वरी के इन आठ नामों से यह बात स्पष्ट होती है कि भक्तों को मुक्ति प्रदान करने में देवी जितनी तत्पर रहती हैं, उतनी ही उत्सुक उनकी लौकिक पीड़ा को दूर करने में भी। आत्मा के आवरण को निर्मल करने के बाद ही उसको निरावृत अथवा मुक्त करने में सुविधा होती है। वह चण्डी बनकर दुष्टता को नष्ट भी करती हैं और ललिता बनकर अपने लालों का लालन-पालन भी करती हैं।

पहले चंडी का प्रचंड रूप सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत किया जाता है :

महेश्वरी महाकाली महाग्रासा महाशना।
अपर्णा चंडिकाचंडमुंडासुर निषूदिनी॥

वह सबकी ईश्वरी हैं—दुष्टों की और शिष्टों की भी। सब पर उनका शासन चलता है। वह कालस्वरूपिणी हैं। काल के कराल वक्त्र से कोई बच नहीं सकता। महाकाल काल का काल होता है। काल माया-कल्पित है और देश-सापेक्ष है। पर महाकाल माया की परिधि से परे सार्वदेशिक और असीम होता है। देवी इसी महाकाल की अधिष्ठात्री और संधात्री हैं। संसार की प्रत्येक वस्तु उनके मुख विवर में पहुंच जाती हैं। इसी लिए वह महाग्रासा और महाशाना हैं। भगवान् कृष्ण के विश्वरूप-संदर्शन में जिस प्रकार अर्जुन ने समस्त संसार को उस विराट् के मुख विवर में त्वरमाण होकर प्रविष्ट होते हुए देखा था, उसी प्रकार महा-काली के कराल मुख में सब कुछ समा जाता है। साथ ही वह अपर्णा हैं। पत्ता भी न खाने का कठोर व्रत धारण करने वाली तपस्विनी भी वही हैं। वह अपने संकल्प पर डटी रहती हैं। किसी के कहने पर कुछ

भी न मानने वाली वह चंडी या चंडिका भी हैं और चंड मुंड आदि राक्षसों को नष्ट करने वाली दुर्गा भी हैं।

इसके साथ ही दुर्गा का सौम्य और सार्वभौम रूप अगले श्लोक में प्रस्तुत किया जाता है :

क्षराक्षरात्मिका सर्वलोकेशी विश्वधारिणी।
त्रिवर्गदात्री सुभगा त्र्यंबका त्रिगुणात्मिका॥

संसार के समस्त प्राणी क्षर हैं, नश्वर हैं, किसी न किसी दिन क्षीण होकर पांच तत्त्वों में लीन होने वाले हैं। लेकिन इन्हीं के भीतर अक्षर और अविनश्वर सत्ता भी विद्यमान है जिसको दार्शनिकों ने "कूटस्थ" कहा है। परमेश्वरी क्षर के साथ भी हैं और अक्षर के साथ भी। वह समस्त संसार की अधीश्वरी हैं, इसलिए सर्वलोकेशी कही गई हैं। जो कुछ दिखाई देता है, वही लोक है। इसलिए वह दृश्यमान् जगत् की अदृष्ट अधिष्ठात्री हैं। वह एक नहीं, समस्त लोकों की प्रशासिका हैं। लेकिन यह शासन प्रेम और आत्मीयता की भावना से होता है। इसीलिए उनको विश्वधारिणी कहा गया है। वह विश्वमाता हैं, इसलिए विश्व का धारण करती हैं जैसे मां अपने गर्भस्थ शिशु का धारण करती है। वह अपने भक्तों के लिए धर्म, अर्थ और काम की व्यवस्था करती हैं। इसलिए उनको "त्रिवर्गदात्री" कहा गया है। अमरकोश के अनुसार धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग के अन्तर्गत हैं और मोक्ष इस क्रम में चौथा है। जब देवी को त्रिवर्गदात्री कहा गया है तो यह नहीं समझना चाहिए कि वह केवल लौकिक पुरुषार्थ (त्रिवर्ग) प्रदान करती हैं और मुक्ति नहीं देती हैं। वास्तव में इसके पहले उनको मुक्तिदा और मुक्तिरूपिणी कहा गया है। यहां पर उनको त्रिवर्गदात्री कहने में केवल इतना ही आशय है कि वह कैवल्य तो देती ही हैं, पर साथ ही लौकिक सुख और शांति की भी उपेक्षा नहीं करतीं। इसके अलावा मुक्ति में आदान-प्रदान की भावना नहीं होती। वह प्राप्त और अनुभव की जाती है, प्रदान नहीं की

जाती। इसीलिए मुक्तिदा के तुरन्त बाद मुक्तिरूपिणी का उल्लेख किया गया है। जीवात्मा बंधन-मुक्त होने पर अपने को आत्मरूपिणी परमेश्वरी से अभिन्न अनुभव करता है।

वास्तव में श्रीमाता समस्त सौभाग्य की जननी है। इसीलिए वह सुभगा हैं। "भग" शब्द का मूल अर्थ आधार है। सुभगा समस्त संपत्तियों को जन्म देने वाली सौभाग्यवती माता है। "भग" शब्द के और भी अनेक अर्थ हैं। विश्व कोश के अनुसार ऐश्वर्य, माहात्म्य, ज्ञान, वैराग्य, योनि, कीर्ति, वीर्य, प्रयत्न, इच्छा, सश्रीकता, धर्म, सूर्य और मुक्ति—ये सब भग शब्द के विभिन्न अर्थ भेद हैं। इन सबका आधार मां ललिता हैं। भगवान् और भगवती शब्द में भी इन सभी विभूतियों की ओर संकेत मिलता है। रूद्र प्रश्न में मनुष्य के हाथ को भगवान् कहा गया है और यही नहीं, अगले ही वाक्य में उसको भगवत्तर (भगवान् से भी बढ़ कर) कहा गया है (अयं मे हस्तो भगवान्, अयं मे भगवत्तरः)। आशय यही है कि अच्छा-बुरा व्यवहार करना मनुष्य के हाथ में है, भगवान् केवल उसका यथोचित फल देता है। इसी व्यापक अर्थ में "सुभगा" शब्द को समझना चाहिए।

अगला नाम है—त्र्यंबका। सूर्य, चंद्र और अग्नि देवी के तीन नेत्र हैं। इसलिए वह त्र्यंबका हैं। शंकर को भी त्र्यंबक कहा जाता है। ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर की जननी होने के कारण भी वह त्र्यंबका हो सकती है। वह त्रिगुणात्मिका भी हैं। सत्त्व, रज और तम—तीनों को वह समान रूप से देखती हैं क्योंकि वह इन तीनों से परे है। गीताचार्य भी इन तीनों गुणों को वेद की विषय वस्तु बता कर अपने प्रिय अर्जुन को इससे परे होकर वेदवेद्य परम पुरुष को पहचानने का परामर्श देते हैं। श्री ललिता माता भी त्रिगुणात्मिका होते हुए भी त्रिगुणातीत अवस्था पर अपने भक्तों को पहुंचा देती हैं।

यह बात अगले श्लोक में और अधिक स्पष्ट होती है :

स्वर्गापवर्गदा शुद्धा जपापुष्पनिभाकृतिः ।
ओजोवती द्युतिधरा यज्ञरूपा प्रियव्रता ॥

स्वर्ग का सुख अनित्य होता है और अपवर्ग या मोक्ष का सुख नित्य। ये दोनों भगवती की कृपा से प्राप्त होते हैं। वह क्षणिक सुख भी देती हैं और शाश्वत सुख भी। नित्य और अनित्य से अतीत होने के कारण वह शुद्धा हैं। वह इतनी शुद्ध, सात्विक और निर्मल हैं जैसे जपापुष्प या जावाकुसुम। उनमें ओज भी है और तेज भी। ओज आंतरिक होता है और तेज बाहरी। जावा कुसुम भी इसी प्रकार बाहर और भीतर की शोभा से अलंकृत दिखाई देता है। परमेश्वरी केवल यज्ञ का फल देने वाली नहीं हैं, बल्कि वह स्वयं यज्ञ हैं। यज्ञ करते समय यजमान के मन में जो यजन की भावना होती है, वही यज्ञरूपा परमेश्वरी का सच्चा स्वरूप है। "यत्" (जहां से संसार का उद्गम होता है, उस तत्त्व) को जानने का प्रयास ही यज्ञ है। यह प्रयास प्रेमपूर्वक हो तो वही प्रियव्रत बन जाता है। आध्यात्मिक साधना में कोई बाहरी बाध्यता का अनुभव नहीं होना चाहिए। निर्मल अंतःकरण में निश्चल निष्ठा की भावना से प्रेरित होकर जो भी काम किया जाता है, वही यज्ञ बन जाता है और वही उत्तम व्रत भी बन जाता है। भावना को पहचानने वाली भवानी इसी प्रकार के यज्ञ और व्रत को पसंद करती हैं। यही नहीं, इस प्रकार के यज्ञ, व्रत आदि में वह स्वयं निवास करती हैं। सात्विक साधना अपने आप में सिद्धि का रूप धारण करती है। शुद्धि में ही सिद्धि है।

---

३६. प्राणदा प्राणरूपिणी

प्रेम और प्रकाश, शुद्धि और सिद्धि, आराधक और आराध्य एक दूसरे के पूरक हैं। प्रेम से जो आराधना की जाती है, उसमें प्रकाश अपने आप आ पहुंचता है। यदि आराधक का मन शुद्ध है तो उसका आराध्य आशय अनायास सिद्ध हो जाता है। लेकिन कठिनाई सच्चे प्रेम को समझने और अपनाने में है, अंतःकरण को अहंकार के आवरण से मुक्त कर शुद्ध रखने में है। इसीलिए परमेश्वरी की आराधना कभी-कभी दुर्लभ और दुःस्साध्य मालूम पड़ती है। इसी दुराराध्यता का वर्णन श्री ललिता सहस्रनाम के निम्न श्लोक में पाया जाता है :

दुराराध्या दुराधर्षा पाटली कुसुमप्रिया।
महती मेरुनिलया मंदार कुसुमप्रिया॥

इने-गिने अधिकारी आराधकों के लिए देवी सुखाराध्या ही नहीं, बल्कि सुलभा भी बन जाती हैं। लेकिन जिनके मन में भगवती के प्रति सच्ची भक्ति भावना नहीं है, केवल कुछ लौकिक लाभ के लिए जो भक्ति का चोला पहनना सुविधाजनक समझते हैं, उनकी पहुंच परमेश्वरी के महिमा-मंडित-मुखमंडल तक क्या, चरण कमल तक भी नहीं हो पाती है। उनके लिए वह दुराराध्या और दुराधर्षा हैं। कई लोगों के लिए देवी की आराधना तक संभव नहीं है, उनके अनुग्रह की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। कुछ लोग आराधना के अधिकारी तो बनते हैं पर अनुग्रह प्राप्त करने में उनको काफी प्रतीक्षा करनी पड़ती

है, परिवीक्षा के कई क्षण गुजारने पड़ते हैं। लेकिन यह अनुग्रह कैसे प्राप्त होता है, इसका रहस्य देवी को "पाटली" की प्यारी कहकर बताया गया है। पाटली का फूल गुलाबी रंग का होता है जिसमें लालिमा भी है और धवलता भी। ऐसा लगता है कि लालिमा धीरे-धीरे सफेद बनती जाती है। जब साधक या आराधक के मन में भी इसी प्रकार अहंकार की लालिमा धीरे-धीरे आत्मिक आनन्द की धवलता ग्रहण करने लगती है, वह परमेश्वरी की पद-निधि का अधिकारी बनता जाता है। लालिमा में उत्तेजना है जबकि उजले रंग में निखरी हुई सात्विकता होती है। इन दोनों की मिली जुली शोभा पाटली के फूल में दिखाई देती है। इसीलिए देवी को यह फूल अच्छा लगता है। मनीषियों की मान्यता है कि श्रीवृक्ष या बेल के पेड़ में शंकर का निवास होता है और पाटली में पार्वती का।

इस श्लोक की प्रत्येक पंक्ति में तीन नाम हैं। पहली पंक्ति में देवी को दुराराध्या (आराधना करने में कठिन) और दुराधर्षा (स्वाधीन या सम्मुख बनाने में कठिन) बताकर पाटली के माध्यम से उनकी कृपा प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। दूसरी पंक्ति में देवी की महिमा का वर्णन करने के लिए उनको पहले "महती" कहा गया है क्योंकि वह मेरुपर्वत पर निवास करती हैं। लेकिन वह मंदार के फूल को पसंद करती हैं। मंदार का मकरंद माधुर्य के लिए मशहूर है। पाटली में पानी और तेज है तो मंदार में रस या आनन्द भरपूर रहता है। देवी महान् या महती इसलिए हैं क्योंकि वह आनन्द की अधिष्ठात्री हैं, रसस्वरुपिणी हैं। यह आनन्द मेरु दंड से मिलता है। श्रीविद्या के उपासक श्रीचक्र में देवी को प्रतिष्ठित मानकर उनकी पूजा करते हैं। इसमें तीन प्रस्तार हैं—भू-प्रस्तार, कैलास-प्रस्तार और मेरु-प्रस्तार। भू-प्रस्तार में वशिनी आदि वाग्देवताएं निवास करती हैं, कैलास में मातृकाएं रहती हैं और मेरु में सोलह नित्या देवताएं रहती हैं। इन

सोलह कलाओं में आत्मा ही अँतिम और सर्वोत्कृष्ट कला है जहां पर परमेश्वरी रहती हैं। इसीलिए उनको "मेरूनिलया" कहा गया है। हमारा शरीर भी श्री चक्र का ही जीता-जागता और चलता फिरता रूप है जिसमें मेरु सर्वोपरि है। इसी में इडा और पिंगला के बीच सुषुम्ना नाड़ी संचारित होती है। वही परमेश्वरी के पदाभ्याश का पथ प्रशस्त करने वाली आनन्द-नालिका है जो मानव-मेधा को मंदार के मकरंद से मधुरतर बनाती है। यह मधुमती भूमिका सबके लिए सुलभ नहीं है, बिरले ही भाग्यशाली वीरों के लिए आनन्द का यह साम्राज्य मिलता है। यही बात अगले श्लोक में और स्पष्ट शब्दों में कही जाती है :

वीराराध्या विराड्रूपा विरजा विश्वतोमुखी।
प्रत्यग्रूपा पराकाशा प्राणदा प्राणरूपिणी॥

"वीरभोग्या वसुंधरा"—यह वसुधा वीरों के लिए है, कायरों के लिए नहीं। वीरता से यहां मतलब केवल शारीरिक बल-पौरुष नहीं है, बल्कि अदम्य आत्म शक्ति से आशय है। जो शरीर और मन की सीमित शक्ति को पारकर आत्मा के अनंत आलोक में पहुंच जाते हैं, वही लोग विराट् रूप धारण कर विश्व में सर्वत्र व्याप्त विरजा देवी के दर्शन कर सकते हैं। विराट् को देखने के लिए विराट्-दृष्टि भी चाहिए। यह तभी संभव है जब भौतिक दृष्टि निर्मल बन जाए। आंखों की धूल धुल जाए और भीतर की धवलपुरी खुल जाए तभी विरजा का विशुद्ध सौंदर्य दिखाई देता है। माता सबको देखती हैं, इसलिए सब उनको देख सकते हैं और अपने अपने स्थल से अपनी ही दृष्टि से और अपने अभीष्ट कोण से देख सकते हैं। विश्व में सर्वत्र उनके नयन हैं, सब जगह उनका मुख मंडल दर्शन के उत्सुक लोगों की ओर मुंह किए हुए है। इसीलिए वह विश्वतोमुखी हैं। वास्तव में वह सबके भीतर बैठी हुई हैं। इसलिए उनको देखने के लिए आंखें भीतर की

ओर खुलनी चाहिए। बाहर खोजना छोड़कर भीतर की ओर दृष्टि फैलानी चाहिए। इसीलिए उनको "प्रत्यग्रूपा" कहा गया है। वह स्वयं भीतर बैठकर हमारी आंखें बाहर की ओर खुलवाकर हमें खिला रही हैं। यह भी एक खेल है जो मां अपने बच्चों के साथ खेल रही हैं। भीतर जहां मां बैठी हैं, उसके सामने बाहर का यह खुला आकाश बहुत छोटा है। इसीलिए परमेश्वरी के मंदिर को पराकाश कहा गया है। ललाट के ऊपर जहां कपाल का भाग समाप्त होता है, उससे दो अंगुल ऊपर यह पराकाश है जहां परमेश्वरी लीला का आनन्द लेने बैठी रहती हैं। वहीं बैठकर वह समस्त प्राणियों के प्राणो का धारण करती हैं। वह स्वयं प्राण बन कर प्राणियों को जीवन से अनुप्राणित करती हैं। परमेश्वरी के निवास स्थान पराकाश का वर्णन उपनिषदों में और पुराणों में बड़े विस्तार से मिलता है जिसको ब्रह्मसूत्र "आकाशस्तल्लिगात्" (आकाश ही उसकी पहचान है) कहकर बहुत कम शब्दों में परिभाषित कर देता है। आकाश सर्वत्र है और पराकाशा परमेश्वरी भी आकाश की तरह और आकाश के रूप में संसार के कोने-कोने में विराजमान हैं। इस प्रकार विश्व भर में विराट् रूप धारण कर विद्यमान देवी की आराधना सही माने में कौन कर सकते हैं, इसकी ओर अगले श्लोक में संकेत मिलता है :

मार्तण्डभैरवाराध्या मंत्रिणीन्यस्त राज्यधूः।
त्रिपुरेशी जयत्सेना निस्त्रैगुण्या परापरा॥

मार्ताण्ड और भैरव अथवा मार्ताण्ड भैरव जैसे पहुंचे हुए व्यक्ति ही भगवती की आराधना के अधिकारी हैं। मार्ताण्ड का शब्दार्थ है—मरे हुए अंड से निकले। व्यवहार में सूर्य के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। तंत्र शास्त्र में भैरव शब्द का प्रयोग एक ज्ञानी उपासक के अर्थ में होता है। वास्तव में भैरव शब्द उद्यम या साधना का ही पर्यायवाची है हालांकि भैरव शब्द में भय या भीति का भी

समावेश है। भय से ही संसार चलता है अथवा प्रेम से। जहां प्रेम काम नहीं करता, वहां भय से काम लेना पड़ता है। परम सत्ता की अज्ञात महिमा से भयभीत होकर सूर्य समय पर उदित होकर समस्त संसार को प्रकाश और प्राण देता है, हवा नियमित गति से चलती है, नदियां बहती हैं, पानी बरसता है, बिजली चमकती है और यहां तक कि जीव जन्तुओं का जनन-मरण भी इसी भय के कारण होता है। असल में यह भय प्रेम का ही दूसरा रूप है। जो शुभ चिंतक होता है, वही डराकर धमकाकर अपने प्रियजनों से अभीष्ट काम कराता है ताकि सबका भला हो। इसी रहस्य की ओर संकेत करने के लिए "मार्ताण्ड भैरवाराध्या" कहा गया है। ज्ञान का प्रकाश और परम सत्ता से भय आराधक को अपनी आराधना में आवश्यक शक्ति प्रदान करते हैं।

अगला नाम इस आराधना के साधन को स्पष्ट करता है—मंत्रिणी न्यस्त राज्यधूः। देवी ने अपना समस्त राज्य भार मंत्रिणी के ऊपर छोड़ रखा है। यह मंत्रिणी वही मंत्रिण्यंबा (मां मंत्रिणी) है जो विषंग का वध करके श्रीमाता को संतुष्ट करती है। विषंग एक आसुरी प्रवृत्ति है जो साधक को सत्संग या सच्चिंतन से दूर कर देती है। इस पर विजय पाने का एकमात्र साधन है मंत्रिणी का सहारा लेना। मंत्र-शक्ति ही मंत्रिणी की सेना है। मंत्र से मन निर्मल और प्रखर बन जाता है। इसलिए गुरु द्वारा उपदिष्ट और अभीष्ट मंत्र के मनन या जाप से मंत्रिणी सुमुख बन जाती हैं और मंत्रिणी के अनुकूल होने पर श्री ललिता की कृपा अपने आप अनायास प्राप्त हो जाती है।

अगला नाम है—त्रिपुरेशी। श्रीचक्र में सर्वाशापरिपूरक चक्र की अधीश्वरी का नाम त्रिपुरेशी है जिनकी कृपा से सभी दिशाओं में साधना सफल बन जाती है और समस्त आशाओं की पूर्ति हो जाती है। भू, कैलास और मेरु को भी त्रिपुरा माना जा सकता है जिसकी अधीश्वरी त्रिपुरेशी है। वैसे मानव शरीर में भी तीन पुर या कूट हैं—वाग्भव कूट

(कंठ से ऊपर), मध्य कूट (कंठ से कमर तक) और शक्ति कूट (कमर से नीचे)। इन तीनों की अधीश्वरी भी त्रिपुरेशी हैं। इतना बड़ा राज्य भार संभालने के लिए देवी के पास बहुत भारी सेना भी है जिसने कभी पराजय का नाम तक नहीं सुना है। इसीलिए उसे "जय सेना" कहा गया है। जय सेना की अधीश्वरी जयत्सेना हैं।

परमेश्वरी त्रिगुणात्मक संसार से परे हैं। गीता में अर्जुन को भी निस्त्रैगुण्य बनने का परामर्श दिया गया है ताकि वह द्वंद्व से दूर नित्य सत्त्व में स्थित होकर योग और क्षेम की सीमित परिधि को पार कर आत्मवान् बन जाए। यही निस्त्रैगुण्य परमेश्वरी की कृपा प्राप्त करने के लिए भी आवश्यक है। इसीलिए उनको "परापरा" कहा गया है। परा, अपरा और परापरा देवी के तीन रूप हैं। सृष्टिकर्त्री ब्राह्मी परा हैं जो श्वेत वर्ण स्वरूपिणी हैं। संसार का भार वहन कर सबका पालन-पोषण करने वाली वैष्णवी अपरा हैं जो रक्त वर्ण स्वरूपिणी हैं क्योंकि रक्त के संचारण से ही प्राणों का संचालन होता है। परापरा तो वह रौद्री हैं जो काल को नियंत्रित करने वाली हैं। ये तीनों परापरा के चार वर्णों में समाविष्ट हैं। इसलिए "परापरा" को मंत्र की महिमा प्राप्त हुई है। उपनिषदों में परा और अपरा नाम की विद्याओं का भी उल्लेख मिलता है। इन दोनों विद्याओं का समाहार भी परापरा है। मानव की वाणी भी परा और अपरा के भेद से दो प्रकार की है। यह भी परापरा की देन है। लौकिक और अलौकिक दोनों सिद्धियां परमेश्वरी की कृपा से ही प्राप्त होती हैं। वही सच्चा ज्ञान, सच्चा आनन्द और समरसता की भावना प्रदान करती हैं, यह बात अगले श्लोक में स्पष्ट की जाती है।

सत्यज्ञानानंदरूपा सामरस्यपरायणा।
कर्पूरिनी कलामाला कामधुक् कामरूपिणी॥

"सत्यं ज्ञानमनतं ब्रह्म"—यह सुनिर्धारित सत्य है। ज्ञान सच्चा होता है और सत्य ही सच्चा ज्ञान है। यह सत्य अनन्त आनन्द प्रदान

करने वाला होता है। यह लौकिक सत्य से अलग है हालांकि दोनों में कोई विरोध नहीं होता है। जो कुछ दिखाई देता है, वह भी सत्य है और जो दिखाई नहीं देता है, वह इससे भी अधिक प्रामाणिक सत्य है। वास्तव में सत्य एक है जो दो रूपों में प्रकट होता है जैसे सिक्के के दो पहलू। जब मालूम होता है कि यहां पर जो कुछ है, सब सच ही सच है, झूठ या मिथ्या कुछ नहीं है तब ज्ञाता आत्मवान् बन जाता है और आत्मा की आनन्द भूमिका में समरसता ही समरसता दिखाई देती है। जड़-चेतन, सत्-असत्, प्रकाश और अन्धकार, जीवन और मृत्यु, शीत और उष्ण—ये सब हमारे कल्पित भेद-भाव हैं जो मन की उपज हैं। वास्तविक सत्य यह है कि एक ही अनन्त सौंदर्य परम सत्य के रूप में साकार बनकर अग-जग को आत्मा का आह्लाद प्रदान कर रहा है और इसी समरसता में परमेश्वरी का सच्चा रूप प्रकट होता है।

इस समरसता का सबसे सुन्दर संदर्शन शंकर के जटाजूट में देखा जा सकता है जहां पर शीतल गंगा जल और स्निग्ध चांदनी का मनोहर संगम होता है। शंकर के जटाजूट को कपर्द कहा जाता है। भवानी इस जटाजूट को देखकर मन ही मन पुलक उठती हैं। इसलिए उनको यहां पर "कपर्दिनी" कहा गया है। कलाधर चन्द्रमा की सोलह कलाओं की कमनीयता का रसास्वादन करने वाली कलावती मां ललिता स्वयं कलाओं की माला हैं। चन्द्रमा में सोलह कलाएं हैं तो भगवती में चौंसठ कलाएं हैं। वास्तव में जीवन को कलात्मक बनाने वाली प्रत्येक भावना भवानी की कलामाला से ही प्रसूत होती है। वह समस्त कलाओं का संकलित, समेकित और संचित समाहार हैं। कला के आराधक उसी में से एक फूल लेकर अपनी कला को साकार बना लेते हैं। इसीलिए वह कामधुक् या कामधेनु की तरह सबकी कामना पूरी करने वाली काम-रूपिणी हैं। हम जो चाहते हैं, उसे हम उनसे प्राप्त कर सकते हैं क्योंकि वह "कामधुक्" हैं। हम उनको जिस रूप में देखना चाहते हैं, वह उसी

रूप में दिखाई देती हैं क्योंकि वह कामरूपिणी हैं।

श्रीमाता की इसी कलात्मक रूप माधुरी का वर्णन अगले श्लोक में भी मिलता है :

कलानिधिः काव्यकला रसज्ञा रस शेवधिः।
पुष्टा पुरातना पूज्यां पुष्करा पुष्करेक्षणा ॥

वह कलाओं की निधि या खान हैं और काव्य कला उनके लिए विशेष प्रिय है क्योंकि वह समस्त कलाओं में सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं। काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द की सहोदरी मानते हैं। यह सही भी है क्योंकि काव्य रचना में भावयोगियों की शब्दोपासना निहित होती है। सत्कविता के सामने साम्राज्य का वैभव भी अकिंचन माना जाता है। लेकिन काव्य का रसास्वादन करने के लिए सहृदयता और रसज्ञता आवश्यक है। इसीलिए देवी को रसज्ञा ही नहीं, बल्कि रस शेवधि (रस की पराकाष्ठा) कहा गया है। वास्तव में रस ही परब्रह्म का रूप माना जाता है। फिर ब्रह्मानन्द को भी भुलाने वाले आत्मानन्द की अधीश्वरी परमेश्वरी को रस शेवधि कहने में कोई अतिरंजना नहीं है।

रस ही संसार का सार है और उसी से संसार का पोषण होता है। रस की सृष्टि भौतिक और मानसिक दोनों प्रकार की होती है। भौतिक दृष्टि से वर्षा और मानसिक दृष्टि से काव्यजल की सृष्टि करके परमेश्वरी पांच भौतिक जगत् का पालन-पोषण करती हैं। इसीलिए वह पुष्टा हैं। वह पुरातना भी हैं क्योंकि रसात्मक सृष्टि का यह कार्य अनादि काल से चला आ रहा है। देवी की इस अहेतुक कृपा-वर्षा के आभारी आराधक उनकी पूजा करते हैं। इसीलिए वह पूज्या हैं। वह सरोवर या सरोरुह (कमल) की तरह हमेशा परिपूर्ण रहती हैं और उनके नेत्रों में इस परिपूर्णता का प्रमाण स्पष्ट रूप से मिलता है।

इसलिए उनको पुष्करा और पुष्करेक्षणा कहा गया है।

श्रीमाता में केवल आनन्दमय रस ही नहीं, बल्कि ज्योति को ज्योतिर्मय बनाने वाली परमज्योति भी विद्यमान है जिसकी उज्ज्वलता अगले श्लोक में प्रकट होती है :

परंज्योतिः परंधाम परमाणुः परात्परा।
पाशहस्ता पाशहंत्री परमंत्रविभेदिनी॥

बृहदारण्यक में देवदेव को "ज्योतिषां ज्योति" कहा गया है। वह परंज्योति है क्योंकि उसी से संसार की समस्त ज्योति को प्रकाश मिलता है। इसी परम पावन प्रकाश की ओर संकेत करते हुए उपनिषदों में कहा गया—"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"। यह परंज्योति ही परंधाम है। धाम शब्द का प्रयोग प्रकाश और निवास दोनों अर्थों में किया जाता है। परमेश्वरी का निवास परम प्रकाश से परिपूर्ण है जहां पर पहुंचने के बाद फिर वापस लौट आने की न इच्छा होती है और न आवश्यकता होती है। "यद् गत्वा न निवर्तते तद्धाम परमं मम" कहकर भगवान् ने इसी परमधाम की ओर संकेत किया है। यह प्रकाश अत्यन्त सूक्ष्म भी हो सकता है और अत्यन्त विराट् भी। इसीलिए देवी को परमाणु और परात्परा एक साथ कहा गया है। वह अणु से भी छोटे परमाणु के समान अत्यन्त सूक्ष्म हैं और साथ ही ब्रह्मांड से बृहत् परात्पर रूप भी धारण करती हैं। जो कुछ पिंडाँड में परमाणु के रूप में है, वही पांच भौतिक जगत् में ब्रह्मांड के रूप में भी है। चाहे सूक्ष्म रूप में हो या स्थूल रूप में, परमेश्वरी की प्रभुता से परे कोई वस्तु नहीं है। वही परात्-परा है, पराकाष्ठा है।

परमेश्वरी की शक्ति अजेय है। वह अपने हाथ में पाश (चाबुक) लिए अपने भक्तों के मार्ग में आने वाले समस्त अरिष्टों को नष्ट कर देती हैं। इसीलिए उनको पाशहस्ता और पाशहंत्री कहा गया है। वह दूसरों के द्वारा प्रयुक्त आभिचारिक मंत्रों को निष्प्रभ कर देती हैं और

अपने प्रियजनों को अनिष्ट से बचाती हैं। इसीलिए उनको परमंत्र-विभेदिनी कहा गया है।

कभी-कभी सन्देह होता है कि जो देवी सामान्य मानव को दिखाई नहीं देती हैं, उनकी महिमा कैसे जानें, उनकी आराधना कैसे करें और कहां-कहां उनको खोजने का प्रयास करें। इन प्रश्नों का उत्तर अगले श्लोक में मिलता है :

मूर्तामूर्ता नित्यतृप्ता मुनिमानसहंसिका।
सत्यव्रता सत्यरूपा सर्वांतर्यामिणी सती ॥

वह मूर्त भी हैं और अमूर्त भी। देखने की क्षमता हो तो दिखाई देती हैं और नहीं है तो दिखाई नहीं देती। दिखाई न देने मात्र से यह नहीं समझना चाहिए कि वह नहीं हैं या वह हमसे नाराज़ हैं। वह सब पर दया रखती हैं और निरन्तर तृप्त रहती हैं। नित्य और अनित्य दोनों पदार्थों में वह समान रूप से विराजमान हैं। इसीलिए उनको नित्यतृप्ता और अनित्य तृप्ता दोनों माना जाता है। विशेषकर वह मुनियों के मन में परमहंस की तरह निवास करती हैं। जिनका मन मौन रहता है, वही सच्चे अर्थों में मुनि है। उन्हीं के प्रशांत मानस में परमेश्वरी रहती हैं। वह सत्य में भी निवास करती हैं। वास्तव में सत्य सर्वेश्वरी का निवास ही नहीं, बल्कि उनका रूप भी है। जहां सत्य है, वहां सती हैं। सत्य का आवास ही सती का निवास है। सत्य के रूप में वह सबके अन्तःकरण में रहती हैं और अन्तःकरण को नियन्त्रित, नियमित और निर्मल बनातीं हैं। वाणी में सत्य की प्रतिष्ठा करना ही भवानी की सच्ची आराधना है क्योंकि वह सबकी सच्चाई भीतर ही भीतर बैठ कर पहचान लेती हैं। "सत्यान्नास्ति परंतपम्"।

---

३७. गंभीरा गगनांतस्था

सारहीन संसार को सारगर्भित बनाने वाले परम तत्त्व को प्रायः परब्रह्म अथवा केवल ब्रह्म के नाम से परिभाषित किया जाता है। चराचर जगत् का उद्भव इसी ब्रह्म पदार्थ से होता है जिसको अनुप्राणित करने वाली मूल शक्ति श्री ललिता परमेश्वरी हैं। बृहत् से बृहत् तत्त्व को भी उपबृंहित (प्रवर्द्धित) करने वाली परम सत्ता को इसीलिए बृहती, ब्राह्मणी, ब्राह्मी, ब्रह्माणी आदि नामों से अभिहित और अवगत करने का प्रयास श्री ललिता सहस्रनाम के पिछले प्रकरणों में किया गया है और इसी विचारधारा को अगला श्लोक भी एक विशिष्ट परिवेश में प्रस्तुत करता है :

ब्रह्माणी ब्रह्म जननी बहुरूपा बुधार्चिता।
प्रसवित्री प्रचंडाज्ञा प्रतिष्ठा प्रकटाकृतिः ।।

ब्रह्म शब्द का साधारण अर्थ है—बढ़ना और बढ़ाना। अक्षर और आनन्द दो ऐसे तत्त्व हैं जो स्वयं ज्यों-ज्यों बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों अपने उपभोक्ताओं के संबल, मनोबल और आत्मबल को बढ़ाते जाते हैं। इसीलिए अक्षर, स्पष्टाक्षर या मंत्र को ब्रह्म की संज्ञा दी गई है जिसको जानने वालों को ब्राह्मण कहा गया है। इससे जो आंतरिक आनन्द प्राप्त होता है, वह भी ब्रह्म के नाम से जाना जाता है। आनन्द की विभिन्न विधाओं में ब्रह्मानन्द को सबसे उत्कृष्ट स्थान दिया गया है। यह आत्मा से प्राप्त होता है, इसलिए आत्मानन्द ही सभी प्रकार के

आनन्दों का आधार हैं। इसी को यहां 'ब्रह्माणी' कहा गया है। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" के अनुसार ब्रह्म शब्द आनन्द का ही पर्यायवाची है। इस दृष्टि से ब्रह्माणी का मतलब आनन्दमयी माता भी हो सकता है। "अणी" शब्द पुच्छ या पूंछ के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इसलिए ब्रह्माणी का मतलब परब्रह्म अथवा आनन्द की पराकाष्ठा भी हो सकता है। "ब्रह्म आणीस्थः" कहकर श्रुति इसी परब्रह्म तत्त्व की ओर संकेत करती है। प्रजापति अथवा सृष्टिकर्ता ब्रह्मा की पत्नी को भी ब्रह्माणी कहा जा सकता है। लेकिन अगले नाम में देवी को ब्रह्म जननी (ब्रह्मा की माता) कहा गया है। वास्तव में परा शक्ति के रूप में परमेश्वरी ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर सबकी जननी है। इसी सहस्रनाम में अन्यत्र देवी को "आब्रह्म कीट जननी" (ब्रह्मा से लेकर कीट तक सभी प्राणियों को जन्म देने वाली) कहा गया है। कहीं माता के रूप में, कहीं पत्नी के रूप में, कहीं भगिनी के रूप में और कहीं भद्र महिला के रूप में देवी अपनी अनेकरूपात्मकता को प्रकट करती हैं। इसीलिए अगले नाम में उनको "बहुरूपा" कहा गया है।

केवल स्त्री के रूप में ही नहीं, बल्कि चेतन पुरुष और अचेतन प्रकृति के रूप में भी देवी अपने को प्रकट करती हैं। आत्मा का आनन्द, मन की मननशीलता, वाणी का विलास और क्रिया की कर्मण्यता—सब बहुरूपा परमेश्वरी के ही प्रकट रूप हैं। श्यामला, कमला, विमला, विजया, दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती, काली, ललिता, शांभवी, बाला, त्रिपुर सुन्दरी, राज राजेश्वरी आदि विभिन्न नाम देवी के विभिन्न रूपों के प्रतीक हैं। यहां तक कि मानव के मुख-विवर से निकलने वाले अनेक स्वर और व्यंजन भी देवी के द्योतक हैं। लेकिन संसार में सर्वत्र देवी के सान्निध्य का अनुभव करने के लिए प्रबुद्ध चेतना आवश्यक है। यह बात सबकी समझ में नहीं आ सकती। जो इस रहस्य को जानते हैं, वही बुद्धिमान् लोग देवी के इस सार्वभौम स्वरूप की आराधना करते हैं। इसीलिए उनको "बुधार्चिता" कहा गया है।

अगला नाम है—"प्रसवित्री"। परम पिता की अध्यक्षता में परा प्रकृति सकल चराचर जगत् का सृजन करती हैं, इसलिए वह प्रसवित्री है। वह प्रचंडा भी हैं क्योंकि सँसार के संचालन के पीछे परमेश्वरी की प्रचंड प्रकृति ही काम करती है। उन्हीं के भय से जीव जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय सम्पन्न होती हैं। उनकी आज्ञा का उल्लंघन करने का किसी को साहस नहीं होता। यह आज्ञा धरती से आकाश तक सर्वत्र सबके लिए शिरोधार्य बन जाती है। आज्ञा शब्द ज्ञान की पराकाष्ठा का भी द्योतक है। शरीर के छह चक्रों में आज्ञा चक्र सबसे ऊपर-ललाट के पास स्थित है। वही तन, मन और आत्मा की समस्त चेष्टाओं को संचालित और नियंत्रित करता है। वहीं पर परमेश्वरी स्वयं आज्ञा बनकर प्रतिष्ठित है क्योंकि वह सारे संज्ञान, विज्ञान और प्रज्ञान की पराकाष्ठा है। वही आज्ञा है और वही प्रतिष्ठा है। शरीर के भीतर सूक्ष्म चेतना के रूप में प्रतिष्ठित हो कर वह समस्त सांसारिक लीला को प्रकट करती है। इसलिए उनको प्रचँडा, आज्ञा, प्रतिष्ठा और प्रकट आकृति कहा गया है। वह मूर्त भी है और अमूर्त भी। वह जिसको जन्म देती है उसको ज्ञान भी देती है और इसी ज्ञान के सहारे प्राणी अपने प्राणों के बन्धन का पता लगाता है और अपनी प्राणेश्वरी को पहचान लेता है। प्राण प्रदान कर उन प्राणों को अनुप्राणित करने वाली परमेश्वरी की प्रसव भावना अगले श्लोक में और अधिक विस्तार से स्पष्ट की जाती है :

प्राणेश्वरी प्राणदात्री पंचाशत् पीठ रूपिणी।
विशृंखला विविक्तस्था वीरमाता वियत् प्रसूः॥

परमेश्वरी कामेश्वर की भी प्राणनाडी है तो साधारण प्राणी का तो कहना ही क्या है। वह संसार के समस्त प्राणियों के प्राणों को अनुप्राणित करने वाली प्राण शक्ति है। केनोपनिषद् की भाषा में वह प्राणों का प्राण है। इसलिए वह प्राणेश्वरी है। वह सबको प्राण

प्रदान करती हैं, इसलिए प्राणदात्री हैं। वह इतने प्राणियों के भीतर कैसे प्रतिष्ठित हैं, यह संदेह उत्पन्न हो सकता है। इसका समाधान करते हुए अगला नाम कहता है कि वह पचास आसन बनाकर प्राणि-मात्र की सांस में बसी रहती हैं। सोलह स्वर, पच्चीस वर्गाक्षर, चार अंतस्थ, तीन ऊष्म (श, ष, स) और दो प्रकार के 'ह' कार (महाप्राण कारक और विसर्ग सूचक) मिलकर वाग्देवी के पचास पीठ बन जाते हैं जिन पर वह सदा विराजमान होकर पांच भौतिक प्राणियों की प्राणशक्ति को असंख्य वर्णों में, लाखों शब्दों में, पदों में, समासों में, वाक्यों में और रसात्मक काव्यों में प्रकट कर देती हैं। इस प्राणशक्ति को जो जितनी मात्रा में आत्मसात् कर पाता है, उसको प्राणेश्वरी का प्रसाद उतनी प्रचुर मात्रा में प्राप्त होता है। यही प्राणों की ग्रंथि है जिसके खुलने से प्राणेश्वरी की कृपा से प्राणी बंधन-मुक्त बन जाता है।

अगले नाम में परमेश्वरी को "विश्रृंखला" कह कर इसी मुक्ति की ओर संकेत किया गया है। सांसारिक श्रृंखलाएँ (कड़ियां) तब तक मानव को बांधे रखती हैं जब तक वह इस मूल स्वर को नहीं पहचान पाता है। शरीर के ऊपर वस्त्रों का आवरण जिस प्रकार शरीर को आच्छा-दित या छिपाकर रखने का प्रयास करता है, उसी प्रकार शरीर भी आत्मा को आवृत किए रहता है। आत्मा की ये परिकल्पित श्रृंखलाएं एक-एक करके हट जाती हैं तब आत्मा एकांत, विविक्त अथवा विवेक-जन्य आनन्द का अखंड रसायन बन जाता है। यही आत्मज्ञानी की विश्रृंखल (बंधन मुक्त) और विविक्त (एकांत) भाव-भूमिका है जिसकी ओर परमेश्वरी के दो नाम—विश्रृंखला और विविक्तस्था—संकेत करते हैं। आत्मज्ञान के इन अधिकारी उपासकों को वीर कहा जाता है जिनकी माता होने से परमेश्वरी को वीरमाता कहा गया है। वह केवल ऐसे वीरों को ही नहीं, बल्कि विशाल आकाश को भी जन्म देने वाली विश्वमाता है। इसीलिए उनको इस श्लोक के अंत में "वियत् प्रसू" कहा गया है। वेद इस बात की घोषणा करते हैं कि आत्मा से

ही आकाश प्रसूत हुआ है (आत्मन आकाशः संभूतः) ।

अव्यक्त आत्मा से व्यक्ताव्यक्त आकाश उत्पन्न हुआ है और उसी से हवा, आग, पानी और मिट्टी नाम के मूल तत्त्व क्रमशः अमूर्त से मूर्त रूप धारण करते जा रहे हैं । आत्मा नित्य मुक्त, नित्य शुद्ध और नित्य बुद्ध है, पर वह सांसारिक लीला की लालसा से पांच भौतिक आवरण को स्वीकार कर बंधन को प्राप्त करती-सी प्रतीत होती है । पर वास्तव में यह बंधन नहीं है, खेल है । वह स्वयं बंध कर स्वयं मुक्त हो जाती है । बंधन-मुक्ति की इस मनोरंजक क्रीडा का मार्मिक वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

मुकुंदा मुक्तिनिलया मूल विग्रह रुपिणी ।
भावज्ञा भवरोगघ्नो भवचक्र प्रर्वातनी ।।

सांसारिक बंधन में जकड़े हुए प्राणी को मुक्ति दिलाने वाली मुकुंदा माता स्वयं मुक्तिपुरी में निवास करती हैं । माता का नाम लेने मात्र से मुक्ति का सच्चा बोध हो जाता है क्योंकि वह ममता और मुक्ति का अपूर्व संगम अपने व्यक्तित्व में समाए बैठी हैं । वह एक ऐसी मुक्ति है जहां से सांसारिक लीला प्रवर्तित भी होती है और साथ ही जहां पर निवर्तित अथवा विश्रांत भी हो जाती है । वह प्रवृत्ति और निवृत्ति, राग और विराग तथा आसक्ति और मुक्ति के उद्‌गम स्थान पर विराजमान् हैं । वह सबके मूल में स्थित हैं । इसलिए उनको मूल विग्रहरूपिणी कहा गया है ।

वह भावज्ञा है, सबके मनोभाव को पहचानती हैं । उत्पत्ति और विनाश, आगमन और गमन से वह भली-भांति परिचित हैं । भावना से भव का उद्‌भव होता है । जिसकी जैसी भावना है, उसको उसी प्रकार का जन्म और जीवन मिलते हैं । मन के भाव या आशय को पहचान कर सबको उनके संकल्प के अनुसार संसार में संसारित करना सर्वेश्वरी

का काम है। संसार में पैदा होना, मरना, फिर पैदा होना और फिर मरना—यही प्रत्येक प्राणी को परेशान करने वाली संक्रामक व्याधि है जिसको प्रायः भव रोग कहा जाता है। इस बीमारी को ठीक करने वाली एक मात्र औषधि परमेश्वरी की कृपा है। इसीलिए वह भव-रोगघ्नी हैं। लेकिन इस बीमारी के बीज भी वही बोती हैं क्योंकि वह संसरण के इस चक्र को चलाती हैं। संसार को चलाना और उसका समाहार करना उन्हीं का काम है। भवचक्र से आशय अनाहत चक्र भी हो सकता है जहां पर शिवतम रस के रूप में परमात्मा का निवास होता है। यह हृदय के पास होता है। इसी की ओर संकेत करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने ईश्वर को स्वांतःस्थ बताया है। मानव शरीर में रुधिर संचार का केन्द्र भी यही है। इसीलिए इसे भवचक्र कहना सर्वथा समीचीन है जिसकी प्रवर्तिका श्रीमाता हैं।

भवरोग की चिकित्सा करते हुए भवचक्र को प्रवर्तित करने वाली भावज्ञा भवानी के भाव पक्ष की व्याख्या करने के बाद रहस्य नाम साहस्र का अगला श्लोक सर्ववर्ण स्वरूपिणी परमेश्वरी की पद-संपदा और वाग्विभव का विवरण प्रस्तुत करता है :

छंदःसारा शास्त्र सारा मंत्र सारा तलोदरी।
उदार कीर्तिरुद्दाम वैभवा वर्ण रुपिणी॥

छँद, शास्त्र और मंत्र वैदिक साहित्य के तीन प्रधान रूप हैं। वैसे समस्त वेद वाङ्मय को छंद कहा जाता है। लौकिक संस्कृत से भिन्न वैदिक संस्कृत के अर्थ में वैयाकरण पाणिनि ने छंद शब्द का प्रयोग किया था। आच्छादन के साधन को भी छंद कहा जा सकता है। साधारण बात को असाधारण, आलंकारिक अथवा आच्छादक शैली में कहना भी छंद है। इसी अर्थ में परोक्षप्रिय महर्षियों की सारगर्भित वाणी को छंद कहा गया है। नियमबद्ध पद रचना (पिंगल) को भी छंद कहा

जाता है। सवैया, दोहा, चौपाई आदि देशी छंदों की तरह वैदिक साहित्य में भी गायत्री अनुष्टुप् आदि प्रसिद्ध छंद प्रचलित हैं। लयबद्ध या नियमबद्ध और श्रुति मनोहर रचना को भी छंद की संज्ञा दी जाती है। वेद वाङ्मय का सारा संहिता भाग छंद है। लेकिन शास्त्र में बात सीधी सादी और स्पष्ट कही जाती है। उसमें हृदय-पक्ष की अपेक्षा बौद्धिक अथवा मस्तिष्क पक्ष को अधिक प्रधानता दी जाती है। आधुनिक विज्ञान प्राचीन शास्त्र का लगभग पर्यायवाची है। इस प्रकार छंद हृदय को स्पंदित करता है तो शास्त्र चिंतन को शासित और प्रशस्त करता है। मंत्र इन दोनों से भिन्न और दोनों से अधिक परिमार्जित और प्रांजल रचना है। मनन मात्र से मंत्र आत्मा का आलोक द्वार खोल देता है। मंत्र का सम्बन्ध केवल हृदय और मस्तिष्क तक सीमित न होकर आत्मा के अनन्त आकाश तक विस्तृत हो जाता है। लेकिन चाहे हृदय को आह्लादित करने वाला छंद हो, मन को विकसित करने वाला शास्त्र हो अथवा आत्मा से आत्मसात् कराने वाला मंत्र हो— सबका सार सर्वेश्वरी में समाविष्ट है। फिर भी वह तलोदरी है, पतले पेट वाली है। पतला उदर कोमलता, कमनीयता और कलात्मकता का प्रतीक है। कम से कम शब्दों में गहरे से गहरा भाव व्यक्त करने में ही भवानी की कुशलता और उदारता प्रकट होती है।

इसीलिए उनको उदार कीर्ति और उद्दाम वैभवा कहा गया है। उदारता ही कीर्ति का आधार है। यशस्वी होने पर भी विनम्र होने में उदारता का परिचय मिलता है। परमेश्वरी अपना प्रचार नहीं करती हैं, अपनी आराधना करने के लिए किसी को बाध्य नहीं करती है। फिर भी सारा संसार उनका गुणगान करता है। उनके विभव अथवा वैभव की कोई सीमा नहीं है। संसार में जितने प्राणी हैं, सब अपनी अपनी शब्द-शक्ति के अनुसार वाग्देवी की आराधना करते हैं। वास्तव में ये सभी शब्द और सभी वर्ण वर्णरूपिणी परमेश्वरी के ही व्यक्त रूप हैं। इसी तत्त्व की ओर संकेत करते हुए गोस्वामी तुलसीदास अपने मानस

के मंगलाचरण में वर्णों और उनके अर्थ संघों के प्रणेता वाणी और विनायक की वन्दना करते हैं ।

जो भाषा को इस परिप्रेक्ष्य में देखते हैं उनके लिए जन्म, जरा और मृत्यु की चिन्ता नहीं रहती । वे मर्त्य होकर भी अमर बन जाते हैं और औपनिषदिक भावना से परम शांति को प्राप्त करते हैं । यह बात अगले श्लोक में कही जा रही है :

जन्म मृत्यु जरातप्त जन विश्रांतिदायिनी ।
सर्वोपनिषदुद्घुष्टा शांत्यतीत कलात्मिका ।।

जिन पर वर्णस्वरूपिणी वाणी की कृपा होती है, वे जन्म लेकर भी अजन्मा, मर कर भी अमर और बुढ़ापे में भी सशक्त रहते हैं । पैदा होना, आगे बढ़ना, कमज़ोर और बीमार होना और आखिर मर जाना शरीर के लक्षण हैं । लेकिन शब्द आकाश का लक्षण है । शब्द ब्रह्म के आराधक शरीर की यातना से पीड़ित नहीं होते । उनके यश: शरीर के लिए न जन्म है' न मृत्यु और न जरा । वाग्देवी उनके लिए हमेशा आवश्यक विश्रांति की व्यवस्था करती हैं । लेकिन आवश्यकता केवल देवी के निकट पहुंचने मात्र की है । परमेश्वरी के पदाभ्याश की प्राप्ति ही औपनिषदिक भावना है । उपनिषदों ने जिस आत्म तत्त्व का गुणगान किया है, वह अनुभव की वस्तु है । आत्मा के पास पहुंचकर आत्मा से एकाकार होकर आत्मा की गोद में बैठना ही उपनिषद् की उपासना है । परम तत्त्व के समीप (उप) निष्ठा के साथ (नि) बैठना (सद्) ही औपनिषदिक उपासना है । सारा उपनिषद्-साहित्य जीवन के इसी चरम ध्येय का उपदेश देता है । इसीलिए देवी को यहां समस्त उपनिषत्-साहित्य का सार (सर्वोपनिषदुद्घुष्टा) बताया गया है । तभी तो वह साधारण शांति से बढ़कर परम शांति की कला का विलास प्रदर्शित करती हैं । उपनिषद्देवी से मिलने वाली शांति क्षणभंगुर नहीं है, शाश्वत

है। कठोपनिषद में आत्म योगी को इसी शाश्वत शांति का अधिकारी बताया गया है।

इस आत्म-पद पर पहुंचे हुए योगी के लक्षण परमेश्वरी के गुणगान के माध्यम से अगले श्लोक में प्रस्तुत हैं :

गंभीरा गगनांतस्था गर्विता गान लोलुपा।
कल्पना रहिता काष्ठा कांता कांतार्द्धविग्रह्व ।।

परम सत्ता अत्यन्त गम्भीर मुख मुद्रा में रहती है क्योंकि वह परमाकाश में स्थित है। शरीर के भीतर के दहराकाश में और शरीर से बाहर विशाल गगन में दोनों रूपों में वह गम्भीर है क्योंकि वह साधारण द्रष्टा को दिखाई नहीं देती। इसीलिए वह अपनी गरिमा और महिमा पर गर्व का अनुभव करती है। यह मिथ्या गर्व नहीं है, अपने भक्तों को भी गौरव प्रदान करने वाला सात्विक गर्व है। उनके गर्व का एक कारण अपनी गान लोलुपता है। ब्रह्मांड के विभिन्न ज्योतिर्मय मंडलों के संचालन में जो अनिर्वचनीय गान माधुरी सुनाई देती है, वही परमेश्वरी के मनोरंजन का साधन है। संसार के कण-कण में संगीत की स्वर-लहरी सुनाई देती है। विश्वेश्वरी की यह गरिमा, गम्भीरता और गान माधुरी सामान्य मानव-मन की कल्पना से परे है क्योंकि वह एक ऐसी सीमा पर प्रतिष्ठित है जिसके आगे न राह है और न चाह। वह प्रत्येक गरिमा की पराकाष्ठा है। गम्भीर से गम्भीर, पर कोमल से कोमल विश्वकांता का कमनीय रूप द्वंद्वात्मक जगत् के कई विरोधाभासों का सामंजस्य प्रस्तुत करता है। उसमें कांत, कांता और काँति का ऐकांतिक समाहार है। इसीलिए उनको कांता, अकाँता और कांतार्द्धविग्रहा के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास इस श्लोक में किया गया है। संसार की समस्त कांति विश्वकांता की इसी कांति से आलोकित है। लेकिन परमेश्वरी की कांति स्वयंप्रभा से भासित है। किसी अन्य कांति पर वह निर्भर नहीं हैं क्योंकि वह कार्य और कारण से मुक्त हैं। इस अपरिमेय, अप्रमेय और अननुमेय

तत्त्व की व्याख्या अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

कार्यकारण निर्मुक्ता काम केलितरंगिता ।
कनत्कनक ताटका लीलाविग्रहधारिणी ।।

संसार में प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है, प्रत्येक आचरण का एक परिणाम होता है । पर परमेश्वरी के आविर्भाव, अस्तित्व और अनुग्रह के पीछे कोई कारण नहीं होता । यह केवल लीला है । वह अपनी निजी इच्छा से अपने आमोद और प्रमोद के लिए अपना खेल आप रचती हैं, आप संभालती हैं और आप समेट लेती हैं । इसी लीला की छाया नर-नारी की नश्वर भोग लालसा में भी देखी जा सकती है । अन्तर केवल यही है कि काम-वासना से मिलने वाला आनन्द अस्थायी और अधोगामी है जबकि कामेश्वरी की काम कला का लीलामय विलास समस्त संसार को शाश्वत आनन्द प्रदान करता है । उनके कान के आभूषण सोने की कांति से चमक उठते हैं । लेकिन यह चमक सबको चमत्कृत नहीं कर पाती । जिनके अन्तःकरण में यह चमक दिखाई देती है, उनको लीला के स्पंदित आह्लाद का पता चलता है और उन्हीं का जीवन धन्य है ।

---

३८. स्वात्मारामा सुधासृतिः

प्रकृति का यह सामान्य नियम है कि इस सचराचर जगत् में जो भी वस्तु या जंतु पैदा होती है, वह क्रमशः बढ़ती है, फिर घटती है और अंत में मिट जाती है। लेकिन इस प्रकार घट-बढ़कर या बढ़-घटकर मिटने वाली अनन्त जीव राशि को जन्म देने वाली मूल प्रकृति सदा बहार रहती है, चिर प्रसन्न और चिर प्रफुल्ल रहती है क्योंकि वह जन्म देती है, लेती नहीं। वर्ष बीतते जाते हैं, ऋतुएं बदलती जाती हैं, दिन रात की छाया में रोशनी और अंधेरी आंख मिचौनी खेलती रहती हैं। लेकिन प्रकृति इन सभी परिवर्तनों से निर्लिप्त रहकर अपनी रचना को विश्व के रंग मंच पर प्रदर्शित देखकर स्वयं अपना मनोरंजन कर लेती है और इस मंचन में भाग लेने वाले कलाकारों को भी इस आनन्द के अनुभोक्ता बनाती है। परा प्रकृति की यह अजरामर लीला श्री ललिता सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

अजा क्षयाविनिर्मुक्ता मुग्धा क्षिप्रप्रसादिनी।
अंतर्मुख समाराध्या बहिर्मुख सुदुर्लभा"॥

परमेश्वरी समस्त जगत् को जन्म देती हैं, पर स्वयं जन्म नहीं लेती हैं। इसलिए वह अजा हैं। वह आत्मा की तरह आत्मा ही बनकर अपने आप प्रकट होती हैं। चूंकि वह जन्म नहीं लेती हैं, इसलिए वह क्षीण नहीं होतीं। क्षय नाम का लक्षण उनको छू तक नहीं सकता। इसलिए वह क्षय से विनिर्मुक्त हैं। वह अक्षय हैं। यहां पर "अजा" शब्द पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। अ-कार को जन्म देने वाली अक्षर

जननी को भी अजा कहा जा सकता है। इसी अर्थ में वह अक्षय भी हैं। अक्षय अक्षर को जन्म देने वाली अक्षर भारती ही अजा हैं। "अक्षराणां अकारोऽस्मि" कहकर गीताचार्य ने अपने को अ-कार के साथ एकाकार कर लिया है। संसार की समस्त वर्णमाला या यों कहें कि समस्त स्वर माला का मूलाक्षर या मूल स्वर अ-कार है और यह परमेश्वरी से प्रसूत है। अष्टाध्यायी के अन्त में महामेधा पाणिनि ने अन्तिम सूत्र में इसी अ-कार को दुहराकर (अ अ इति) समस्त शब्द-संसार का आरम्भ, प्रवर्तन और निवर्तन इसी अ-कार में निहित सिद्ध किया है। इस दृष्टि से "अजा" अपने आप अक्षया अथवा क्षयविनिर्मुक्ता बन जाती है।

वह मुग्धा भी है। अपने चिर यौवन की सहज सात्विक शोभा के कारण वह सदा सबको मोहने वाली मनोहरी रहती हैं। मंत्र द्रष्टा महर्षि और अक्षर भारती के आराधक आर्ष कवि अपनी जो वाणी अनन्त काल के आस्वादन के लिए अंकित कर गए हैं, वह अत्यन्त प्राचीन होकर भी चिर नवीन रमणीयता का आनन्द प्रदान करती है। इसलिए इन महात्माओं की महती वाणी में प्रतिष्ठित वाग्देवी केवल मुग्धा ही नहीं, बल्कि तत्काल आनन्द प्रदान करने वाली क्षिप्र प्रसादिनी भी हैं। मंत्र के जाप या काव्य के पाठ का फल तत्काल मिल जाता है। वाङ्मय तपस्वियों के लिए साधना में ही सिद्धि दिखाई देती है। उनकी आराधना में ही आराध्य का अनुग्रह अंतर्निहित है। इसलिए फल की न अपेक्षा होती है और न प्रतीक्षा। परमेश्वरी के अनुग्रह अथवा प्रसाद की प्राप्ति तत्काल इसलिए भी होती है कि वह हर प्राणी के अंतरंग में प्रतिष्ठित हैं। जो कुछ सोचा जाता है, बोला जाता है या किया जाता है, उसको वह प्रत्यक्ष देखकर उसका फल तत्काल प्रदान करती हैं। लेकिन अविवेकी मानव अपने भीतर बैठी हुई परम सत्ता को न पहचान कर बाहर इधर-उधर भटक जाता है। यही बात अगले दो

नामों में स्पष्ट की जाती है।

पहला नाम है—अंतर्मुख समाराध्या। देवी की सही आराधना अंतर्मुख होकर ही की जा सकती है क्योंकि जो कुछ बाहर है, वह सब भीतर है। भीतर के संसार में सर्वेश्वरी को पहचानना अपेक्षाकृत अधिक सरल है क्योंकि बाहर के प्रलोभन भीतर की दुनिया में अन्वेषक के मार्ग में अवरोधक नहीं बन पाते। दूसरे नाम में इसी तथ्य को दूसरे ढंग से समझाते हुए कहा गया कि वह बहिर्मुख व्यक्ति के लिए अपेक्षाकृत अधिक दुर्लभ है (बहिर्मुख सुदुर्लभा)। "सुदुर्लभा" शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। यह नहीं कहा गया कि वह बाहर खोजने वालों के लिए एकदम दुर्लभ हैं। आशय केवल इतना ही है कि वह भीतर की ओर मुंह किए हुए लोगों के लिए सम्यक् आराधना की वस्तु (समाराध्या) बन जाती हैं जबकि उसी तत्त्व को बाहर खोजने वालों के लिए कठिनाई से मिलने वाली (सुदुर्लभा) बन जाती हैं। संकेत से यह समझाने का प्रयास किया जा रहा है कि जो तत्व भीतर विद्यमान है, उसको पाने के लिए संसार के कोने-कोने की छान-बीन करने की आवश्यकता नहीं है। लेकिन प्राणी प्रायः बहिर्मुख ही होते हैं क्योंकि परमात्मा ने जीव-जन्तुओं के शरीर की बनावट में प्रायः सभी अंगों को बहिर्मुख (बाहर की ओर खुला) बना रखा है। देखना, सुनना, खाना, पीना, सूंघना, बोलना आदि सभी क्रियाएं मनुष्य को बहिर्मुख बनाती हैं। शरीर की इन बाहरी चेष्टाओं से मन को वापस बुलाकर आत्मा की ओर प्रवृत्त करना ही अंतर्मुख साधना है। अगर बाहर ही खोजना है तो सर्वत्र वासुदेव की भावना से सब कुछ देखने सुनने बोलने तथा सेवन करने से बात बन जाती है। दुर्लभ लक्ष्य भी सुलभ नहीं तो सुदुर्लभ अवश्य बन जाता है। यहां पर 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' वाला गीतार्थ चरितार्थ बन जाता है। गुरुनानक देव ने भी "गुरुमुख" और "मनमुख" नाम के दो वर्गों में प्राणियों को विभाजित

किया है। आजकल इन दोनों से भिन्न "तनमुख" व्यक्ति अधिक संख्या में दिखाई देते हैं। "तनमुख" के लिए तो परम तत्त्व का बोध बिल्कुल दुर्लभ है जबकि "मनमुख" के लिए सुदुर्लभ है और गुरुमुख के लिए सुलभ साध्य और समाराध्य है।

आत्म परायण व्यक्ति ही अंतर्मुख होकर अपनी आत्मा के आलोक से पुलकित होकर दूसरों को भी आलोकित करते हैं। जीव, जगत् और ब्रह्म का भेद इस भाव भूमिका में एकदम दूर हो जाता है। तीनों एक बन जाते हैं। इसी त्रिगुणातीत त्रिपुरमालिनी का वर्णन अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

त्रयी त्रिवर्ग निलया त्रिस्था त्रिपुरमालिनी।
निरामया निरालंबा स्वात्मारामा सुधासृति : ॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद तीनों को सम्मिलित रूप से "त्रयी" कहा जाता है। ऋचाओं की भाव मरीचियां, यजुरादेशों की कर्मधारिता और सामगायन की सुमधुर स्वर लहरी का सुन्दर समाहार त्रयी का त्रिभंगी रूप-लावण्य है। वह अपने को तीन वर्गों में विभाजित कर त्रयी में रहती हैं, इसलिए उनको त्रिवर्ग-निलया और त्रिस्था (तीन में स्थित) कहा गया है। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल; भूत, भविष्य और वर्तमान; सत्व, रज और तम; अ-कार, उ-कार और म-कार; जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अनेक त्रिवर्गों की कल्पना की जा सकती है। इन सब का वर्णन करने के बजाय उनको केवल 'त्रिस्था' कहने से सब कुछ कहा गया माना जा सकता है। ये तीन वर्ग, जिनको निलय या आलय बनाकर परमेश्वरी जीव जगत् में प्रतिष्ठित हैं, उन्हीं में विलीन बन जाती हैं। उनको अलग-अलग देखना कठिन है, सब मिलकर "त्रिपुर" हार बन जाते हैं। इस हार से अलंकृत देवी को "त्रिपुरमालिनी" कहा गया है। इस माला में तीन रंग (त्रिपुर) मिल जुलकर अंतरंग की अधीश्वरी को अलंकृत करते हैं। ब्रह्मांड और पिंडांड का प्रतिनिधित्व

करने वाले श्री चक्र का अंतर्दशार चक्र (दस अरों का भीतरी चक्र) त्रिपुरमालिनी नाम की देवी का निवास माना जाता है। श्री चक्र के नौ आवरणों में यह चौथा आवरण है। पहला आवरण बिन्दु है, दूसरा त्रिकोण है, तीसरा अष्टकोण है और चौथा अंतर्दशार। इसके बाद क्रमशः बहिर्दशार चक्र चतुर्दशार चक्र अष्टदल पद्म, षोडशदल पद्म और भूपुर आते हैं। इस प्रकार अंतर्दशार चक्र की अधिष्ठात्री देवी त्रिपुर-मालिनी श्री चक्र की लगभग मध्यवर्तिनी है। वसुकोण के मार्ग में वह भीतर प्रवेश कर सर्वानन्दमय बिन्दु तक भी ले जा सकती है और बहिर्दशार चक्र की ओर प्रवृत्त होकर भूपुर तक भी पहुंचा सकती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत प्रसंग में त्रिपुरमालिनी का स्मरण अत्यन्त समीचीन है।

अंतर्मुख आराधना से निरामया और निरालम्बा देवी की कृपा प्राप्त होती है। निरामया का मतलब है नीरोग, स्वस्थ और इसलिए स्वास्थ्य वर्धक। देवी सहज ही स्वस्थ रहती हैं। अपने स्वास्थ्य के लिए वह किसी पर निर्भर नहीं रहती हैं। इसीलिए वह "निरालम्बा" हैं। अपने में रहना (स्वास्थ्य) ही अपने पर निर्भर (आत्म निर्भर) रहना है। आत्म निर्भर परमेश्वरी अपने आराधकों को भी आत्म निर्भर बनाती हैं। देवी की तरह वे भी आत्माराम (अपने आप में आनन्द का अनुभव करने वाले) बन जाते हैं। यहां पर देवी को केवल आत्मारामा न कह कर "स्वात्मारामा" कहा गया है। अन्यत्र भी देवी को "स्वात्मानंदलवीभूत ब्रह्माद्यानन्द संतति" (अपने आत्मानन्द से ब्रह्मानन्द की अनंत संतति को भी संकुचित करने वाली) कहा गया। वास्तव में सच्चा आनंद अपनी अंतरात्मा से मिलता है, बाहर के क्षणभंगुर सुख साधनों से नहीं जिनसे शरीर का तेज क्षीण हो जाता है। यह आत्मानंद किस प्रकार का होता है, यह बात इस श्लोक के अन्तिम नाम में "सुधासृति" कहकर स्पष्ट की गई है। अमृतधारा की तरह वह आनन्द

आत्मवान् व्यक्ति को रसाप्लावित कर देती है। शरीर की विभिन्न ग्रंथियों से जो रस स्राव होते हैं, उन्हीं की भांति, पर उन सब में श्रेष्ठ एक विशिष्ट स्राव-सुधास्राव-आत्माराम के आनंद निलय से होता है। यही वह सुधासृति है जो संसार की समस्त व्यथा को पलभर में भुला देती है। लेकिन यह आनन्द-कमल कलिमल से ही निकलता है। संसार रूपी पंक से सुधासृति का पंकज कैसे निकल कर खिल उठता है, यह अगले श्लोक में स्पष्ट किया जाता है :

संसार पक निर्मग्न समुद्धरण पंडिता।
यज्ञप्रिया यज्ञकर्त्री यजमानस्वरूपिणी॥

दुनियां की दल-दल में फंसे हुए प्रापंचिक जीवियों को परमेश्वरी सहारा देकर उठाती हैं। इस काम में वह इतनी कुशल हैं कि यह पता तक नहीं चलता कि अज्ञान का पंक कब कैसे धुल गया और ज्ञान का पंकज कब खिल उठा। कुछ लोगों के जीवन में यह परिवर्तन अचानक होता है और कुछ लोग इसको धीरे-धीरे अपने जीवन में उतार लेते हैं। लेकिन यह होता हरेक के जीवन में है। इसी को कभी-कभी यज्ञ के नाम से जाना जाता है। मैं कहां से आया हूं और यह संसार कहां से कहां जाता है, इस बात (यत्) को जानने (ज्ञ) की चेष्टा ही यज्ञ है। यह जिज्ञासा जिस परमेश्वरी की कृपा से जागरित होती है, वह केवल यज्ञप्रिया (यज्ञ को पसंद करने वाली) ही नहीं, बल्कि यज्ञकर्त्री (यज्ञ कराने वाली) भी है। वास्तव में वह स्वयं यजमान बनकर यज्ञ का अनुष्ठान करती और कराती हैं। दीक्षा और दीक्षित दोनों वह स्वयं हैं। पांच तत्त्व, सूर्य, चन्द्र और आत्मा परम शिव के आठ शरीर हैं जिनमें अंतिम आत्मा ही सबका मालिक है, यजमान है। आत्मा की प्रेरणा से आत्महित की साधना के लिए आत्मा के माध्यम से यह आत्मिक यज्ञ संपन्न होता है। इसलिए आत्मस्वरूपिणी देवी को यजमान-स्वरूपिणी कहा गया है।

इस यज्ञ का फल लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का होता है। धन-धान्य की समृद्धि से इह लोक तथा धर्म कर्म और ज्ञान से परलोक दोनों सिद्ध हो जाते हैं। यही बात अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

धर्माधारा धनाध्यक्षा धनधान्य विवर्द्धिनी।
विप्रप्रिया विप्ररूपा विश्वभ्रमण कारिणी॥

धर्म धरा का आधार है, धरती का धारण करता है। इसीलिए उसको धर्म कहा जाता है। इस धर्म को आधार प्रदान करती हैं धर्माधारा परमेश्वरी। अधिकरण को आधार कहा जाता है। इसलिए धर्माधारा देवी धर्म का अधिकरण बनकर उसकी प्रतिष्ठा में सहयोग देती हैं। यहां पर धर्म का मतलब मजहब नहीं है। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, सूर्य, चंद्र और आत्मा का जो अपना स्वभाव है, वही धर्म है। जब तक धरा के ये आधार-स्तंभ अपने-अपने धर्म का का आचरण अपना परम पावन कर्तव्य समझकर करते हैं तब तक यह धरती धन-धान्य से समृद्ध रहती है। धरती माता केवल अन्न पान की ही व्यवस्था नहीं करती है, बल्कि हमें ज्ञान दान देकर विप्रत्व (विद्वत्ता) भी प्रदान करती हैं। खाना, पीना, सोना और मरना हर प्राणी के लिए सहज लभ्य हैं। लेकिन अपने को जानना और पहचानना किसी-किसी के लिए साध्य होता है। उसी को हम विप्र (विशिष्ट और प्रकृष्ट जीवी) कहते हैं। विप्र का मतलब यहां पर जन्मजात ब्राह्मण नहीं है। जन्म से प्रत्येक प्राणी बराबर होता है, पर संस्कार से वह द्विज (दुबारा पैदा हुआ) बनता है, साधना से ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) बनता है और साक्षात्कार से विप्र (आजकल की परिभाषा में वी० आई० पी०) बनता है।इस प्रकार के विप्रों का परमेश्वरी आदर करती हैं, उनको प्यार करती हैं। इसलिए वह विप्र प्रिया है। यही नहीं वह स्वयं विप्र का रूप धारण कर विश्व को संचालित करती हैं, प्रवर्तित करती हैं, घुमाती हैं जैसे कुम्हार अपने चक्र को घुमाता है। इसींलिए वह विश्व भ्रमण कारिणी है।

संसार में सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझकर प्राय: लोग भटक जाते हैं। यह माया के कारण होता है। परमेश्वरी की कृपा से ही इस माया से मुक्ति मिलती है। भ्रम में डालती भी वही हैं और भ्रम का निवारण कर ब्रह्म का दर्शन भी वही कराती हैं।

समस्त संसार को निगल कर उसमें से सारभूत तत्त्व को उगलने वाली विश्वेश्वरी का वैश्वानर रूप अगले श्लोक में प्रस्तुत है:

विश्वग्रासा विद्रुमाभा वैष्णवी विष्णु रूपिणी।
अयोनिर्योनिनिलया कूटस्था कुलरूपिणी॥

विश्व को अपनी माया से घुमाने वाली विश्व भ्रमण कारिणी विश्व को एक ही घूंट में निगल भी लेती हैं, इसलिए वह विश्व ग्रासा हैं। विद्रुम, प्रवाल या मूंगे के रंग से रंजित परमेश्वरी वित् (ज्ञान) नाम के वृक्ष की शोभा लिए रहती हैं। इसलिए वह विद्रुमाभा हैं। सारा संसार एक महान् वृक्ष के समान है जिस की जड़ें ऊपर हैं और शाखाएं नीचे की तरफ फैली हुई हैं। परमेश्वरी इस वृक्ष का पालन-पोषण करती हैं, क्योंकि उसमें वह अपनी ही आभा देख लेती हैं। असल में विश्व और विष्णु में अन्तर नहीं है। विश्व ही विष्णु का व्यक्त रूप है। इसीलिए भगवान् विष्णु के सहस्रनाम में सबसे पहला नाम विश्व है और उसके बाद ही विष्णु का नाम लिया जाता है। विश्व व्यापी विष्णु की आभा से तादात्म्य का अनुभव करने वाली देवी को यहां पर वैष्णवी और विष्णुरूपिणी कहा गया है।

समस्त संसार का मूल कारण परमेश्वरी ही है। इसलिए उनके लिए किसी अन्य कारण, आधार या योनि की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए उनको "अयोनि" कहा गया है। संसार की जितनी योनियां अथवा आधार भूमियां हैं उन सब को वह निलय, आधार या सहारा प्रदान करती हैं। सभी कारण और आधार देवी में लीन हो जाते है।

इसलिए वह योनि रहित अथवा अयोनि होने पर भी योनि निलया हैं। वह सब के मूल में रहस्यमयी आकृति लिए बैठी हैं, इसलिए उनको कूटस्था कहा गया है। "कूट" शब्द से मूलाधार और रहस्यात्मकता का बोध होता है। वाग्भव कूट, मध्यकूट और शक्ति कूट में भी वह सूक्ष्म रूप से विराजमान हैं। पंचदशी (मंत्र) में भी वह तीन कूटों में प्रतिष्ठित हैं। "कूटस्थ" सत्ता प्रायः अचल और ध्रुव रहती है। इसीलिए गीता में "कूटस्थमचलं ध्रुवम्" कहकर इसी रहस्यात्मक अस्तित्व की ओर संकेत किया गया ह। विभिन्न कूटों के समूह को "कुल" की संज्ञा दी जाती है। सारा शरीर एक प्रकार का कुल है क्योंकि कुल मिला कर वह एक पिंडांड बन जाता है और ब्रह्मांड का प्रतिनिधित्व करता है। देवी इसी कुल के रूप में विराजमान हैं। इसलिए उनको "कुलरूपिणी" कहा गया है।

परमेश्वरी का यह सूक्ष्म रूप धीर गंभीर वीरों को ज्ञान और विज्ञान के माध्यम से अवगत हो जाता है। यह बात अगले श्लोक में स्पष्ट की जाती है :

वीरगोष्ठी प्रिया वीरा नैष्कर्म्या नादरूपिणी।
विज्ञान कलना कल्या विदग्धा बैंदवासना॥

विलक्षण ईरण अथवा विशिष्ट चेतना से संपन्न पहुंचे हुए साधकों को वीर कहा जाता है। इसी प्रकार के वीरों की गोष्ठी में देवी रुचि लेती हैं क्योंकि वह स्वयं वीरा है। "वादे वादे जायते तत्त्व बोधः—" के अनुसार तत्त्ववेत्ताओं के बीच विचार-विनिमय होने से परम तत्त्व को पहचानने में सुविधा होती है। जब इस प्रकार का शुद्ध बोध या सात्विक विवेक साधक के मन में उत्पन्न होता है तब वह काम करते हुए भी कर्म में लिप्त नहीं रहता। यही गीता की नैष्कर्म्य-सिद्धि है जो कर्मयोगी को ज्ञान और भक्ति की ओर सहज रूप से ले जाती है। इसी की ओर संकेत करते हुए यहां पर देवी को नैष्कर्म्या कहा गया है। जब निष्काम

कर्म की साधना में सफलता मिलती है तब वाणी में शब्द, समास या वाक्य नहीं रहते हैं, केवल "नाद" रह जाता है। मंत्र भी नाद का रूप धारण करता है। स्वर या वर्ण की कोई अपेक्षा नहीं रहती। सारी वाक् नाद में परिणत हो जाती है। संगीत के गायन में भी सारे स्वर अपनी सूक्ष्मतम अवस्था में नाद बन जाते हैं। संत त्यागराज ने इसी दृष्टि से भगवान् शंकर को नादशरीरी (नाद तनु) कहा है। यही आत्म-ज्ञान सच्चे अर्थों में विज्ञान है। इसी विज्ञान की कलना या भावना कल्याणी की करुणा से ही प्राप्त होती है। इसीलिए देवी को ज्ञान-विज्ञान की कलना और समस्त संसार की कल्या (प्रसवित्री उषा) के रूप में यहां प्रस्तुत किया गया है। अन्धकार को चीर कर रात को दिन में बदलने वाली उषा ही कल्या है जिसको अनुप्राणित करने वाली देवी ही कल्याणी हैं। वह निरन्तर रहने वाली और सब से विलक्षण भी है। इसलिए वह विदग्धा हैं। उनकी समानता करने वाली और कोई सत्ता नहीं है। वह बिन्दु की तरह अपने पास जो भी रेखा आती है उसको भी अपने में समेट कर सब को बिन्दु बना देती है। श्री चक्र के भीतर प्रतिष्ठित सर्वानंदमय बिन्दु ही परमेश्वरी का अवस्थान है। इस श्लोक में नाद, बिन्दु और कला का बहुत ही ध्वन्यात्मक उल्लेख मिलता है। इससे परमेश्वरी के नाद-बिंदु कलातीत विदग्ध रूप की ओर मार्मिक संकेत भी मिलता है।

परमेश्वरी का परम तत्त्व इन सभी तत्त्वों से परे है, इस बात को अगले श्लोक में और स्पष्ट किया जाता है :

तत्त्वाधिका तत्त्वमयी तत्त्वमथस्वरूपिणी।
सामगानप्रिया सौम्या सदाशिव कुटुंबिनी॥

सांख्य दर्शन के अनुसार पांच भौतिक संसार के पच्चीस तत्त्व हैं। इन सब से परे परमेश्वरी का अवस्थान है। परन्तु इनके भीतर भी परमेश्वरी निवास करती हैं। वास्तव में वह "तत्" (उस) में भी है

और "त्वम् (तुझ) में भी हैं। जीवात्मा और परमात्मा में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। शब्द अलग हैं, पर अर्थ समान हैं। इसीलिए तत्त्वमयी माता को तत्त्वमर्थस्वरूपिणी कहा गया है। सामगायन इसी समता का गुणगान करता है, इसलिए उनको सामगानप्रिया कहा गया है। सोम अथवा चंद्रमा की तरह वह प्रियदर्शिनी हैं। वह देखने में अच्छी लगती हैं और अच्छे लगने वालों को दिखाई भी देती हैं। उनके परिवेश में हर चीज़ अच्छी दिखाई देती है। सर्वत्र सर्वदा और सर्वथा भलाई ही भलाई देखने सोचने और करने की प्रवृत्ति सदाशिव की प्रवृत्ति और प्रकृति है। इसीलिए देवी सदाशिव के परिवार अथवा कुटुंब की प्रतिष्ठित सदस्या बन गई हैं। वह सदाशिव कुटुंबिनी ही नहीं, बल्कि त्रैलोक्य कुटुंबिनी भी हैं।

———

३९. पंचमी पंच भूतेशी

संसार में प्रत्येक प्राणी प्रति क्षण आनन्द के लिए प्रयत्नशील रहता है। अन्न-पान और आमोद-प्रमोद से लेकर आध्यात्मिक साधना से प्राप्त होने वाले आत्म साक्षात्कर तक आनन्द के कई प्रकार होते हैं। पर मुख्य रूप से आनन्द दो प्रकार का होता है—लौकिक और लोकोत्तर। लेकिन लौकिक आनन्द मन को शरीर की ओर ले जाता है जबकि लोकोत्तर आनन्द मन को आत्मा से मिला देता है। शारीरिक आनन्द क्षण भंगुर, पर तत्काल सुख देने वाला होता है, किन्तु आत्मिक आनन्द शाश्वत, पर धीरे-धीरे परम सुख प्रदान करने वाला होता है। इसलिए आध्यात्मिक साधना में लगे हुए ज्ञानी भी दो प्रकार के होते हैं। कुछ लोग बाहर के सुख-साधनों का उपभोग करते हुए धीरे-धीरे निवृत्ति मार्ग में चलकर निःश्रेयस आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं जबकि कुछ लोग आत्म-संयम, त्याग और तपस्या के सहारे जल्दी से जल्दी कैवल्य पद पाने का प्रयास करते हैं। दोनों ठीक हैं। लेकिन पहले मार्ग में साधना के रूप में अपनाये जाने वाले भोग ही में फंसे रहने का खतरा होता है। त्याग की ओर ले जाने वाला भोग कल्याणकारी ही होता है। लेकिन भोग में त्याग को भुलावा देने की मादक और मोहमयी माया है। वामाचार तंत्र में यही बात हुई। मांस, मदिरा, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन को पहले साधन बनाकर अन्त तक उसी साधन में जकड़े रहने और लक्ष्य से दूर होकर माया के महागर्त में डूबने के उदाहरण इस वामाचार में अनेक मिलते हैं। इसके विपरीत दक्षिणाचार या समयाचार में वेद विहित कर्मों का

आचरण और संयम का पालन साधक को सीधे आत्म-साक्षात्कार के चरम लक्ष्य पर पहुंचा देता है। मार्ग दोनों अच्छे हैं। किन्तु एक निरापद है और दूसरे में फिसलन की गुंजाइश है। दोनों को श्री ललिता माता समान रूप से देखती हैं और दोनों का उद्धार करती हैं। यह बात श्री ललिता सहस्रनाम के निम्न श्लोक से स्पष्ट होती है :

सव्यापसव्यमार्गस्था सर्वापद्विनिवारिणी।
स्वस्था स्वभावमधुरा धीरा धीर समर्चिता॥

साधना के दो मार्ग हैं—सव्य और अपसव्य। इन्हीं को दाहिना या दक्षिण और बायां या वाम कहा जाता है। तंत्र शास्त्र में इन्हीं को दक्षिणाचार या समयाचार और वामाचार या कौलाचार कहते हैं। दक्षिणाचार की वेद विहित साधना ब्रह्म तत्त्व को पहचानने की परिनिष्ठित भावना से आत्मानन्द की ओर अग्रसर होती है। वामाचार या कौलाचार में सांसारिक भोग लालसा में लिप्त पशुता से लेकर वीरता के माध्यम से अन्त में दिव्यता को प्राप्त करने तक का प्रयास किया जाता है। यह टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता है और रास्ते में कई रोड़े हैं, कांटे हैं और प्रलोभन हैं। पर परमेश्वरी की कृपा हो तो सारी विपत्तियां दूर हो जाती हैं। सबकी विपत्तियां और सब प्रकार की विपत्तियां दूर करने की क्षमता सव्य और अपसव्य मार्गों के बीच में रहने वाली माता में है। मानव शरीर में मेरुदण्ड की दाईं-बाईं तरफ इडा और पिंगला नाम की नाड़ियों का संचार होता है और बीच में सुषुम्ना नाम की नाड़ी होती है जो मूलाधार में सोई पड़ी कुण्डलिनी को जगाकर सहस्रार कमल के पास पहुंचाती है और उस कमल के मकरंद की माधुरी से सारे शरीर को मधुमय और सुधामय बना देती है। इडा और पिंगला ही सव्या और अपसव्या हैं जिनके बीच में श्रीमाता "सव्यापसव्य मार्गस्था" बन कर दोनों को संतुलित गति से संचालित करती हैं। जब तक बीच में बचाने वाली परमेश्वरी अपने स्थान में (स्वस्थ) हैं तब तक कोई भी

आपदा या विपदा साधक को पदभ्रष्ट नहीं कर सकती। इसीलिए देवी को "स्वस्था" कहा गया है।

सुषुम्ना में स्वस्थ (अपने स्थान में सुप्रतिष्ठित) परमेश्वरी स्वभाव से मधुर है। माधुरी या मिठास उनके पग-पग में पद-पद में प्रकट होती है। स्वास्थ्य और माधुर्य के साथ-साथ देवी में धीरता अथवा बुद्धिमत्ता भी है। विकार के कारण सामने उपस्थित होकर नाना प्रकार के प्रलोभन देने पर भी जिसका मन विचलित नहीं होता, उसी को धीर कहते हैं। यह धीरता परमेश्वरी की कृपा से प्राप्त होती है और ऐसे ही धीर धीरा की आराधना या अर्चना करने के अधिकारी हैं। महायोगेश्वर श्रीकृष्ण के महारास में इसी प्रकार की धीरता पाई जाती है। इस रहस्य को न पहचान कर प्राग्ज्योतिष के कामी राजा नरक ने विश्रृंखल काम-वासना का सेवन कर संसार में अत्याचार का आतंक फैलाया और अन्त में सत्यभामा के हाथों अपने प्राण गंवा लिए। इसलिए धर्म सम्मत काम वासना और निष्काम धर्म साधना को ठीक-ठीक पहचानना ही धीरता की सही पहचान है।

परमेश्वरी अपने आराधकों की धीर गम्भीर चेतना को आसानी से पहचान लेती हैं। चेतना के माध्यम से ही चैतन्यप्रिय देवी की आराधना सम्भव है, यह बात अगले श्लोक के पांच नामों में स्पष्ट की जाती है :

चैतन्यार्घ्य समाराध्या चैतन्य कुसुमप्रिया।
सदोदिता सदातुष्टा तरुणादित्य पाटला॥

देवी-देवताओं की आराधना या अर्चना में सबसे पहले आवाहन किया जाता है, श्रद्धा-भक्ति से आमंत्रित किया जाता है, उसके बाद बैठने के लिए आसन दिया जाता है और उसके पश्चात् हाथ धोने के लिए जल अथवा अर्घ्य दिया जाता है। वाणी से आवाहन होता है और

हृदय को आसन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। फिर अर्घ्य या पवित्र जल क्या होना चाहिए, इसके बारे में इस श्लोक का पहला नाम कहता है कि चैतन्य ही देवी के लिए उचित अर्घ्य है। चैतन्य चित् की सम्पत्ति है। अपना सारा चिन्तन, विवेक और धीविलास देवी के चरणों में अर्पित करना ही अर्घ्य दान है और वही उनकी अर्चना के योग्य कुसुम भी है। अगला नाम—"चैतन्य कुसुमप्रिया"—इस बात को स्पष्ट करता है। गुलाब, चमेली, जूही आदि नाना प्रकार के पूजा-कुसुमों से भी बढ़ कर परमेश्वरी चैतन्य कुसुम से अधिक सन्तुष्ट होती हैं। फूल में जो कोमलता है, सुगन्ध है और सात्विक निर्लिप्तता और समर्पण की भावना है, वह अपनी चेतना में होनी चाहिए। तभी चैतन्यप्रिया की समुचित आराधना सम्भव होती है।

प्रायः सूर्योदय के समय प्रत्यक्ष देवता भगवान् भास्कर को अर्घ्य के रूप में जल अर्पित किया जाता है। लेकिन चैतन्य का जल चढ़ाने के लिए प्रत्येक क्षण उदय का ही समय होता है। वह कभी भी दिया जा सकता है। इसीलिए चैतन्य का जल और चैतन्य का फूल स्वीकार करने वाली श्रीमाता को सदोदिता (हमेशा उदित रहने वाली) और सदातुष्टा (हमेशा सन्तुष्ट रहने वाली) कहा गया है। पूजा स्वीकार करने में वह हमेशा उदय की शोभा से विराजमान हैं तो अपने भक्तों को अनुगृहीत करने में भी वह सदा मध्याह्न की तरुणारुण कांति से उज्ज्वल दिखाई देती हैं। तरुण सूर्य की तरह और पाटल या गुलाब के फूल की तरह वह सफेद लालिमा लिए रहती हैं। इसीलिए उनको "तरुणादित्य पाटला" कहा गया है।

चाहे दक्षिण मार्ग के अनुयायी हों या वाम मार्ग के हों, चाहे दाहिनी तरफ से उसके पास पहुंच जाए या बाईं तरफ से, सबको वह समान भाव से और समान वात्सल्य से देखकर सबको अपनी मीठी मुस्कान से पास बुलाती हैं। सबको उनका अभीष्ट फल देकर सन्तुष्ट करने में देवी

की जो वात्सल्यमयी सात्विकता है, उसको अगले श्लोक में स्पष्ट किया जाता है :

दक्षिणादक्षिणाराध्या दरस्मेर मुखांबुजा ।
कौलिनी केवलानर्घ्य कैवल्य पद दायिनी ।।

दक्षिण (समयाचार) और अदक्षिण (वाम या कौल सम्प्रदाय) के द्वारा आराध्य देवी दोनों के लिए दक्षिण (अनुकूल) है । यजमान अपने पुरोहित को प्रसन्न और अनुकूल बनाने के लिए दक्षिणा देते हैं । उसमें भी यही दाक्षिण्य भावना निहित है । वास्तव में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार से परमेश्वरी की आराधना की जा सकती है । प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु जैसे राक्षसों ने विरोध भक्ति द्वारा मुक्ति पाई है । भगवान् भास्कर को वाल्मीकि देवासुर नमस्कृत (देवता और राक्षस दोनों द्वारा नमस्कृत) कहते हैं । जब परमात्मा की परम सत्ता प्रत्येक जीवात्मा के भीतर प्रतिष्ठित है तब बेचारा जीव मान न मान मैं तेरा मेहमान, कहकर अपने घर बैठे मेहमान से आंख बचाकर कहां जाएगा, चाहे प्यार से खिलायें या मज़बूर होकर—खिलाना तो पड़ेगा ही । इसीलिए जीव की इस विवशता को समझकर देवी मुस्कुराती हैं—वह भी हल्की सी मुस्कराहट । इसलिए उनको "दरस्मेर मुखांबुजा" कहा गया है । तिरछी चितवन और हल्की मुस्कान से देवी का मुख-कमल विशेष शोभा पाता है ।

जैसे दक्षिण मार्ग के अनुयायी के लिए, वैसे कौल मार्ग के अनुयायी के लिए भी वही केवल एकमात्र सहारा है । इसीलिए वह कौलिनी और केवला अथवा कौलिनी केवला है । केवला कहने में एक चमत्कार भी है । भाई-बहनें, बेटे-बेटियां अनेक हो सकती हैं, पर माता तो केवल एक ही हो सकती है । इसीलिए श्रीमाता एक हैं और बाकी सब उनकी सन्तान हैं । कैवल्यकर परम पद को अनर्घ्य (अमूल्य) कहा गया हैं । हम जो अर्घ्य जल चढ़ाते हैं, वह मोल-तोल के अन्तर्गत आ सकता है, परन्तु

इससे प्रसन्न होकर देवी हमें जो कैवल्य-पद प्रदान करती हैं, वह अमूल्य है, अनर्घ्य है, केवल आराधना या अर्चना से प्राप्त होने वाली नहीं है। परमेश्वरी की परम वात्सल्यमयी भावना या अनुकम्पा से ही यह कैवल्य सिद्ध हो जाता है। आंध्र भागवतकार पोतन्ना ने इसीलिए अपने ग्रन्थ के मंगलाचरण में "श्री कैवल्य पद" की याचना की थी—नन्दभामिनी के आनन्द-कंद कृष्ण चन्द्र से। जीवन की चरितार्थता इसी में है।

मंत्र, तंत्र, सम्प्रदाय, दर्शन, शास्त्र, पुराण आदि जटिल साधनों को छोड़कर केवल मां कहकर सच्ची लगन से आवाज़ लगाने पर मां हमारे पास दौड़कर चली आती हैं। यही सबसे सरल उपाय है जिसकी ओर अगला श्लोक संकेत करता है :

स्तोत्रप्रिया स्तुतिमती श्रुति संस्तुत वैभवा।
मनस्विनी मानवती महेशी मंगलाकृतिः॥

स्तोत्र से देवीं प्रसन्न हो जाती हैं और यह सबके लिए सुलभ है। श्रीविद्या में श्रीचक्र यंत्र का काम देता है, बाला, पंचदशी षोडशाक्षरी आदि बिद्यायें मंत्र का सहारा देती हैं और श्री ललिता-सहस्रनाम स्तोत्र का आधार प्रस्तुत करता है। मंत्र और यंत्र सबके लिए साध्य नहीं है। इसके लिए अधिकारी और योग्व गुरु की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन स्तोत्र का पाठ करने के लिए साधारण भाषा ज्ञान और देवी के दिव्य नामों का सही-सही अर्थ समझना काफी है। थोड़ा-बहुत प्रयास इसमें भी अपेक्षित है। लेकिन मां की ममता पाने के लिए बच्चा भी हाथ-पांव हिलाता है, अव्यक्त भाषा में हंसता-रोता है और हंसते-रोते अन्त में बोलने की शक्ति पाता है। इसी प्रकार श्रीमाता के इस दिव्य स्तोत्र का पाठ करने से माता प्रसन्न हो जाती है क्योंकि इस स्तोत्र के प्रत्येक नाम में देवी अक्षर भारती के रूप में प्रत्यक्ष प्रतिष्ठित है। नाम लेने मात्र से परा, पश्यंती और मध्यमा में संचरित होने वाली प्राण शक्ति जागरित होती है। नाम का उच्चारण बिजली की घंटी (कालिंग बेल) के समान

है जिसकी आवाज़ माता के कानों में तुरन्त पहुंच जाती है। द्वार पर पहुंचने और बटन दबाने भर की देरी है, माता द्वार खोलकर प्यार से हमें अन्दर बुलाती हैं और हमारी सारी व्यथा को पल भर में भुलवाकर हमें आनन्द-लोक में ले जाती हैं। इसीलिए वेदों ने इस स्तुतिमती और श्रुतिमहती की महिमा अनेक ऋचाओं में, गीतों में, सूक्तों में, अनुवाकों में, वल्लियों में और शैलियों में गाई है। परमेश्वरी की महिमा का यह गायन ही वेद वाङ्मय है। इसीलिए कहा गया है कि ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद में जो वाणी है, वही संतों की अमृत वाणी "श्री" पद से परिभाषित है (ऋचः सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सतां)।

श्रीमाता मन में रहकर हमारी वाणी का श्रवण करती हैं और वाणी में रहकर हमारा मान बढ़ाती हैं। इसलिए उनको मनस्विनी और मानवती कहा गया है। वेदों ने भी मन और वाणी के सामरस्य को समस्त साधना का आधार माना है। हमारी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो और वाणी में मन प्रतिष्ठित हो, यही अनेक उपनिषदों (जैसे ऐतरेय) का शांति पाठ उद्घोषित करता है। जिसकी वाणी को मन मान लेता है और जिसके मन की बात वाणी कह देती है, वह सचमुच समस्त संसार का स्वामी बन सकता है। यह शक्ति "महेशी" की महती अनुकम्पा से प्राप्त हो सकती है। महेशी सबका मंगल चाहती हैं क्योंकि उनका आकार ही मंगलमय है। मंगल करने वाली और अमंगल को हरने वाली दिव्य वाणी श्री ललिता सहस्रनाम का स्त्रोत्र है जिसमें मंगलाकार में मंगलदेवता मां बैठी हुई हैं। प्रत्येक श्लोक, प्रत्येक नाम ओर प्रत्येक अक्षर परमेश्वरी की परम रमणीय आभा से आलोकित है।

श्रीमाता ही अखिल जगत् की माता हैं। वही विश्वमाता हैं। वह सब कुछ देखती हैं, अपने लिए कुछ नहीं चाहतीं, पर अपने भक्तों को सब कुछ देती हैं। माता की यह ममता, उदारता, प्रसन्नता और प्रफुल्लता अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

विश्वमाता जगद्धात्री विशालाक्षी विरागिणी ।
प्रगल्भा परमोदारा परामोदा मनोमयी ॥

वह सब की मां है, समस्त संसार की मां है, इसलिए विश्व माता हैं । वह अपनी संतान का पालन-पोषण करती हैं । यह तो उनका स्वभाव और लक्षण है । इसमें कोई विशेष बात नहीं है । आश्चर्य की बात तो यह है कि वह सब कुछ देखकर भी निर्लिप्त रहती हैं । राग और विराग का विचित्र किन्तु मंजुल संयोग माता के ममतामय व्यक्तित्व में विशेष रूप से देखने लायक है । बन्दर जैसे एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर उछल-कूद कर उड़ने लगता है तो उसके बच्चे भी अपने आप उसके साथ-साथ पेट से चिपक कर चलते हैं, उसी प्रकार श्रीमाता भी विरागिणी-सी दिखाई देती हैं, पर सब कुछ देखती हैं । वह विशालाक्षी भी हैं और साथ-साथ विरागिणी भी । इसी में उनकी प्रगल्भता या प्रौढ परिपक्वता है । उनको विश्वास है कि उनके भक्तों का कहीं कोई अनर्थ नहीं हो सकता और इस बात को सुनिश्चित करने के लिए उन्होंने आवश्यक प्रबंध भी कर रखा है । आकाश की तरह वह सब जगह फैली हुई है, इसलिए यह देख रेख उनके लिए सहज सुलभ है । जो उनकी आराधना नहीं करते, उनकी भी वह देख-रेख करती हैं, उन पर नजर डालकर चलती हैं । इसलिए वह परमोदारा है । इसीलिए उनका गुणगान सब लोग करते हैं । उनके उनकी सुगंध सब जगह फैली हुई है । जहां तक हवा चलती है वहां तक मानस मकरंद की माधुरी का विस्तार है । "परामोदा" कह कर देवी के इसी यशोविस्तार की ओर संकेत किया गया है । अन्त में उनको "मनोमयी" कहा गया है । पहले मनस्विनी कहा गया है । मनस्विनी बनना एक बात है और मनोमयी का रूप धारण करना दूसरी बात है । जिसका मन सजग और विकसित है, वह मनस्वी या मनस्विनी है । लेकिन जो स्वयं मन है, वही मनोमय या मनोमयी है । इसलिए मनोमयी माता मनुष्य शरीर में स्वयं मन बनकर जीव का उन्नयन करती हैं ।

बृहदारण्यक कहता है कि परम तत्त्व को मन से ही देखा जा सकता है। यह काम मनोमयी के माध्यम से होता है।

आकाश को केश बनाकर हाथ में वज्र लिए अंतरिक्ष में स्वैर विहार करते हुए पांच तत्त्वों पर अपनी प्रभुता प्रदर्शित करने वाली परब्रह्मस्वरूपिणी परमेश्वरी का वर्णन अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

व्योमकेशी विमानस्था वज्रिणी वामकेश्वरी।
पंच यज्ञप्रिया पंचप्रेतमंचाधिशायिनी ।।

परमेश्वरी के विराट् शरीर में आकाश उनकी केशराशि को सुसज्जित करता सा दिखाई देता है। अन्तरिक्ष में वह निरालम्ब विचरण करती हैं—अपने निजी विमान या यान पर। यक्ष, राक्षस, देव, गंधर्व नर, किन्नर और नाना प्रकार के पशुपक्षियों से युक्त संसार पर वह सक्षम शासन स्थापित करने के लिए हाथ में वज्र लिए चलती हैं। "महद्भयं वज्रमुद्यतम्" कहकर उपनिषद् इसी भय प्रदर्शक वज्र का उल्लेख करतां है। परमेश्वरी के हाथ में जो वज्र है, वह केवल भय प्रदर्शक ही नहीं, बल्कि अभयप्रद भी है, उनके वज्र में भय है, पर हाथ में अभय है। वाम मार्ग पर चलने वालों को वह वज्र दिखाती हैं और यज्ञ याग आदि सत्कर्म करने वालों को अभय दान करती हैं। इसीलिए वह वामकेश्वरी हैं और साथ ही पंच यज्ञप्रिया भी। यज्ञ पांच प्रकार के होते हैं—देव यज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्म यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, और भूत यज्ञ। ये सब देवी को अच्छे लगते हैं। पांच भौतिक जगत् के पांच तत्वों को पलंग के पैर और तकिया बनाकर आराम से सोने वाली रानी के रूप में इस श्लोक का अन्तिम नाम—पंचप्रेतमंचाधिशायिनी—देवी का वर्णन करता है। पृथ्वी, जल आदि पांच तत्त्व परमेश्वरी की आज्ञा के बिना निष्क्रिय, निर्जीव और निश्चेष्ट बन जाते हैं। इसीलिए उनको प्रेत कहा गया है। पांच भूतों को पांच प्रेत बनाकर उन्हीं से वह अपना मंच या पलंग बना लेती हैं। कुछ लोग ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, महेश्वर और

सदाशिव को इन पांचों के अन्तर्गत गिनाते हैं। आचार्य शंकर ने भी शिवानी क लिए इसी प्रकार शिवात्मक मंच की परिकल्पना की है। वैसे देखा जाए तो मूलाधार से लेकर विशुद्धि चक्र तक फैले हुए पांच तत्त्व भी आज्ञा चक्र को आवासित करने वाली चिन्मयी के लिए इसी प्रकार का चिदाकार मंच प्रस्तुत कर सकते हैं। पांच की संख्या बहुत गहरी और व्यापक है। अपनी रुचि, संस्कार और प्रज्ञा के अनुसार हम इसे कई दृष्टियों से समझ सकते हैं। इसी व्यंजना को आगे बढ़ाते हुए अगला श्लोक कहता है :

पंचमी पंच भूतेशी पंच संख्योपचारिणी।
शाश्वती शाश्वतैश्वर्या शर्मदा शंभुमोहिनी॥

पांच चाहे जो कोई भी हों, किन्तु परमेश्वरी पांचवीं है, पंचमी हैं, शेष चार से उत्कृष्ट और सर्वश्रेष्ठ हैं। माघ शुक्ला पंचमी को श्री पंचमी (बसंत पंचमी) कहा जाता है। पांच भौतिक जगत् के लिए और इसकी अधीश्वरी के लिए पांच की संख्या उपचार, उपहार और उपासना की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण है। पांच तत्वों से बने प्राणी आते हैं और जाते हैं, पर पांच तत्त्व हमेशा रहते हैं। 'तत्त्वम् में से त्वम्' (तू) चला जाता है पर "तत्" निरंतर बना रहता है। यही नश्वर जगत् का अविनश्वर और शाश्वत सत्य है। यही परम तत्त्व और पर तत्त्व है। यही शाश्वती माता का शाश्वत ऐश्वर्य है जो सब को सुख देता है। अनंत काल में आविर्भूत और तिरोभूत अनंत जीव राशि को अनंत ऐश्वर्य प्रदान करने वाली अक्षय निधि की अधीश्वरी देवी को देखकर भोले शंकर भगवान् शंभु भी स्तब्ध रह जाते हैं, मुग्ध बन जाते हैं। महामाया का यह मधुर मोह चिरंतन है और इसी में महती मही का मंगल है।

---

४०. श्री शिवा

शिव शक्त्यैक्य रूपिणी

ललितांबिका

संसार के कण-कण में सर्वानंदमय बिन्दु के रूप में स्पंदनशील परमेश्वरी कभी धरा का रूप धारण कर धर्म का परिक्षण करती हैं और कभी परम व्योम में सहस्र परमा रमा का रूप धारण कर लोकोत्तर और चिरंतन शांति की स्थापना करती हैं। इसलिए इस लोक में लोक कल्याण की भावना और परलोक में आत्म कैवल्य की साधना के लिए श्री ललिता परमेश्वरी की कृपा आवश्यक बन जाती है। श्रीमाता की इसी धारयित्री और तारयित्री प्रभुता की ओर श्री ललिता सहस्रनाम का निम्न श्लोक संकेत करता है :

धरा धरसुता धन्या धर्मिणी धर्मवर्द्धिनी।
लोकातीता गुणातीता सर्वातीता शमात्मिका॥

प्राणि-जगत् का धारण करने के कारण पृथ्वी को धरा, धरणी या धरित्री कहते हैं। इस दृष्टि से समस्त संसार के मूलाधार के रूप में प्रतिष्ठित परमेश्वरी भी धरा कही जा सकती है। वह केवल धरा ही नहीं, बल्कि धरा का धारण करने वाले धराधर पर्वतराज हिमालय की पुत्री 'धर सुता' भी हैं। भौगोलिक दृष्टि से पर्वतों को चाहे कुछ भी समझा जाए, पर आध्यात्मिक दृष्टि से पहाड़ तपस्या, मौन साधना और आत्मानुसंधान के प्रतीक हैं। इस प्रकार के पहाड़ों में उत्कृष्ट कोटि का

पर्वतराज हिमालय, जिस को कवि कुलगुरु कालिदास ने देवतात्मा कहा है, साक्षात् सर्वेश्वरी का जनक है। आशय यही है कि परमेश्वरी परम उत्कृष्ट तपस्या और साधना से ही प्रत्यक्ष और प्रसन्न होती हैं जैसे नगाधिराज हिमालय को हुई थी। इसीलिए धन्य है वह पार्वतीय पुण्य-भूमि जिसने पार्वती परमेश्वरी को जन्म दिया है और धन्य हैं वे समस्त पर्वतवासी जो परमेश्वरी के देशवासी होने के कारण परमेश्वर के भी प्रेम के पात्र बन गए। जहां परमेश्वरी ने पैर रखे, वह धरा पावन बन गई और वह धर्म क्षेत्र बन गई क्योंकि देवी स्वयं धर्म का मूर्त रूप है, धर्मिणी हैं। वह धर्म की भावना को बढ़ाती हैं, इसलिए धर्मवर्द्धिनी हैं। जब धरती में धर्म की भावना बढ़ती है तो लोगों की भाव भूमिका लोक मंगल की साधना में आसक्त तो रहती है, पर साथ ही आत्मा के अलौकिक आनन्द का अनुभव भी उसके लिए सुलभ साध्य बन जाता है। इसीलिए प्रस्तुत श्लोक के उत्तरार्द्ध में देवी को लोकातीता, गुणा-तीता और सर्वातीता कहा गया है। लौकिक जीवन में शांति और सुरक्षा बनाए रखने के लिए लौकिक धर्म का पालन और गुणों का संतुलन आवश्यक होता है। सब लोग अपने-अपने धर्म का सही ढंग से सम्यक् पालन करते रहें और तम को जगाकर रज को दबाकर सत्व की सराहना करते रहें और सात्विक जीवन व्यतीत करते रहें तो सर्वत्र सुख-शांति रहती है। पर यह शांति का केवल लौकिक पक्ष है। पारलौकिक और शाश्वत शांति के लिए इससे भी गहरी साधना आवश्यक होती है जो गुण, कर्म और धर्म की लौकिक सीमाओं को पारकर उदात्त, उदार और उदासीन भावभूमिका में ही संभव है। इसी भूमिका की ओर संकेत करते हुए देवी को इस श्लोक के अन्त में शमात्मिका कहा गया है। मांडूक्य उपनिषद् में "प्रपंचोपशमं शांतं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यंते स आत्मा स विज्ञेयः"—कहकर जिस प्रशांत आत्मा के शमात्मक अद्वैत शिव तत्त्व की ओर आत्मयोगी का ध्यान आकृष्ट किया गया है, वही देवी के इस दिव्य नाम में भी प्रस्तावित है। जब सारी प्रापंचिक

वासनाओं का उपशमन हो जाता है तब भीतर का शिव तत्त्व जागरित हो जाता है जैसे अंधकार के हटने से ऊषा की लाली फैल जाती है। परमेश्वरी का प्रादुर्भाव भी प्रभात की अरुणारुण कांति रेखाओं के बीच में होता है। इसका वर्णन सहस्रनाम के अगले श्लोक में प्रस्तुत है :—

बंधूक कुसुम प्रख्या बाला लीला विनोदिनी।
सुमंगली सुखकरी सुवेषाढ्या सुवासिनी॥

नारी जीवन में जिस प्रकार बचपन, यौवन और गार्हस्थ्य का क्रमिक विकास होता है, उसी प्रकार देवी को प्रभात, मध्याह्न और अपराह्न की शोभा के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है। बाला के रूप में वह बंधूक (लाल रंग के एक फूल) की शोभा लिए अवतरित होती हैं। इस दशा में वह लीला (खेल-कूद) से अपना मन बहला लेती हैं। बाद में जब यौवन का प्रादुर्भाव होता है तब वह नववधू की मंगलमय शोभा से अलंकृत होकर सुमंगली बन जाती हैं। इस दशा में सुख देना, सुख पाना, सौंदर्यवर्द्धक वेशभूषा से अपने शरीर को सजाना आदि सहज लक्षण दिखाई देते हैं। अन्त में वह स्थिर सौभाग्य का आनन्द लेने वाली सुवासिनी बनी रहती हैं। लौकिक दृष्टि से यह नारी जीवन की त्रिस्तरीय शोभा का वर्णन सा दिखाई देता है। लेकिन मांत्रिक गहराई में पैठ कर इसका निहितार्थ समझने का प्रयास करें तो पता चलता है कि "बाला" शब्द से श्री त्रिपुर सुंदरी और इस देवी के नाम पर प्रसिद्ध रहस्यात्मक मंत्र की ओर संकेत मिलता है। श्री पंचदशी के भी तीन खंड हैं—क ए ई ल ह्रीं, ह स क ह ल ह्रीं, सकल ह्रीं। ये तीन खंड ह बाला, सुमंगली और सुवासिनी के द्योतक हैं। श्री चक्र की सर्वानंदम बिन्दु में निक्षिप्त ऐं, क्लीं, सौः—इन बीजाक्षरों के साथ ये मंत्राक्ष श्रीविद्या का रूप धारण करते हैं जो अधिकारी गुरु के श्रीमुख से प्रा होती है। इसी मंत्र की महिमा को इस श्लोक में कांता सम्मित शै

में प्रस्तुत किया गया है। दंडकवन में लीलारत सीतामाता को भी आदि-कवि बाला की संज्ञा देकर बड़े मार्मिक शब्दों में कहते हैं—"बालेव रमते सीता बाल चन्द्र निभाना" (बाल चंद्र की मुख कांति से विराजित सीता माता बाला की तरह भोलो भाली और खेल में मग्न दिखाई देती हैं)।

सुवासिनी अथवा सौभाग्यवती का रूप नारी जीवन की कृतकृत्यता का परिचायक होता है। इसीलिए यह रूप परमेश्वरी को अच्छा लगता है। सुवासिनी की पूजा की प्रथा भारत के कई प्रांतों में आज भी प्रचलित है। कन्या की पूजा भी कई जगह प्रचलित है। सुवासिनी की पूजा का महत्त्व अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

सुवासिन्यर्चन प्रीता शोभना शुद्धमानसा।
बिंदुतर्पण संतुष्टा पूर्वजा त्रिपुरांबिका॥

देवी स्वयं सुवासिनी हैं, इसीलिए वह सुवासिनी की पूजा से संतुष्ट होती हैं। चिरसौभाग्यवती चिन्मयी माता संसार की सनातन सुवासिनी हैं। इसीलिए उनको शोभना या अशोभना कहा गया है। उन्हीं की शोभा से संसार की समस्त सुवासिनियों को शोभा प्राप्त होती है। नारी की सच्ची शोभा उसका विशुद्ध अंतःकरण, शुद्ध मानस या निर्मल मन है। मन जितना निर्मल होता है, तन उतना ही निखर उठता है। यही सुवासिनी की सच्ची शोभा है। जिनका मन निर्मल है, वही परमेश्वरी की सर्वानंदमय बिंदु तक पहुंच कर उसको संतृप्त कर सकते हैं जिससे श्रीमाता संतुष्ट होती हैं। यही बात यहां पर 'बिंदुतर्पण संतुष्टा' कहकर व्यक्त की गई है। देवी की उपासना करने वाले प्रायः ललाट पर जो बिंदी या वृत्ताकार टीका लगा लेते हैं, उसके पीछे भी यही रहस्य है। स्त्रियों के लिए बिंदी लगाना हिंदू समाज में लगभग अनिवार्य है। चाहे कोई भी धर्म हो ललाट पर बिंदी लगाने से ललनाओं में लालित्य की मात्रा बढ़ जाती है और उनके प्रति पूज्य भावना उत्पन्न होती है।

यह बिंदी उसी आनन्द बिंदु का प्रतीक है जो संसार-सिंधु को एक साधारण बिंदु में समा देती है। यही माता का अवस्थान है। इसी से सारी सृष्टि का उपक्रम होता है और उपसंहार भी। यह केन्द्रबिंदु मनुष्य में क्या, प्रत्येक प्राणी में है, बाहर के जगत् में है और वही श्रीचक्र के बीच में भी सांकेतिक और प्रतीकात्मक रूप से निरूपित है। श्रीविद्या के उपासक श्रीचक्र की पूजा करते हैं, श्रीविद्या का मंत्र जाप करते हैं और श्रीललिता सहस्रनाम का पाठ करते हैं। उनके लिए श्रीचक्र के मध्य अवस्थित यह सर्वानंदमय बिंदु सर्वस्व है क्योंकि वहां पर श्रीमाता से साक्षात्कार हो जाता है।

अगला नाम है—पूर्वजा। वह सबसे पहले पैदा हुई हैं, अगर उसको पैदाइश मान लें। वैसे नासदीय सूक्त के अनुसार पहले जब न सत् था और न असत् था तभी परम सत्ता विद्यमान थी। श्रुति उसको ऋत से भी पहले की बताती है। सत्, असत् और सदसत्—ये तीन अवस्थाएं तीन पुर हैं जिनको जन्म देने वाली माता को "त्रिपुरांबिका" कहा जाता है। परमेश्वरी का बनाया हुआ जीव भी इन्हीं तीन पुरों (त्रिपुरा) में विहार करता है, अपनी जीवन लीला चलाता है। मानव शरीर में भी ये तीन पुर तीन कूटों में विद्यमान हैं—वाग्भव, मध्य और शक्तिकूट। श्रीविद्या मंत्र में भी ये तीन पुर या खंड हैं। श्रीचक्र में भी बिंदु, कोण और दल के नाम से ये तीन भाग हैं। आगे चल कर इस त्रिपुर भावना का और विस्तार से वर्णन किया जाता है :

दशमुद्रा समाराध्या त्रिपुरा श्रीवशंकरी।
ज्ञानमुद्रा ज्ञानगम्या ज्ञान ज्ञेयस्वरूपिणी॥

श्रीचक्र की पूजा, श्रीमाता की आराधना और श्रीविद्या की उपासना में मुद्राओं का विशेष महत्त्व है। ये मुद्राएं संक्षोभिणी नाम की मुद्रा से लेकर त्रिखंड मुद्रा तक दस बताईं जाती हैं। वैसे मुद्राएं अनेक बन सकती हैं, पर उनका आधार दोनों हाथों की कुल मिलाकर दस

उंगलियां हैं। इन दस उंगलियों के विविध प्रकार के मेल-मिलाप से अनेक आकृतियां बनाई जा सकती हैं। इन्हीं को मुद्रा कहते हैं। नाट्य शास्त्र में अनेक मुद्राओं का उल्लेख है। सामान्य जीवन में भी हम विभिन्न हाव भावों को प्रकट करने वाली अनेक मुखमुद्राएं देखते हैं। प्रसन्नता, क्रोध, आक्रोश, आह्लाद आदि सभी भाव चेहरा देखने से प्रकट होते हैं। मुदमय प्रभाव पैदा करने वाली अंगभंगिमा को मंत्र शास्त्र में मुद्रा कहा जाता है। किसी भी मंत्र के जाप में इन मुद्राओं का प्रयोग विशेष लाभप्रद होता है। वेदमाता गायत्री के लिए भी सुमुख, संपुट, वितत, विस्तृत आदि चौबीस मुद्राएं निर्धारित हैं। मंत्र जाप के अंत में सुरभि से आरंभ कर आठ मुद्राएं प्रदर्शित की जाती हैं। इसी प्रकार श्रीविद्या में दस मुद्राओं का विधान है। श्रीचक्र के पांचवें चक्र को सर्वार्थ साधक चक्र कहते हैं जिसकी अधिष्ठात्री देवी त्रिपुराश्री है। यह बीच का चक्र है, इसलिए इसका विशेष महत्त्व है। श्रीमाता के अनुग्रह से यह त्रिपुराश्री प्रसन्न हो जाती हैं, प्रसन्न क्या स्वाधीन बन जाती हैं। पर माता की कृपा ज्ञान और भक्ति से प्राप्त होती है। इसलिए ज्ञान गम्या का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए ज्ञानमुद्रा का यहां पर उल्लेख किया जा रहा है।

तर्जनी के अग्रभाग और अंगुष्ठ के मूल भाग को मिलाने से ज्ञान मुद्रा बन जाती है। अक्सर ध्यान योगी अपनी ध्यानावस्था में इसी मुद्रा में बैठे रहते हैं। इस मुद्रा में परमेश्वरी का ध्यान करने से धीरे-धीरे ज्ञान का द्वार खुल जाता है। ज्ञान साधना की पराकाष्ठा पर जब जिज्ञासु पहुंच जाता है तो उसकी दृष्टि में ज्ञान और ज्ञेय (जानना और जानने का लक्ष्य) अलग-अलग नहीं रहते, बल्कि ज्ञाता (जानने वाला) भी ज्ञान और ज्ञेय के साथ एकाकार हो जाता है। यही ज्ञान ज्ञेयस्वरूपिणी की पहचान है।

एक और मुद्रा का वर्णन नमूने के तौर पर अगले श्लोक में प्रस्तुत

किया जा रहा है :

योनिमुद्रा त्रिखंडेशी त्रिगुणांबा त्रिकोणगा ।
अनघाद्भुतचारित्रा वांछितार्थप्रदायिनी ।।

उपर्युक्त दस मुद्राओं में योनिमुद्रा नवम है और त्रिखंड अंतिम और दशम है । नमस्कार की मुद्रा ही योनिमुद्रा है । रुद्र प्रश्न के प्रकरण में मनुष्य के हाथ को भगवान् का प्रतीक या प्रतिनिधि बताया गया है । अगर दाहिना हाथ भगवान् का प्रतीक है तो बांया हाथ भगवती का प्रतीक बन जाता है । इस दृष्टि से दोनों हाथ मिलाकर नमस्कार की मुद्रा बनाने से भगवान् और भगवती अर्थात् शिव और शक्ति का संयोग, समागम या सामरस्य प्रदर्शित किया जाता है जो समस्त सृष्टि की योनि या मूल स्रोत है । इस योनिमुद्रा के बाद ही त्रिखंड मुद्रा आती है जिसमें शिव शक्ति समागम से संपन्न होने वाली त्रिखंड सृष्टि की ओर संकेत मिलता है । त्रिखंड मुद्रा में सोम, सूर्य और अग्नि की तेजोमयी त्रयी का भी समाहार संपन्न होता है । राम, ओम्, श्रीम् आदि बीजाक्षरों में इसी त्रयी के बीज हैं । सूर्य को भी "त्रयी तनु" (तीन शरीर वाला) कहा जाता है । नमस्कार में कितना चमत्कार है, यह नमस्क्रिया के मनस्वी अनुयायी ही समझ सकते हैं । नमन से मनन की शक्ति बढ़ती है । उससे सत्त्व, रज और तम में संतुलन प्राप्त होता है । अंतःकरण में सर्वांतर्यामिणी परम सत्ता के प्रति विशुद्ध पूज्य भावना उत्पन्न होती है । मन लौकिक प्रलोभनों से निवृत्त हो जाता है । वैसे "मन" को उल्टा घुमाने से ही "नम" शब्द बनता है । अशोकवाटिका में शोक-संतप्त जानकी महामूर्ख रावण को सलाह देती हैं कि तुम अपना मन मुझसे वापस लेकर उसे दूसरी तरफ घुमा दो (निवर्त्तय मनो मत्तः) । इसमें भी यही रहस्य है । अगले तीन नाम त्रिगुणा, अम्बा और त्रिकोणगा— त्रिखंड मुद्रा की इसी सहज सात्विक सम्पन्नता की ओर संकेत करते हैं । श्रीचक्र में नौ त्रिकोण हैं जिनके बीच में सर्वानन्दमय बिंदु के रूप में

सर्वेश्वरी प्रतिष्ठित हैं। त्रिगुणा और त्रिकोणगा—इन दोनों नामों के बीच में अम्बा को आवासित करने में इसी रहस्य की ओर मार्मिक संकेत है।

अगला नाम है—अनघा। अघ या पाप परमेश्वरी को छू नहीं सकता। देवी के आराधक भी सब पापों से मुक्त बन जाते हैं। पापी से पापी प्राणी भी परमेश्वरी की भावना से पल भर में पापमुक्त बन जाता है। परमेश्वरी का चरित्र भी अद्भुत है, अलौकिक और असाधारण घटनाओं से भरा पड़ा है। ब्रह्मांडपुराण के ललितोपाख्यान की आख्यायिकाएं इस बात को प्रमाणित करती हैं। हम जो कुछ मांगते हैं, माता उसे देती हैं। मुंह खोलकर मांगने की आवश्यकता नहीं है, मन ही मन हम जो भी संकल्प करते हैं, उसे अंतरंग की रंगनायकी समझकर हमारी इच्छा पूरी कर लेती हैं, लेकिन अंतरंग तक हमें पहुंचना चाहिए। इसके लिए अभ्यास अथवा साधना की आवश्यकता है। इसी अभ्यास का महत्त्व अगले श्लोक में प्रस्तुत है :

अभ्यासातिशय ज्ञाता षडध्वातीतरूपिणी।
अव्याज करुणामूर्तिरज्ञानध्वांत दीपिका॥

गीता में हवा की तरह चंचल मन को स्वाधीन बनाने के लिए अभ्यास और वैराग्य की अनुशंसा की गई है। यहां भी इसी अभ्यास पर बल दिया जा रहा है। अभ्यास या बार-बार मनन, ध्यान और जिज्ञासा करने से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। परमात्मा की परम सत्ता तक पहुंचने के लिए छह मार्ग या सोपान हैं। मूलाधार से लेकर आज्ञा तक के छह चक्र ही ये छह सोपान हैं। इन सीढ़ियों को पार करने के बाद ही परमेश्वरी का पदाभ्याश और प्रासाद मिल जाता है। इसलिए इतने अभ्यास की आवश्यकता है। लेकिन एक बार परमेश्वरी के पास पहुंच जाए तो उनकी कृपा दृष्टि अनायास प्राप्त हो जाती है। उनकी आंखों में करुणा लहर उठती है। वह करुणा की मूर्ति हैं और उनकी

करुणा भी अहेतुक या अव्याज होती है। दया उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है और वह सबको समान रूप से प्राप्त होती है। ज्ञानी से भी बढ़कर अज्ञानी उनकी दया का अधिक पात्र बनता है। परमेश्वरी की दया दृष्टि के प्रसारित होते ही अज्ञान का अन्धकार ज्ञान में बदल जाता है। देवी की दया ज्ञान का दिया है जिसके जलते ही अंधकार अपने आप दूर हो जाता है।

परमेश्वरी की कृपा, महिमा और गरिमा से सभी लोग परिचित हैं क्योंकि वह सबके भीतर रहकर उन को शासित और भासित करती हैं। यह बात अगले श्लोक में कही जा रही है :

आबाल गोप विदिता सर्वानुल्लंध्य शासना।
श्री चक्र राज निलया श्रीमत् त्रिपुर सुन्दरी ॥

बच्चे से लेकर परब्रह्म तक प्रत्येक व्यक्ति परात्पर शक्ति से परिचित है। प्रत्येक प्राणी में "मैं हूं", "यह मेरा है", "मुझे यह करना है" आदि जो विचार आते हैं, इन के पीछे आत्मस्वरूपिणी परमेश्वरी की ही प्रेरणा है। "अहमित्येव विभावये भवानीम्" वाली उक्ति का यही आशय है। सब लोग उनको जानते हैं। अंतर केवल यही है कि कुछ लोग जानते हैं कि वे जानते हैं और कुछ लोग नहीं जानते हैं कि वे जानते हैं। इतनी परिचित होने पर भी परमेश्वरी की प्रभुता और प्रभाविता में कोई अन्तर नहीं आता। सब को उनका शासन मानना पड़ता है। कुछ लोग प्यार से मानते हैं और कुछ मज़बूर होकर, लेकिन माता तो अपने सब बच्चों से अपनी बात प्यार से मनवाना चाहती हैं। "माता न कुमाता पुत्र कुपुत्र भले हो"—वाली बात श्रीमाता के सम्बन्ध में विशेष रूप से सही है।

अगला नाम है—"श्री चक्रराज निलया"। विराट् विश्व और विविक्त जीव दोनों का श्रीचक्र प्रतिनिधित्व करता है। इसलिए इसको चक्रराज कहा जाता है। यही चक्रराज राजराजेश्वरी महाराज्ञी का श्रीधाम

है। जब तक ब्रह्मांड मंडल का अखंड चक्र गतिशील, भ्रमणशील और स्फुरणशील है, तब तक श्रीमाता इस चक्रराज को अपना निवास बनाकर संसार के कण-कण में संचरण करती रहती हैं। स्वर्ग, मर्त्य और पाताल, भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक, जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति, सत्त्व, रज और तम आदि अनेक त्रितय संतति का पालन-पोषण करने-वाली श्रीमाता को इस श्लोक के अंत में श्रीमत् त्रिपुर सुंदरी कहा गया है। त्रिपुर की सश्रीकता और सुंदरता का आधार श्रीमाता स्वयं हैं। इसी सश्रीकता को शिवात्मक रूप में प्रस्तुत करते हुए श्रीललिता सहस्र-नाम का अंतिम श्लोक कहता है :

श्रीशिवा शिव शक्त्यैक्यरूपिणी ललितांबिका।
(एवं श्रीललिता देव्या नाम्नां साहस्रकं जगुः) ॥

संसार को शिवतम बनाने बाली मूल शक्ति को संक्षेप में अगर कहना हो तो केवल "श्री" कहना पर्याप्त है अथवा केवल "शिवा" कहने से भी काम चलता है। लेकिन यहां पर श्रीमाता को श्रीशिवा कहा गया है। समस्त साधना का ध्येय कैवल्यधाम की सश्रीकता और शिवात्मकता को सर्वात्मना आत्मसात् करने में है। आत्म तत्त्व को आत्मसात् करने के बाद शिव और शक्ति में कोई अंतर ही नहीं दिखाई देता। इन दोनों को एकत्र, एकीकृत और एकाकार बनाकर परम पद के अन्वेषक को अनुगृहीत करने वाली अंतरंगिणी करूणातरंगिणी को इस रहस्यनाम साहस्र का उपसंहार करने से पहले शिव शक्त्यैक्य रूपिणो कहकर हयग्रीव ने अगस्त्य के सामने परम तत्त्व का सुधा सागर ही भर कर रखा है। यही अद्वैत रसानुभूति समस्त आध्यात्मिक साधना, आराधना और उपासना का सार है।

अंतिम नाम जो कि श्रीमाता का शायद वास्तविक नाम है, 'ललितांबिका' है। ललिता शब्द में माता के सभी लक्षण समाविष्ट हैं। "लोकानतीत्य लालते ललिता तेन सोच्यते"—समस्त लोकों के ऊपर

लीला और लालित्य की मूर्ति बनकर प्रतिष्ठित होकर वह सब के अंत-र्मन को आलोकित करती हैं, खेल ही खेल में सबका पालन-पोषण करती हैं और संसार का सत्व सार बनकर अपनी सहज सात्विक सरलता से जड़ को चेतन, अंधकार को आलोक, अशिव को शिव, अमंगल को मंगल, नश्वर को अविनश्वर और नर को नारायण में बदल देती हैं। अणु-अणु में व्याप्त इस आत्मिक साम्राज्य की भावना से अगस्त्य पुलकित होकर हयग्रीव के सामने नतमस्तक और कृतकृत्य मुद्रा में अपने को भूल जाते हैं और तभी वह अपने को जानते, पहचानते और पाते हैं :—

इत्युक्त्वा श्रीहयग्रीवो ध्यात्वा श्रीललितांबिकाम्।
आनंदमग्न हृदयः सद्यः पुलकितोऽभवत्॥

—o—

न मंत्रं नो यंत्रं तदपि च न जाने स्तुतिमहो
नचाह्वानं ध्यानं तदपि च न जाने स्तुति कथाः।
न जाने मुद्रास्ते तदपि च न जाने विलपनं
परं जाने मातः त्वदनुसरणं क्लेशहरणं॥

—o—

॥ श्री चक्रं शिवयोर्वपुः ॥

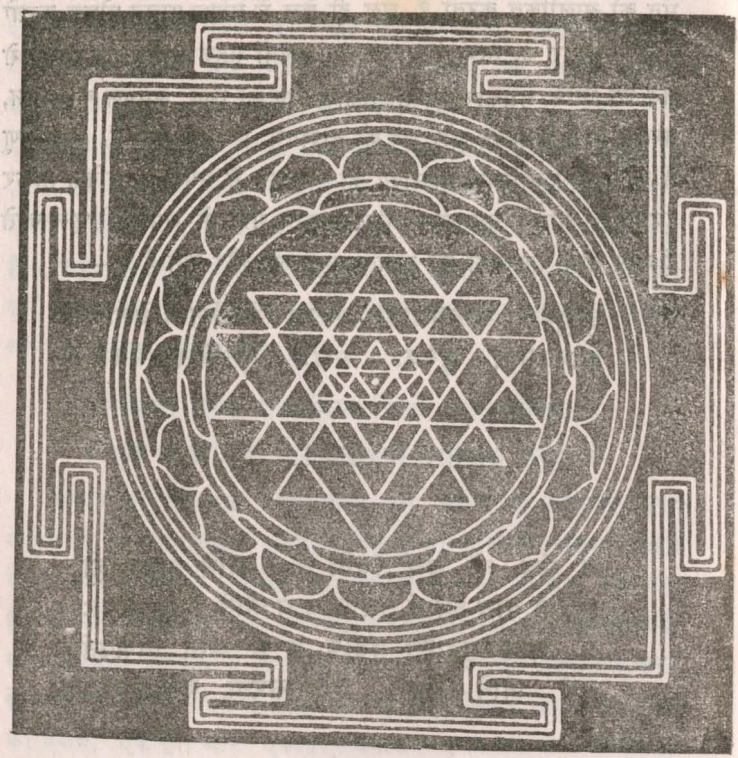

बिन्दु त्रिकोण-वसुकोण-दशारयुग्म-
मन्वश्र-नागदल-संयुत-षोडशारम् ।
वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च
श्रीचक्रमेत-दुदितं परदेवतायाः ॥

ॐ

श्रीमात्रे नमः

श्री ललिता सहस्रनाम

स्तोत्रम्

॥ ॐ ॥ श्रीमाता श्रीमहाराज्ञी श्रीमत्सिंहासनेश्वरी
चिदग्नि-कुण्ड-संभूता देवकार्य-समुद्यता ॥ 1 ॥

उद्यद्भानु-सहस्राभा चतुर्बाहु-समन्विता
रागस्वरूप-पाशाढ्या क्रोधाकारांकुशोज्ज्वला ॥ 2 ॥

मनोरूपेक्षु-कोदण्डा पंचतन्मात्र-सायका
निजारुण-प्रभापूर-मज्जद्ब्रह्माण्ड-मण्डला ॥ 3 ॥

चंपकाशोक-पुन्नाग-सौगन्धिक-लसत्कचा
कुरुविन्दमणि-श्रेणी-कनत्कोटीर-मण्डिता ॥ 4 ॥

अष्टमीचन्द्र-विभ्राज-दलिकस्थल-शोभिता
मुखचन्द्र-कलंकाभ-मृगनाभि-विशेषका ॥ 5 ॥

वदनस्मर-मांगल्य-गृहतोरण-चिल्लिका
वक्त्रलक्ष्मी परीवाह चलन्मीनाभ लोचना ॥ 6 ॥

नवचंपक पुष्पाभ नासादण्ड विराजिता
ताराकान्ति तिरस्कारि नासाभरण भासुरा ॥ 7 ॥

कदंबमंजरी क्लृप्त कर्णापूर मनोहरा
ताटंक युगली भूत तपनोडुप मण्डला ॥ 8 ॥

पद्मरागशिलादर्श परिभावि कपोलभूः
नवविद्रुम बिंबश्री न्यक्कारि रदनच्छदा ॥ 9 ॥

शुद्धविद्यांकुराकार-द्विजपंक्ति द्वयोज्ज्वला
कर्पूरवीटिकामोद समाकर्षि दिगन्तरा ॥ 10 ॥

निज संलाप माधुर्य विनिर्भर्त्सित कच्छपी
मन्दस्मित प्रभापूर मज्ज्त्कामेश मानसा ॥ 11 ॥

अनाकलित सादृश्य चिबुकश्री विराजिता
कामेश बद्ध मांगल्य सूत्र शोभित कन्धरा ॥ 12 ॥

कनकांगद केयूर कमनीय भुजान्विता
रत्नग्रैवेय चिन्ताक लोल मुक्ता फलान्विता ॥ 13 ॥

कामेश्वर प्रेमरत्न मणि प्रतिपण स्तनी
नाभ्यालवाल रोमालि लता फल कुचद्वयी ॥ 14 ॥

लक्ष्यरोम लताधारता समुन्नेय मध्यमा
स्तनभार दलन्मध्य पट्टबन्ध वलित्रया ॥ 15 ॥

अरुणारुणकौसुंभ वस्त्र भास्वत् कटीतटी
रत्न किंकिणिका रम्य रशना दाम भूषिता ॥ 16 ॥

कामेश ज्ञात सौभाग्य मार्दवोरु द्वयान्विता
माणिक्य मुकुटाकार जानुद्वय विराजिता ॥ 17 ॥

इन्द्रगोप परिक्षिप्त स्मरतूणाभ जंघिका
गूढ़गुल्फा कूर्मपृष्ठ जयिष्णु प्रपदान्विता ॥ 18 ॥

नख दीधिति संछन्न नमज्जन तमोगुणा
पदद्वय प्रभाजाल पराकृत सरोरुहा ॥ 19 ॥

शिंजान मणिमंजीर मण्डितश्री पदांबुजा
मराली मन्दगमना महालावण्य शेवधिः ॥ 20 ॥

सर्वारुणानवद्यांगी सर्वाभरण भूषिता
शिव कामेश्वरांकस्था शिवा स्वाधीन वल्लभा ॥ 21 ॥

सुमेरु मध्यश्रृंगस्था श्रीमन्नगर नायिका
चिन्तामणि गृहान्तस्था पंच ब्रह्मासन स्थिता ॥ 22 ॥

महापद्माटवी संस्था कदंबवन वासिनी
सुधासागर मध्यस्था कामाक्षी कामदायिनी ॥ 23 ॥

देवर्षि गण संघात स्तूयमानात्म वैभवा
भण्डासुर वधोद्युक्त शक्तिसेना समन्विता ॥ 24 ॥

संपत्करी समारूढ़ सिंधुर व्रज सेविता
अश्वारूढ़ाधिष्ठिताश्व कोटि कोटिभि रावृता ॥ 25 ॥

चक्रराज रथारूढ़ सर्वायुध परिष्कृता
गेयचक्र रथारूढ़ मंत्रिणी परिसेविता ॥ 26 ॥

किरिचक्र रथारूढ़ दण्डनाथा पुरस्कृता
ज्वालामालिनिकाक्षिप्त वह्निप्राकार मध्यगा ॥ 27 ॥

भण्डसैन्य वधोद्युक्त शक्ति विक्रम हर्षिता
नित्या पराक्रमाटोप निरीक्षण समुत्सुका ॥ 28 ॥

भण्डपुत्र वधोद्युक्त बाला विक्रम नन्दिता
मन्त्रिण्यंबा विरचित विषंग वध तोषिता ॥ 29 ॥

विशुक्र प्राणहरण वाराही वीर्य नंदिता
कामेश्वर मुखालोक कल्पित श्रीगणेश्वरा ॥ 30 ॥

महागणेश निर्भिन्न विघ्नयन्त्र प्रहर्षिता
भण्डासुरेन्द्र निर्मुक्त शस्त्र प्रत्यस्त्र वर्षिणी ॥ 31 ॥

करांगुलि नखोत्पन्न नारायण दशाकृतिः
महा पाशुपतास्त्राग्नि निर्दग्धासुर सैनिका ॥ 32 ॥

कामेश्वरास्त्र निर्दग्ध सभण्डासुर शून्यका
ब्रह्मोपेन्द्र महेन्द्रादि देव संस्तुत वैभवा ॥ 33 ॥

हर नेत्राग्नि संदग्ध काम संजीवनौषधिः
श्रीमद्वाग्भव कूटैक स्वरूप मुख पंकजा ॥ 34 ॥

कण्ठाधः कटि पर्यन्त मध्यकूट स्वरूपिणी
शक्तिकूटैकतापन्न कट्यधोभाग धारिणी ॥ 35 ॥

मूलमन्त्रात्मिका मूलकूटत्रय कलेबरा
कुलामृतैक रसिका कुलसंकेत पालिनी ॥ 36 ॥

कुलांगना कुलान्तस्था कौलिनी कुलयोगिनी
अकुला समयान्तस्था समयाचार तत्परा ॥ 37 ॥

मूलाधारैक निलया ब्रह्मग्रन्थि विभेदिनी
मणिपूरान्तरुदिता विष्णुग्रन्थि विभेदिनी ॥ 38 ॥

आज्ञाचक्रान्तरालस्था रुद्रग्रन्थि विभेदिनी
सहस्रारांबुजारूढा सुधासाराभिवर्षिणी ॥ 39 ॥

तटिल्लता समरुचिः षट्चक्रोपरि संस्थिता
महासक्तिः कुण्डलिनी बिसतन्तु तनीयसी ॥ 40 ॥

भवानी भावनागम्या भवारण्य कुठारिका
भद्रप्रिया भद्रमूर्ति र्भक्त सौभाग्यदायिनी ॥ 41 ॥

भक्तिप्रिया भक्तिगम्या भक्तिवश्या भयापहा
शांभवी शारदाराध्या शर्वाणी शर्मदायिनी ॥ 42 ॥

शांकरी श्रीकरी साध्वी शरच्चन्द्र निभानना
शातोदरी शान्तिमती निराधारा निरंजना ॥ 43 ॥

निर्लेपा निर्मला नित्या निराकारा निराकुला
निर्गुणा निष्कला शान्ता निष्कामा निरुपप्लवा ॥ 44 ॥

नित्यमुक्ता निर्विकारा निष्प्रपंचा निराश्रया
नित्यशुद्धा नित्यबुद्धा निरवद्या निरन्तरा ॥ 45 ॥

निष्कारणा निष्कलंका निरुपाधि निरीश्वरा
नीरागा रागमथना निर्मदा मदनाशिनी ॥ 46 ॥

निश्चिन्ता निरहंकारा निर्मोहा मोहनाशिनी
निर्ममा ममताहन्त्री निष्पापा पापनाशिनी ॥ 47 ॥

निष्क्रोधा क्रोधशमनी निर्लोभा लोभनाशिनी
निःसंशया संशयघ्नी निर्भवा भवनाशिनी ॥ 48 ॥

निर्विकल्पा निराबाधा निर्भेदा भेदनाशिनी
निर्नाशा मृत्युमथनी निष्क्रिया निष्परिग्रहा ॥ 49 ॥

निस्तुला नीलचिकुरा निरपाया निरत्यया
दुर्लभा दुर्गमा दुर्गा दुःखहन्त्री सुखप्रदा ॥ 50 ॥

दुष्टदूरा दुराचारशमनी दोष वर्जिता
सर्वज्ञा सान्द्रकरुणा समानाधिक वर्जिता ॥ 51 ॥

सर्वशक्तिमयी सर्वमंगला सद्गतिप्रदा
सर्वेश्वरी सर्वमयी सर्वमन्त्रस्वरूपिणी ॥ 52 ॥

सर्वयन्त्रात्मिका सर्वतन्त्ररूपा मनोन्मनी
माहेश्वरी महादेवी महालक्ष्मी मृडप्रिया ॥ 53 ॥

महारूपा महापूज्या महापातक नाशिनी
महामाया महासत्त्वा महाशक्तिर्महारतिः ॥ 54 ॥

महाभोगा महैश्वर्या महावीर्या महाबला
महाबुद्धिर्महासिद्धिर्महायोगेश्वरेश्वरी ॥ 55 ॥

महातन्त्रा महामन्त्रा महायन्त्रा महासना
महायाग क्रमाराध्या महाभैरव पूजिता ॥ 56 ॥

महेश्वर महाकल्प महाताण्डव साक्षिणी
महाकामेश महिषी महात्रिपुरसुन्दरी ॥ 57 ॥

चतुष्षष्ट्युपचाराढ्या चतुष्षष्टिकलामयी
महाचतुः षष्टिकोटि योगिनी गणसेविता ॥ 58 ॥

मनुविद्या चन्द्रविद्या चन्द्रमण्डल मध्यगा
चारुरूपा चारुहासा चारुचन्द्र कलाधरा ॥ 59 ॥

चराचर जगन्नाथा चक्रराज निकेतना
पार्वती पद्मनयना पद्मराग समप्रभा ॥ 60 ॥

पंचप्रेतासनासीना पंचब्रह्मस्वरूपिणी
चिन्मयी परमानन्दा विज्ञानघनरूपिणी ॥ 61 ॥

ध्यान ध्यातृ ध्येयरूपा धर्माधर्म विवर्जिता
विश्वरूपा जागरिणी स्वपन्ती तैजसात्मिका ॥ 62 ॥

सुप्ता प्राज्ञात्मिका तुर्या सर्वावस्था विवर्जिता
सृष्टिकर्त्री ब्रह्मरूपा गोप्त्री गोविन्दरूपिणी ॥ 63 ॥

संहारिणी रुद्ररूपा तिरोधानकरीश्वरी
सदाशिवानुग्रहदा पंचकृत्यपरायणा ॥ 64 ॥

भानुमण्डल मध्यस्था भैरवी भगमालिनी
पद्मासना भगवती पद्मनाभ सहोदरी ॥ 65 ॥

उन्मेष निमिषोत्पन्न विपन्न भुवनावली
सहस्रशीर्षवदना सहस्राक्षी सहस्रपात् ॥ 66 ॥

आब्रह्म कीट जननी वर्णाश्रम विधायिनी
निजाज्ञारूप निगमा पुण्यापुण्य फलप्रदा ॥ 67 ॥

श्रुति सीमन्त सिन्दूरी कृत पादाब्जधूलिका
सकलागम संदोह शुक्ति संपुट मौक्तिका ॥ 68 ॥

पुरुषार्थप्रदा पूर्णा भोगिनी भुवनेश्वरी
अंबिकानादि-निधना हरिब्रह्मेन्द्र सेविता ॥ 69 ॥

नारायणी नादरूपा नामरूप विवर्जिता
ह्रींकारी ह्रीमती हृद्या हेयोपादेय वर्जिता ॥ 70 ॥

राजराजार्चिता राज्ञी रम्या राजीव लोचना
रंजनी रमणी रस्या रणत्किकिणि मेखला ॥ 71 ॥

रमा राकेन्दु वदना रतिरूपा रतिप्रिया
रक्षाकरी राक्षसघ्नी रामा रमणलंपटा ॥ 72 ॥

काम्या कामकलारूपा कदंब कुसुम प्रिया
कल्याणी जगती कन्दा करुणा रस सागरा ॥ 73 ॥

कलावती कलालापा कान्ता कादंबरी प्रिया
वरदा वामनयना वारुणी मद विह्वला ॥ 74 ॥

विश्वाधिका वेदवेद्या विन्ध्याचल निवासिनी
विधात्री वेदजननी विष्णुमाया विलासिनी ॥ 75 ॥

क्षेत्रस्वरूपा क्षेत्रेशी क्षेत्र क्षेत्रज्ञ पालिनी
क्षयवृद्धि विनिर्मुक्ता क्षेत्रपाल समर्चिता ॥ 76 ॥

विजया विमला वन्द्या वन्दारु जन वत्सला
वाग्वादिनी वामकेशी वह्निमण्डल वासिनी ॥ 77 ॥

भक्तिमत् कल्पलतिका पशुपाश विमोचिनी
संहृताशेष पाषण्डा सदाचार प्रवर्तिका ॥ 78 ॥

तापत्रयाग्नि संतप्त समाह्लादन चन्द्रिका
तरुणी तापसाराध्या तनुमध्या तमोऽपहा ॥ 79 ॥

चितिस्तत्पद लक्ष्यार्था चिदेकरस रूपिणी
स्वात्मानन्द लवीभूत ब्रह्माद्यानन्द सन्ततिः । 80 ॥

परा प्रत्यक् चितीरूपा पश्यन्ती परदेवता
मध्यमा वैखरी रूपा भक्त मानस हंसिका ॥ 81 ॥

कामेश्वर प्राणनाडी कृतज्ञा कामपूजिता
श्रृंगार रस संपूर्णा जया जालंधर स्थिता ॥ 82 ॥

ओड्याण पीठ निलया बिन्दु मण्डलवासिनी
रहोयाग क्रमाराध्या रहस्तर्पण तर्पिता ॥ 83 ॥

सद्यः प्रसादिनी विश्वसाक्षिणी साक्षिवर्जिता
षडंगदेवता युक्ता षाड्गुण्य परिपूरिता ॥ 84 ॥

नित्य क्लिन्ना निरुपमा निर्वाण सुखदायिनी
नित्याषोडशिका रूपा श्रीकण्ठार्धशरीरिणी ॥ 85 ॥

प्रभावती प्रभारूपा प्रसिद्धा परमेश्वरी
मूलप्रकृति रव्यक्ता व्यक्ताव्यक्त स्वरूपिणी ॥ 86 ॥

व्यापिनी विविधाकारा विद्याविद्या स्वरूपिणी
महाकामेश नयन कुमुदाह्लाद कौमुदी ॥ 87 ॥

भक्त हार्द तमो भेद भानुमद्भानु सन्ततिः
शिवदूती शिवाराध्या शिवमूर्तिः शिवंकरी ॥ 88 ॥

शिवप्रिया शिवपरा शिष्टेष्टा शिष्टपूजिता
अप्रमेया स्वप्रकाशा मनो वाचामगोचरा ॥ 89 ॥

चिच्छक्ति श्चेतना रूपा जडशक्ति र्जडात्मिका
गायत्री व्याहृतिः संध्या द्विजवृन्द निषेविता ॥ 90 ॥

तत्त्वासना तत्त्वमयी पंचकोशान्तर स्थिता
निःसीम महिमा नित्य यौवना मदशालिनी ॥ 91 ॥

मदघूर्णित रक्ताक्षी मदपाटल गण्डभूः
चन्दन द्रव दिग्धांगी चांपेय कुसुम प्रिया ॥ 92 ॥

कुशला कोमलाकारा कुरुकुल्ला कुलेश्वरी
कुलकुण्डालया कौलमार्ग तत्पर सेविता ॥ 93 ॥

कुमार गणनाथांबा तुष्टिः पुष्टिर्मतिर्धृतिः
शान्तिः स्वस्तिमती कान्तिर्नन्दिनी विघ्ननाशिनी ॥ 94 ॥

तेजोवती त्रिनयना लोलाक्षी कामरूपिणी
मालिनी हंसिनी माता मलयाचल-वासिनी ।। 95 ।।

सुमुखी नलिनी सुभ्रूः शोभना सुरनायिका
कालकण्ठी कान्तिमती क्षोभिणी सूक्ष्मरूपिणी ।। 96 ।।

वज्रेश्वरी वामदेवी वयोवस्था विवर्जिता
सिद्धेश्वरी सिद्धविद्या सिद्धमाता यशस्विनी ।। 97 ।।

विशुद्धिचक्र निलया रक्तवर्णा त्रिलोचना
खट्वांगादि प्रहरणा वदनैक समन्विता ।। 98 ।।

पायसान्न प्रिया त्वक्स्था पशुलोक भयंकरी
अमृतादि महाशक्ति संवृता डाकिनीश्वरी ।। 99 ।।

अनाहताब्ज निलया श्यामाभा वदनद्वया
दंष्ट्रोज्ज्वलाक्षमालादि धरा रुधिर संस्थिता ।। 100 ।।

कालरात्र्यादि शक्त्यौघ वृता स्निग्धौदन प्रिया
महावीरेन्द्र वरदा राकित्यंबा स्वरूपिणी ।। 101 ।।

मणिपूराब्जनिलया वदनत्रय संयुता
वज्रादिकायुधोपेता डामर्यादिभिरावृता ।। 102 ।।

रक्तवर्णा मांसनिष्ठा गुडान्न प्रीत मानसा
समस्तभक्त सुखदा लाकिन्यंबा स्वरूपिणी ।। 103 ।।

स्वाधिष्ठानांबुजगता चतुर्वक्त्र मनोहरा
शूलाद्यायुध संपन्ना पीतवर्णातिगर्विता ।। 104 ।।

मेदो निष्ठा मधुप्रीता बन्दिन्यादि समन्विता
दध्यन्नासक्त हृदया काकिनी रूप धारिणी ।। 105 ।।

मूलाधारांबुजारूढा पंचवक्त्रास्थि संस्थिता
अंकुशादि प्रहरणा वरदादि निषेविता ।। 106 ।।

मुद्गौदनासक्त चित्ता साकिन्यंबास्वरूपिणी
आज्ञा चक्राब्ज निलया शुक्लवर्णा षडानना ॥ 107 ॥

मज्जा संस्था हंसवती मुख्य शक्ति समन्विता
हरिद्रान्नैक रसिका हाकिनी रूप धारिणी ॥ 108 ॥

सहस्रदल पद्मस्था सर्व वर्णोपशोभिता
सर्वायुधधरा शुक्लसंस्थिता सर्वतोमुखी ॥ 109 ॥

सर्वौदन प्रीतचित्ता याकिन्यंबा स्वरूपिणी
स्वाहा स्वधा मति र्मेधा श्रुति स्मृतिरनुत्तमा ॥ 110 ॥

पुण्यकीर्तिः पुण्यलभ्या पुण्यश्रवण कीर्तना
पुलोमजार्चिता बन्धमोचनी बर्बरालका ॥ 111 ॥

विमर्शरूपिणी विद्या वियदादि जगत्प्रसूः
सर्वव्याधि प्रशमनी सर्वमृत्यु निवारिणी ॥ 112 ॥

अग्रगण्याचिन्त्यरूपा कलिकल्मष नाशिनी
कात्यायनी कालहन्त्री कमलाक्ष निषेविता ॥ 113 ॥

तांबूल पूरित मुखी दाडिमी कुसुम प्रभा
मृगाक्षी मोहिनी मुख्या मृडानी मित्ररूपिणी ॥ 114 ॥

नित्य तृप्ता भक्तनिधि र्नियन्त्री निखिलेश्वरी
मैत्र्यादि वासनालभ्या महा प्रलय साक्षिणी ॥ 115 ॥

पराशक्तिः परानिष्ठा प्रज्ञानघन रूपिणी
माध्वीपानालसा मत्ता मातृका वर्ण रूपिणी ॥ 116 ॥

महाकैलास निलया मृणाल मृदु दोर्लता
महनीया दयामूर्ति र्महासाम्राज्य शालिनी ॥ 117 ॥

आत्मविद्या महाविद्या श्रीविद्या कामसेविता
श्रीषोडशाक्षरीविद्या त्रिकूटा कामकोटिका ॥ 118 ॥

कटाक्ष किंकरी भूत कमला कोटि सेविता
शिरःस्थिता चन्द्रनिभा भालस्थेन्द्र धनुः प्रभा ॥ 119 ॥

हृदयस्था रविप्रख्या त्रिकोणान्तर दीपिका
दाक्षायणी दैत्यहन्त्री दक्षयज्ञविनाशिनी ॥ 120 ॥

दरान्दोलित दीर्घाक्षी दरहासोज्ज्वलन्मुखी
गुरु मूर्ति र्गुणनिधि र्गोमाता गुहजन्म भूः ॥ 121 ॥

देवेशी दण्डनीतिस्था दहराकाशरूपिणी
प्रतिपन्मुख्य राकान्त तिथि मण्डल पूजिता ॥ 122 ॥

कलात्मिका कलानाथा काव्यालाप विनोदिनी
सचामर रमा वाणी सव्य दक्षिण सेविता ॥ 123 ॥

आदिशक्ति रमेयाऽत्मा परमा पावनाकृतिः
अनेककोटि ब्रह्माण्ड जननी दिव्य विग्रहा ॥ 124 ॥

क्लींकारी केवला गुह्या कैवल्य पद दायिनी
त्रिपुरा त्रिजगद्वन्द्या त्रिमूर्ति स्त्रिदशेश्वरी ॥ 125 ॥

त्र्यक्षरी दिव्य गन्धाढ्या सिन्दूर तिलकांचिता
उमा शैलेन्द्रतनया गौरी गन्धर्व सेविता ॥ 126 ॥

विश्वगर्भा स्वर्णगर्भा वरदा वागधीश्वरी
ध्यानगम्याऽपरिच्छेद्या ज्ञानदा ज्ञानविग्रहा ॥ 127 ॥

सर्व वेदान्त संवेद्या सत्यानन्द स्वरूपिणी
लोपामुद्रार्चिता लीलाक्लृप्त ब्रह्माण्ड मण्डला ॥ 128 ॥

अदृश्या दृश्यरहिता विज्ञात्री वेद्य वर्जिता
योगिनी योगदा योग्या योगानन्दा युगन्धरा ॥ 129 ॥

इच्छाशक्ति ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति स्वरूपिणी
सर्वाधारा सुप्रतिष्ठा सदसद्रूप धारिणी ॥ 130 ॥

अष्टमूर्ति रजाजैत्री लोकयात्रा विधायिनी
एकाकिनी भूमरूपा निर्द्वैता द्वैतवर्जिता ॥ 131 ॥

अन्नदा वसुदा वृद्धा ब्रह्मात्मैक्य स्वरूपिणी
बृहती ब्राह्मणी ब्राह्मी ब्रह्मानन्दा बलिप्रिया ॥ 132 ॥

भाषारूपा बृहत्सेना भावाभाव विवर्जिता
सुखाराध्या शुभकरी शोभना सुलभागतिः ॥ 133 ॥

राजराजेश्वरी राज्यदायिनी राज्यवल्लभा
राजत्कृपा राजपीठ निवेशित निजाश्रिता ॥ 134 ॥

राज्यलक्ष्मीः कोशनाथा चतुरंग बलेश्वरी
साम्राज्य दायिनी सत्यसन्धा सागरमेखला ॥ 135 ॥

दीक्षिता दैत्यशमनी सर्वलोकवशंकरी
सर्वार्थदात्री सावित्री सच्चिदानन्द रूपिणी ॥ 136 ॥

देशकालापरिच्छिन्ना सर्वगा सर्वमोहिनी
सरस्वती शास्त्रमयी गुहांबा गुह्यरूपिणी ॥ 137 ॥

सर्वोपाधि विनिर्मुक्ता सदाशिव पतिव्रता
संप्रदायेश्वरी साध्वी गुरुमण्डल रूपिणी ॥ 138 ॥

कुलोत्तीर्णा भगाराध्या माया मधुमती मही
गणांबा गुह्यकाराध्या कोमलांगी गुरुप्रिया ॥ 139 ॥

स्वतन्त्रा सर्वतन्त्रेशी दक्षिणामूर्तिरूपिणी
सनकादि समाराध्या शिवज्ञान-प्रदायिनी ॥ 140 ॥

चित्कलानन्दकलिका प्रेमरूपा प्रियंकरी
नामपारायण प्रीता नन्दिविद्या नटेश्वरी ॥ 141 ॥

मिथ्याजगदधिष्ठाना मुक्तिदा मुक्तिरूपिणी
लास्यप्रिया लयकरी लज्जा रंभादिवन्दिता ॥ 142 ॥

भवदाव सुधावृष्टिः पापारण्य दवानला
दौर्भाग्य तूलवातूला जराध्वान्तरविप्रभा ॥ 143 ॥

भाग्याब्धि चन्द्रिका भक्त चित्त केकि घनाघना
रोगपर्वत दंभोलि मृत्युदारु कुठारिका ॥ 144 ॥

महेश्वरी महाकाली महाग्रासा महाशना
अपर्णा चण्डिका चण्डमुण्डासुर निषूदिनी ॥ 145 ॥

क्षराक्षरात्मिका सर्वलोकेशी विश्वधारिणी
त्रिवर्गदात्री सुभगा त्र्यंबका त्रिगुणात्मिका ॥ 146 ॥

स्वर्गापवर्गदा शुद्धा जपापुष्प निभाकृतिः
ओजोवती द्युतिधरा यज्ञरूपा प्रियव्रता ॥ 147 ॥

दुराराध्या दुराधर्षा पाटली कुसुम प्रिया
महती मेरु निलया मन्दार कुसुम प्रिया ॥ 148 ॥

वीराराध्या विराड्रूपा विरजा विश्वतोमुखी
प्रत्यग् रूपा पराकाशा प्राणदा प्राणरूपिणी ॥ 149 ॥

मार्ताण्ड भैरवाराध्या मन्त्रिणी न्यस्त राज्यधूः
त्रिपुरेशी जयत्सेना निस्त्रैगुण्या परापरा ॥ 150 ॥

सत्यज्ञानानन्द रूपा सामरस्य परायणा
कर्पदिनी कलामाला कामधुक् काम रूपिणी ॥ 151 ॥

कलानिधिः काव्यकला रसज्ञा रसशेवधिः
पुष्टा पुरातना पूज्या पुष्करा पुष्करेक्षणा ॥ 152 ॥

परंज्योतिः परंधाम परमाणुः परात्परा
पाशहस्ता पाशहन्त्री परमन्त्र विभेदिनी ॥ 153 ॥

मूर्तामूर्ता नित्यतृप्ता मुनिमानस हंसिका
सत्यव्रता सत्यरूपा सर्वान्तर्यामिणी सती ॥ 154 ॥

ब्रह्माणी ब्रह्मजननी बहुरूपा बुधार्चिता
प्रसवित्री प्रचण्डाज्ञा प्रतिष्ठा प्रकटाकृतिः ॥ 155 ॥

प्राणेश्वरी प्राणदात्री पंचाशत्पीठरूपिणी
विशृंखला विविक्तस्था वीरमाता वियत्प्रसूः ॥ 156 ॥

मुकुन्दा मुक्तिनिलया मूलविग्रह रूपिणी
भावज्ञा भवरोगघ्नी भवचक्र प्रवर्तिनी ॥ 157 ॥

छन्दः सारा शास्त्रसारा मन्त्रसारा तलोदरी
उदारकीर्ति रुद्दामवैभवा वर्णरूपिणी ॥ 158 ॥

जन्ममृत्यु जरातप्त जन विश्रान्ति दायिनी
सर्वोपनिषदुद्घुष्टा शान्त्यतीत कलात्मिका ॥ 159 ॥

गंभीरा गगनान्तस्था गर्विता गानलोलुपा
कल्पना रहिता काष्ठा कान्ता कान्तार्ध विग्रहा ॥ 160 ॥

कार्यकारण निर्मुक्ता कामकेलि तरंगिता
कनत्कनक ताटंका लीला विग्रह धारिणी ॥ 161 ॥

अजा क्षयविनिर्मुक्ता मुग्धा क्षिप्र प्रसादिनी
अन्तर्मुख समाराध्या बहिर्मुख सुदुर्लभा ॥ 162 ॥

त्रयी त्रिवर्ग निलया त्रिस्था त्रिपुर मालिनी
निरामया निरालंबा स्वात्मारामा सुधासृतिः ॥ 163 ॥

संसारपंक निर्मग्न समुद्धरण पण्डिता
यज्ञप्रिया यज्ञकर्त्री यजमान स्वरूपिणी ॥ 164 ॥

धर्माधारा धनाध्यक्षा धनधान्य विवर्द्धिनी
विप्रप्रिया विप्ररूपा विश्वभ्रमण कारिणी ॥ 165 ॥

विश्वग्रासा विद्रुमाभा वैष्णवी विष्णुरूपिणी
अयोनिर्योनि निलया कूटस्था कुलरूपिणी ॥ 166 ॥

वीरगोष्ठीप्रिया वीरा नैष्कर्म्या नादरूपिणी
विज्ञानकलना कल्या विदग्धा बैन्दवासना ॥ 167 ॥

तत्त्वाधिका तत्त्वमयी तत्त्वमर्थ स्वरूपिणी
सामगान प्रिया सौम्या सदाशिव कुटुंबिनी ॥ 168 ॥

सव्यापसव्य मार्गस्था सर्वापद्विनिवारिणी
स्वस्था स्वभावमधुरा धीरा धीरसमर्चिता ॥ 169 ॥

चैतन्यार्घ्य समाराध्या चैतन्य कुसुमप्रिया
सदोदिता सदातुष्टा तरुणादित्य पाटला ॥ 170 ॥

दक्षिणा दक्षिणाराध्या दरस्मेर मुखांबुजा
कौलिनी केवलानर्घ्य कैवल्य पद दायिनी ॥ 171 ॥

स्तोत्र प्रिया स्तुतिमती श्रुति संस्तुत वैभवा
मनस्विनी मानवती महेशी मंगलाकृतिः ॥ 172 ॥

विश्वमाता जगद्धात्री विशालाक्षी विरागिणी
प्रगल्भा परमोदारा परामोदा मनोमयी ॥ 173 ॥

व्योमकेशी विमानस्था वज्रिणी वामकेश्वरी
पंचयज्ञ प्रिया पंचप्रेत मंचाधिशायिनी ॥ 174 ॥

पंचमी पंचभूतेशी पंचसंख्योपचारिणी
शाश्वती शाश्वतैश्वर्या शर्मदा शंभुमोहिनी ॥ 175 ॥

धरा धरसुता धन्या धर्मिणी धर्मवर्द्धिनी
लोकातीता गुणातीता सर्वातीता शमात्मिका ॥ 176 ॥

बन्धूक कुसुम प्रख्या बाला लीला विनोदिनी
सुमंगली सुखकरी सुवेषाढ्या सुवासिनी ॥ 177 ॥

सुवासिन्यर्चन प्रीता शोभना शुद्ध मानसा
बिन्दु तर्पण संतुष्टा पूर्वजा त्रिपुरांबिका ॥ 178 ॥

दशमुद्रा समाराध्या त्रिपुराश्रीवशंकरी
ज्ञानमुद्रा ज्ञानगम्या ज्ञानज्ञेय स्वरूपिणी ॥ 179 ॥

योनिमुद्रा त्रिखण्डेशी त्रिगुणांम्बा त्रिकोणगा
अनघाद्भुत चारित्रा वांछितार्थ प्रदायिनी ॥ 180 ॥

अभ्यासातिशय ज्ञाता षडध्वातीत रूपिणी
अव्याज करुणा मूर्ति रज्ञान ध्वान्त दीपिका ॥ 181 ॥

आबाल गोप विदिता सर्वानुल्लंध्य शासना
श्रीचक्रराज निलया श्रीमत् त्रिपुरसुन्दरी ॥ 182 ॥

श्रीशिवा शिव-शक्त्यैक्य रूपिणी ललितांबिका
[एवं श्री ललिता देव्या नाम्नां साहस्रकं जगुः ॥ 183 ॥

इत्युक्त्वा श्री हयग्रीवो ध्यात्वा श्री ललितांबिकां
आनंद मग्न हृदयः सद्यः पुलकितोऽभवत् ॥] 184 ॥

इति श्रीब्रह्मांडपुराणे उत्तरखण्डे श्रीहयग्रीवागस्त्य संवादे
श्रीललितासहस्रनाम-स्तोत्र-कथनं संपूर्णम् ॥